UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182908

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP —902—26-3-70— 5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No H80 2

Accession No P. G. H. 360

Author H66 -

Title

This book should be returned on or before the date last marked below

हिन्दी वार्षिकी : १९६२

हिन्दी वार्षिकी : १९६२

[हिन्दी साहित्य की वार्षिक प्रगति का मूल्यांकन करने वाली पुस्तक-पत्रिका]

अंक ३

प्रधान सम्पादक

नगेन्द्र

भारती साहित्य मन्दिर

फव्वारा, दिल्ली

भारती साहित्य मन्दिर
(एस० चन्द एण्ड कम्पनी से सम्बद्ध)

रामनगर	नयी दिल्ली
फव्वारा	दिल्ली
माई हीरां गेट	जालन्धर
हज़रतगज	लखनऊ
लैमिंग्टन रोड	बम्बई
गणेशचन्द्र ऐवेन्यू	कलकत्ता

मूल्य . १० ००

भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा दिल्ली द्वारा प्रकाशित
एव राजेन्द्रा प्रिंटर्स, रामनगर, नयी दिल्ली द्वारा मुद्रित।

परामर्श-समिति

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
डॉ० दीनदयालु गुप्त
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
श्री सुमित्रानन्दन पन्त
डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर'
डॉ० हरवंशलाल शर्मा

सम्पादक-मण्डल

हिन्दी साहित्य की प्रगति	डॉ० सावित्री सिन्हा डा० देवीशंकर अवस्थी
श्रेष्ठ प्रकाशन	डॉ० विजयेन्द्र स्नातक डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त
हिन्दी में शोध-कार्य	डॉ० दशरथ ओझा डॉ० सत्यदेव चौधरी
हिन्दीतर भारतीय भाषाओं की गतिविधि	डा० ओमप्रकाश श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

प्रबन्ध-सम्पादक

डॉ० सत्यदेव चौधरी

विषय-क्रम

सम्पादकीय

खण्ड : १ हिन्दी-साहित्य की प्रगति पृ स

हिन्दी-कविता	१९६२	श्री नरेन्द्र शर्मा	१
हिन्दी-नाटक	१९६२	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	१६
हिन्दी-उपन्यास	१९६२	श्री भारतभूषण अग्रवाल	२२
हिन्दी-कहानी	१९६२	श्री मोहनसिंह सेंगर	३२
हिन्दी-आलोचना	१९६२	डॉ० बच्चनसिंह	४२
विविध साहित्य	१९६२	डॉ० गोपाल शर्मा	५०

खण्ड २ श्रेष्ठ प्रकाशन

समीक्षित पुस्तक	पुस्तक-लेखक	पुस्तक-समीक्षक	
वृत्र-सहार	श्री हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय अनु०—स्व० मैथिलीशरण गुप्त	श्री भवानीप्रसाद मिश्र	६१
रगो से मोह	भगवतीचरण वर्मा	डॉ० हरिवशराय 'बच्चन'	६८
चार खेमे चौसठ खूँटे	डॉ० हरिवशराय बच्चन	डॉ० शिवमगलसिह 'सुमन'	७२
सशय की एक रात	श्री नरेश मेहता	डॉ० कैलाश वाजपेयी	८०
सात प्रहसन	श्री उदयशकर भट्ट	डॉ० दशरथ ओझा	८३
रात-रानी	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	डॉ० सुरेश अवस्थी	८६
शुभदा	आचार्य चतुरसेन शास्त्री	डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त	८९
सामर्थ्य और सीमा	श्री भगवतीचरण वर्मा	श्री महेन्द्र चतुर्वेदी	९३
'दूखन लागे नैन' और 'टूटा टी सैट'	प० भगवतीप्रसाद वाजपेयी	डॉ० श्रीनारायण अग्निहोत्री	९८
आखिरी आवाज	डॉ० रागेय राघव	श्री० सत्यपाल चुघ	१०३
सच बोलने की भूल	श्री यशपाल	श्री अजितकुमार	१०८
छोटे-छोटे ताजमहल	श्री राजेन्द्र यादव	श्री मुद्राराक्षस	११२
मीठा पेड कडवा फल	प० सुदर्शन	श्री चन्द्रगुप्त विद्यालकार	११६
समय के पाँव	प० माखनलाल चतुर्वेदी	डॉ० जगदीश गुप्त	१२०
आँगन का पछी और बनजारा मन	श्री विद्यानिवास मिश्र	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	१२७
शिखरो का सेतु	श्री शिवप्रसाद सिह	श्री विष्णुकान्त शास्त्री	१३०
चित्रकला का रसास्वादन	प्रो० रामचन्द्र शुक्ल	डॉ० राय आनन्दकृष्ण	१३६

समीक्षित पुस्तक	पुस्तक-लेखक	पुस्तक-समीक्षक	पृ० सं०
पूर्व और पश्चिम कुछ विचार	डॉ० राधाकृष्णन् अनु०—श्री रमेश वर्मा	डॉ० रामानन्द तिवारी	१३९
उपमा कालिदासस्य	डॉ० शशिभूषणदास गुप्त	डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी	१४३
काव्यालकार	आचार्य भामह, भाष्यकार— प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा	डॉ० सत्यदेव चौधरी	१४८
रासो साहित्य विमर्श	डॉ० माताप्रसाद गुप्त	डॉ० दशरथ शर्मा	१५३
राउलवेल और उसकी भाषा	सम्पा०—डॉ० माताप्रसाद गुप्त	डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया	१५९
सभा शृ गार	सम्पा०—अगरचन्द नाहटा	डॉ० भोलाशकर व्यास	१६४
चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य	श्री प्रभुदयाल मीतल	डॉ० शरणबिहारी गोस्वामी	१६८
कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ	डॉ० नगेन्द्र	डॉ० कन्हैयालाल सहल	१७२
प्रेमचन्द कलम का सिपाही	श्री अमृतराय	श्री प्रकाशचन्द गुप्त	१७७
ब्रजभाषा और खडी बोली का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया	डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम	१८३
हिन्दी साहित्य (प्रथमखण्ड—भूमिका)	सम्पा०—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा	डॉ० विपिनबिहारी द्विवेदी	१८८
पञ्जाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास	श्री चन्द्रकान्त बाली	डॉ० ओम्प्रकाश शर्मा	१९१
काशी का इतिहास	डॉ० मोतीचन्द्र	डॉ० राजबली पाण्डेय	१९७
समय और हम	श्री जैनेन्द्र कुमार	डॉ० विजयेन्द्र स्नातक	२०३
खण्ड ३	शोध-कार्य		
रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन	डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त	डॉ० तारकनाथ बाली	२११
बुद्धकालीन भारतीय भूगोल	डॉ० भरतसिह उपाध्याय	डॉ० वासुदेव उपाध्याय	२१६
वीसलदेवरासो	डॉ० तारकनाथ अग्रवाल	श्री अगरचन्द्र नाहटा	२२०
कबीर ग्रन्थावली	सम्पा०—डॉ० पारसनाथ तिवारी	प० कृष्णशकर शुक्ल	२२७
हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्त-काव्य	डॉ० प्रभाकर माचवे	डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत	२३२
सूरसागर-शब्दावली	डॉ० निर्मला सक्सेना	डॉ० प्रेमनारायण टडन	२३६
ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य मे माधुर्य भक्ति	डॉ० रूपनारायण	डॉ० सरनामसिह शर्मा	२३९
तुलसीदास व्यक्तित्व, दर्शन, साहित्य	डॉ० रामदत्त भारद्वाज	श्री कैलाशचन्द मिश्र	२४२

समीक्षित पुस्तक	पुस्तक-लेखक	पुस्तक-समीक्षक	पृ० स०
रामचरितमानस का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन	डॉ० राजकुमार पाण्डेय	डॉ० रामसागर त्रिपाठी	२४६
तुलसी की काव्यकला	डॉ० भाग्यवतीसिह	डॉ० मनमोहन गौतम	२५१
काव्य और सगीत का पारस्परिक सम्बन्ध	डॉ० उमा मिश्रा	डॉ० चन्द्रशेखर पन्त	२५५
हिन्दी भक्ति-शृंगार का स्वरूप अलोचनात्मक परिचय	डॉ० मिथिलेश कान्ति	डॉ० रूपनारायण	२५७
नया हिन्दी-काव्य	डॉ० शिवकुमार मिश्र	डॉ० रामदरश मिश्र	२६१
आधुनिक हिन्दी कविता मे अलकार-विधान	डॉ० जगदीशनारायण त्रिपाठी	डॉ० ओम्प्रकाश शर्मा	२६७
हिन्दी के स्वच्छन्दता-वादी नाटक	डॉ० दशरथ सिह	डॉ० देवर्षि सनाढ्य	२७२
प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास	डॉ० कैलाश प्रकाश	डॉ० रणवीर राग्रा	२७७
हिन्दी उपन्यास · समाज-शास्त्रीय अध्ययन	डॉ० चण्डीप्रसाद जोशी	डॉ० पद्मसिह शर्मा 'कमलेश'	२८३
हिन्दी साहित्य मे काव्य-रूपो के प्रयोग	डॉ० शकरदेव अवतरे	डॉ० प्रेमशकर	२८७
आधुनिक हिन्दी साहित्य मे समालोचना का विकास	डॉ० वेकट शर्मा	डॉ० जयचन्द्र राय	२९२
हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा	डॉ० रामाधार शर्मा	डॉ० वेकट शर्मा	२९७
आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका	डॉ० बलभद्र तिवारी	डॉ० रमेशकुन्तल 'मेघ'	३०२
बगला पर हिन्दी का प्रभाव	डॉ० ब्रह्मानन्द	डॉ० सत्येन्द्र कुमार	३०५
कुमाउँनी लोक-साहित्य	डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय	डॉ० गुणानन्द ज्वाल	३०९
यात्रा-साहित्य का उद्भव और विकास	डॉ० सुरेन्द्र माथुर	श्री कुलभूषण	३१६
खण्ड : ४	हिन्दीतर भारतीय साहित्य		
हिन्दीतर भारतीय साहित्य	१९६२	डॉ० ओम्प्रकाश	३२३
परिशिष्ट			
समीक्षको एव समीक्षित पुस्तको के लेखको के पते			३३५

सम्पादकीय

हिन्दी वार्षिकी सन् १९६२ का अक अत्यन्त विलम्ब से निकल रहा है। किन्तु पूरी ईमानदारी के साथ आत्मनिरीक्षण करने के बाद भी हम अपने को इसके लिए अधिक दोषी नही पाते। हमने समय पर ही योजना तैयार कर कार्यारम्भ कर दिया था और कार्यालय मे सचित पत्र-राशि इस बात का प्रमाण है कि हम कितने धैर्य के साथ अथक प्रयत्न करते रहे। पर लेखको की भी अपनी विवशताएँ है—अधिकाश लेखक अपनी-अपनी योजनाओ से और कुछ अपने स्वभाव से भी प्रतिबद्ध रहते है और एक विशेष सीमा से आगे हम उनसे यह अपेक्षा नही कर सकते कि हमारी आवश्यकताओ की पूर्ति वे हमारे कार्यक्रम के अनुसार ही करे। लेखको का मोर्चा जीतने के बाद फिर मुद्रक-प्रकाशक के साथ मोर्चा लेना पडता है, जहाँ सम्पादक का समस्त बुद्धि-बल व्यावसायिक आवश्यकताओ के निरन्तर बढते हुए दबाव के आगे सर्वथा व्यर्थ हो जाता है। चूँकि वार्षिकी मे एक विशेष योजना-क्रम का निर्वाह करना पडता है, इसलिए दो-चार लेखो के बिना ही या एक लेख के स्थान पर दूसरा लेख देकर उसे प्रकाशित करना सम्भव नही होता। विलम्ब के ये ही अनिवार्य कारण है जिन्हे हम सफाई के रूप मे पेश करते हुए अपने पाठको से क्षमायाचना कर सकते है।

प्रस्तुत अक के सम्पादकीय के दो रूप हो सकते है एक तो यह कि सम्पादक अपनी ओर से १९६२ की उपलब्धियो का सर्वेक्षण करे और दूसरा यह कि सकलित सामग्री के विश्लेषण के आधार पर ही उनका मूल्याकन करे। दूसरी पद्धति सम्पादकीय धर्म के अधिक अनुकूल है। अस्तु!

कविता के क्षेत्र मे कवि नरेन्द्र शर्मा ने चार-पाँच रचनाओ का उल्लेख किया है। भगवतीचरण वर्मा का सग्रह 'रगो से मोह', बच्चन की कृति 'चार खेमे, चौसठ खूँटे', नरेश मेहता की दो रचनाएँ 'सशय की एक रात' तथा 'मेरा समर्पित एकात', और देवराज दिनेश का कविता-सग्रह 'जीवन और जवानी'। इनके अतिरिक्त दो रूपान्तर हैं—'वृत्रसहार' (अनुवादक स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त) और 'राजा ईडियस' (अनुवादक नेपाल के श्री देवेन्द्रनाथ अर्जेल)। हिन्दी नाटक की उपलब्धियाँ है, डा० लक्ष्मीनारायण लाल के अनुसार, जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' का नवीन सस्करण, जिसमे रगमच की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी सशोधन कर दिये गये है, लेखक का अपना सामाजिक नाटक 'रातरानी' तथा लोकधर्मी नाटक 'तोता-मैना' और नरेश मेहता की कृति 'खडित यात्राए'। नाट्य-समीक्षा के क्षेत्र मे डा० लाल ने डा० सुरेश अवस्थी और श्री नेमिचन्द्र जैन के योगदान को स्वीकार किया है। उपन्यास के समीक्षक श्री भारतभूषण अग्रवाल ने अपने आलोच्य विषय के प्रति अधिक सतोष व्यक्त किया है। उन्होने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक अनेक उपन्यासो को पढकर यह मत स्थिर किया है कि प्रस्तुत वर्ष मे प्रकाशित लगभग बीस उपन्यास ऐसे है जो उल्लेखनीय माने जा सकते है। उपन्यास के क्षेत्र मे परिमाण के अतिरिक्त रूप-वैविध्य को उन्होने विशेषतया रेखाकित किया है और यह निर्णय दिया

है कि 'एकाधिक अर्थों' मे प्रस्तुत वर्ष हिन्दी-उपन्यास के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण वर्ष माना जाएगा। समीक्षक का मत है कि अधिकाश उपन्यास वादो के जाल से मुक्त होकर समसामयिक जीवन की मूल्यहीनता की—जिसके दो प्रमुख पहलू है अगति और विघटन—अधिक गहरी और विशद झाँकी प्रस्तुत करते है। कहानी के समीक्षक श्री मोहनसिह सेगर को भी अपने आलोच्य के साथ सहानुभूति है। उन्होने अपने विवेचन का आधार सन् १९६२ के कहानी-सग्रहो को नही वरन् कहानियो को बनाया है। उनका मन्तव्य है कि कुल मिलाकर सख्या मे कहानियाँ शायद ज्यादा अच्छी न निकली हो, पर कोटि और प्रकार मे उन पर सन्तोष किया जा सकता है। इस वर्ष के अन्तर्गत प्रतिष्ठित लेखको मे यशपाल, चन्द्रगुप्त विद्यालकार, विष्णु प्रभाकर और मन्मथनाथ गुप्त की कहानियो का उल्लेख है और उधर कृष्णचन्द्र तथा अमृता प्रीतम की कतिपय रचनाओ का, जो हिन्दी मे प्रकाशित हुई है। इधर नये लेखको मे मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, श्रीकान्त वर्मा और हरिशकर परसाई के कृतित्व की समीक्षक ने प्रशसात्मक चर्चा की है। आलोचना के मूल्याकन मे डॉ० बच्चनसिह ने ग्रन्थो की परिगणना न कर केवल उन मूल स्वरो पर ही बल दिया है जो आलोच्य वर्ष मे उभर कर आये है—इनमे सबसे स्पष्ट स्वर है आस्था का, जिसका पोषण हिन्दी के दो सर्वथा भिन्न आलोचको ने अपने-अपने ढग से किया है।

इस वर्ष भी, हिन्दी का शोध-कार्य स्थिर गति से आगे बढा और डॉ० माताप्रसाद गुप्त का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रासो विमर्श' तथा डॉ० रामदत्त भारद्वाज का शोध-प्रबन्ध 'तुलसीदास—व्यक्तित्व दर्शन साहित्य' प्रकाशित हुए। शास्त्रीय आलोचना के क्षेत्र मे प्रो० देवेन्द्रनाथ-कृत भामह के 'काव्यालकार' का अनुवाद विशिष्ट घटना है जिससे भारतीय काव्यशास्त्र का एक आधार-ग्र थ अत्यत प्रामाणिक भूमिका के साथ हिन्दी के अध्येता को सुलभ हो गया है। ललित निबन्धो के तीन सग्रह इस वर्ष प्रकाशित हुए—प० माखनलाल चतुर्वेदी का 'समय के पाँव', श्री विद्यानिवास मिश्र का 'आँगन का पछी और बनजारा मन' तथा डॉ० शिवप्रसादसिह का 'शिखरो का सेतु'। ललित निबध लिखने की प्रवृत्ति हिन्दी मे कुछ कम होती जा रही है और इन कृतियो मे प्रस्तुत कला-रूप का निश्चय ही विकास हुआ है।

डॉ० गोपाल शर्मा ने ज्ञान के साहित्य का विवेचन करते हुए आश्वस्त भाव से कहा है कि हिन्दी का यह भाण्डार तेजी के साथ भरता जा रहा है और प्राय सभी क्षेत्रो मे कम-से-कम परिमाण की दृष्टि से अच्छा कार्य हो रहा है। सदर्भ-ग्रन्थो मे नागरी-प्रचारिणी द्वारा प्रकाशित 'विश्वकोश' का द्वितीय खण्ड और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के 'मानक हिन्दीकोश' का प्रथम खण्ड, विज्ञान मे डॉ० निहालकरण सेठी रचित 'तारा भौतिकी' और इतिहास मे डॉ० मोतीचन्द्र का 'काशी का इतिहास' उल्लेख-योग्य कृतियाँ है। इस वर्ष की एक विशेष उपलब्धि है जैनेन्द्र की रचना 'समय और हम', जिसमे उन्होने सामयिक प्रश्नो पर स्वतन्त्र और तीखे वचार व्यक्त किये हैं। इस ग्रन्थ की स्थिति रस के साहित्य और ज्ञान के साहित्य के बीच मे मानी जा सकती है। यह कृति सर्जनात्मक चिंतन का सुन्दर

उदाहरण है।

समग्र रूप मे विचार करने पर १९६२ का योगदान परिमाण और वैविध्य मे तो सतोषजनक माना ही जा सकता है, परन्तु गुण की दृष्टि से भी निराश होने का कारण नहीं है, यद्यपि किसी आकर्षक उपलब्धि की ओर आश्वस्त भाव से निर्देश नही किया जा सकता। ज्ञानात्मक साहित्य के क्षेत्र मे अन्य वर्षों की भाँति इस वर्ष भी अधिक कार्य हुआ है और 'विश्वकोश' तथा 'मानक कोश' के खण्डो का प्रकाशन वास्तव मे शुभ लक्षण है।

हिन्दी के प्रबुद्ध लेखको के सहयोग से जो आज के सभी जीवन्त दृष्टिकोणो के प्रतिनिधि हैं, वार्षिकी के माध्यम से, हम इस बात का प्रयत्न कर रहे है कि वर्ष-प्रति-वर्ष हिन्दी साहित्य की गतिविधि का सतुलित एव सर्वांगीण मूल्याकन प्रस्तुत कर सके–और, इसकी आज सबसे बडी आवश्यकता है, क्योकि लेखको का एक विशेष वर्ग जिस प्रकार सगठित प्रयत्नो द्वारा अपने पक्ष मे एकागी मूल्यो का प्रचार कर रहा है, उससे साहित्य का अहित चाहे न भी हो (क्योकि साहित्य का लक्षण ही यह है कि वह पक्ष-विपक्ष के विवादो को विफल करता हुआ आत्मसिद्धि करता है), किन्तु वातावरण अवश्य दूषित हो रहा है। यह 'वर्ग-वादी' होने से इन्कार करता हुआ भी एक ऐसे 'वाद' से ग्रस्त है जिसकी पाण्डुरोगिन्न दृष्टि को सभी कुछ पाण्डु रग का दिखाई देता है। नये लेखक की विचार-प्रक्रिया कुछ इस प्रकार चलती है "साहित्य का सही रूप वह है जो समसामयिक जीवन का निश्छल चित्रण करे और आज के जीवन का सही रूप है उसकी धुरीहीनता एव शून्यगामिनता जो सर्वव्यापी अगति तथा विघटन का परिणाम है।" मैं समझता हूँ इस प्रक्रिया मे एक नही, दो तर्क-दोष हैं। अगति और विघटन को यदि आज के जीवन की कठोर वास्तविकता मान भी लिया जाए, फिर भी उन्हे जीवन की विकृति ही मानना पडेगा, प्रकृति नही। जीवन का सत्य गति है अगति नही–निर्माण है विघटन नही। इसके अतिरिक्त केवल विघटन और अगति का ही चित्रण करने वाला साहित्य उत्तम साहित्य है, यह बात भी सही नही है। अत जीवन और साहित्य दोनो की ही उक्त परिभाषाएँ एकागी है। हम यह मानते हैं कि गति और निर्माण का अनुभव-शून्य चित्रण नीति के अन्तर्गत ही आ सकता है साहित्य के अन्तर्गत नही, जबकि अगति और विघटन का सच्चा चित्रण निश्चय ही साहित्य के अन्तर्गत आ सकता है। परन्तु इसके विपरीत अगति और विघटन का झूठा चित्रण केवल असाहित्यिक ही नही वरन् अनैतिक भी होता है। हम किसी ऐसी सफल कलाकृति को जिसमे कुण्ठा और विषाद का ईमानदारी के साथ अनुभव करके चित्रण किया गया हो, सहर्ष साहित्य मान सकते है। किन्तु सत्साहित्य केवल यही है या आज सत्साहित्य का एकमात्र रूप यही हो सकता है—इस प्रकार के प्रवादो को हम आत्मप्रवञ्चना मानते है।

इस आत्मप्रवञ्चना से जो मुक्त रहना चाहते है, उनके लिए स्वस्थ वातावरण की आवश्यकता है जिसके निर्माण मे योगदान करना प्रत्येक उत्तरदायी साहित्यकार और सस्थान का कर्तव्य है।

—नगेन्द्र

हिन्दी साहित्य की प्रगति

हिन्दी कविता : १९६२

श्री नरेन्द्र शर्मा

ईसवी सन् उन्नीस सौ बासठ की अन्तिम तिमाही मे बीस अक्तूबर के दिन चीन की लाल फौज ने भारत पर आक्रमण किया और वह एक मास तक हमारे सीमावर्ती क्षेत्रो मे बढती रही। भारत के भाव-समुद्र का उतरा हुआ पानी, ज्वार बन कर, फिर चढ आया। चीनी सैनिक-शक्ति के सम्मुख भारत की भाव-शक्ति उठ कर खडी हो गई और आशा बधी कि सचमुच एक जाग्रत हृत्पिड भारत के वक्ष स्थल मे फिर धडकन लगेगा। युद्ध थम गया, धडकन होती रही। पर वह प्रतिक्रिया थी, क्रिया नही। और हम फिर अपनी मानस-प्रक्रिया मे उलझ गये।

जैसे कविता-सग्रह के पूरे हो जाने के बाद ही भूमिका लिखी जाती है, वैसे ही मैने वर्ष के अन्तिम चरण के विषय मे कुछ कह कर—भूमिका रूप मे—वर्ष भर की पुस्तकाकार प्रकाशित कविता का आशिक ब्यौरा देना चाहा है। इस बहाने मैने यह भी कह देना चाहा है कि जिस कविता का मै परिचय देना चाहता हू, वह भाव-ज्वार की नही, भाव-भाटा की द्योतक है। आने वाले भाव-ज्वार की कविता रूप विधा की दृष्टि से उत्कृष्ट सिद्ध हुई, मै नही कहता। और इसलिये मै यह भी नही कहगा कि भाव के उतार की कविता उससे घट कर है। आशय केवल इतना है कि जिस कविता का मै ब्यौरा देने बैठा हू, वह भारतीय मानस की सश्लिष्ट शक्ति, भावोन्नयन या सामूहिक ओज-तेज-आनन्द की कविता न होकर वैयक्तिक ऊहापोह, प्रमीलित अनुभूति और तटस्थ टिम-टिम दीपो की ज्योति-धूम-राशि है। ग्राम्य प्रयोग क्षम्य हो, तो कहूगा कि यहा अपनी-अपनी डफली ओर अपना-अपना राग है। मानता हू कि जड-मूक हो जाने से तो यही अच्छा है।

यह भी स्पष्ट कर देना चाहिये कि ब्यौरा उन्नीस सौ बासठ की कविता का नही, उस वर्ष मे पुस्तकाकार प्रकाशित कविता का है, जो सभवत विगत वर्षो की उपज हो सकती है, ओर है। आशिक ब्यौरे के हेतु मैने केवल कुछ पुस्तके ली है।

रगो से मोह

श्री भगवतीचरण वर्मा का कविता-सग्रह "रगो से मोह" इस प्रस्तावना के साथ आया है "एक बहुत लम्बे अरसे के बाद मै अपनी कविताओ का यह सग्रह हिन्दी-साहित्य मे प्रस्तुत कर रहा हूँ। वैसे मैने अपना साहित्यिक जीवन कवि की हैसियत से आरम्भ किया है, पर आज मै भूल-सा गया हू कि मै कवि हूँ। मै पहले ही कह चुका हू कि यह युग कविता का नही है। कविता को अपने को पुन स्थापित करना पडेगा

भावनात्मक अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे। मै न इतना समर्थ हूँ और न इतना सक्षम हूँ कि यह कर सकूँ। पर मुझे पूरा विश्वास है कि कविता को भावनात्मक क्षेत्र मे पुन स्थापित करने वाले कवि या कवियो की परम्परा मिटेगी नही, वह निकट भविष्य मे आयेगी। पुन स्थापना के पहले कविता को जैसे-तैसे जीवित रखने का क्षीण प्रयत्न मै कर रहा हूँ—इस बात को ध्यान मे रख कर मेरी कविताएँ पढी जाये, मेरी केवल इतनी प्रार्थना है।"

कविताएँ ध्यान से पढी नही जाती, यह इस युग का परम दुर्भाग्य है। ज्ञान-वर्द्धक, सूचना-प्रधान, मनोरजक और बहुत-सा साहित्य आज पढा जाता है, पर कविता नही पढी जाती। कविता और पाटक के बीच भावो का आदान-प्रदान बहुत कम हो गया है। आज कविता जीवन से प्रभावित भले ही हो, जीवन को प्रभावित नही करती। कवि अपने समाज का उपयोगी सदस्य नही रह गया है। हमारे उपयोगितावादी जीवन-दर्शन का यह दूषण है। आज की कविता पर इसकी प्रतिक्रिया हुई है। अनेक सज्ञाशील कवियो को ऐसा लगता है जैसे कवि के नाते उनकी हेटी हो रही है, राजपुरुप या राजनेता या सफल व्यापारी या इन सब के और इनमे से किसी के कृपापात्र के रूप मे भले ही वह विशिष्ट व्यक्ति बन जाये। परिणाम यह होता है कि कवि को अपने कवि-कार्य मे भी रुचि नही रह जाती।

"जब तुम कहते हो कि मैं लिखू,
मेरे कवि की कुचली आत्मा
भर कर ठढा निश्वास एक,
तब हो जाती है मर्माहत।"

भगवती बाबू की ये पक्तियाँ कवि की मन स्थिति को प्रकट करती है।

सम्भव है कविता का कोई पारखी कहे कि आज की कविता मे जब सत या सार रह ही नही गया है, तो क्यो वह उसके प्रति सहृदय हो। उत्तर मे भगवती बाबू उपेक्षा की राख मे दबी हुई भावनाप्रधान कविता की चिन्गारी के बारे मे कहते है —

"नजर तुम्हारी जाली है,
सिक्का तो टकसाली है!
इस सिक्के को गढा प्रकृति ने है इस धरती की माटी से।
इस सिक्के को गढा पुरुष ने अपनी ही परिपाटी से।
इस सिक्के पर अक पडे है स्वयम् नियति के हाथो से,
यह सिक्का तो चलता आया जन्म-मरण की घाटी से।
इसे बजाओ, यह गाता है
गीत खुशी के मातम के,
इस सिक्के में दोष देखना

केवल खाम-खयाली है ।
सिक्का तो टकसाली है ।"

बाह्य वस्तु-स्थिति के प्रति कवि ने जहाँ अपना कवि-सापेक्ष दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है,वहाँ वह अन्तर्बाह्य मानव-जगत् को एक इकाई मान कर सब की ओर से पीड़ा का भी अनुभव करता है । आज जीवन-यात्रा ही कुछ ऐसी हो गई है—

"ऊँची-नीची-सँकरी
पथरीली राहो पर
चलना है बहुत कठिन, पिंडली भर जाती है ।
और धौंकनी-सी बन-बन जाती छाती है ।
बाहर आलोकित रवि है, शशि है, तारे हैं ,
हम अपने अन्दर अधियारे से हारे हैं ।"

भगवती बाबू मानव की सामर्थ्य और सीमाओ को जानते है और सामर्थ्य के कारण विचार-वाणी मे प्रखर और उग्र तथा आचरण और मानवीय सबधो मे उदार और सहनशील है । कवि के नाते वे आस्थावान् और आस्तिक है । नियति और प्रकृति को मनुष्य के खिलौने न मान कर, वे मनुष्य को ही इनका खिलौना मानते है । अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप वे मनुष्यो के अपने-अपने नियत कर्म और उद्योग के भी विश्वासी है । इसी नाते वे अपने आपको और दूसरे अपने मानव-बन्धुओ को समझाते है —

"देखो, सोचो, समझो, सुनो, गुनो औ' जानो !
इसको, उसको, सभव हो निज को पहचानो !
लेकिन अपना चेहरा जैसा है रहने दो !
जीवन की धारा में अपने को बहने दो !
तुम जो कुछ हो वही रहोगे, मेरी मानो !"

भगवती बाबू अपने खरेपन मे गर्वीले और स्वाभिमानी व्यक्ति है और प्रकृति के बल को भी वे पहचानते है

"समर्थ जब मनुष्य कह उठा कि आज मान दो, मुझे महान मान दो !
प्रकृति पुकार तब उठी—अरे कि शीश-दान दो, समर्थ, शीश-दान दो !"

पूर्ण आस्था से पूर्ण समर्पण का सकल्प कवि के मन मे घर कर गया है । अपने भाव, कर्म और अस्तित्व को कवि ने आस्था और निश्चय के साथ महती शक्ति को अर्पित कर दिया है । किन्तु वह महती शक्ति के मन्दिर मे ही बन्द होकर बैठ गया हो, सो बात नही । बाज़ार की सैर भी कवि ने की है, वैसे ही जैसे कबीर लकुटिया हाथ मे लिये हुए

कभी वहाँ खडे हुए होगे या अपने टट्टू पर सवार होकर नजीर अकबराबादी वहाँ से गुजरे होगे। उन दोनो की शैली को भी भगवती बाबू ने यत्र-तत्र अपनाया है।

रगो से मोह कविता मे भगवती बाबू बोली-ठोली के कवि और जीवन के दार्शनिक के रूप मे उपस्थित हुए है।

मुझको रगो से मोह, नहीं फूलो से !
मुझको धारा से प्रीति, नही कूलो से !
मै कलियो से भयभीत नही शूलो से !
जो सीमा से सकुचित और लाछित है—
मै उसी ज्ञान से त्रस्त, नही भूलो से !

और भी कई प्रकार की कविताए यहा सगृहीत है। प्रेम-काव्य के सयोग और वियोग रूपी उभय पक्षो को लेकर कई सुन्दर प्रगीत है। विनोद और व्यग्य से भरी कई चुटकियाँ भी है।

चार खेमे, चौसठ खूटे

बच्चन अपने अनवरत कवि-कार्य और उसके अनवरुद्ध क्रम के प्रति आश्वस्त है "मुझ से नई रचना पाना आपके लिए कोई नई बात नही रह गई। १९३२ से १९६२, तीस वर्ष, इतने वर्षों मे इतनी पुस्तके तो आपके सामने आ चुकी होगी।" फिर भी न कवि को अपनी पुस्तक-सख्या का मोह है और न अपने स्पृहणीय कवि-कार्य का घमड है। यह बडी बात है और बच्चन के प्रेमी पाठक उसके अकेले इस गुण पर भी गर्व कर सकते है। पर बच्चन के विकासशील व्यक्तित्व के गुण यही तक सीमित नही है। क्या भाव, क्या भाषा, क्या शिल्प, क्या शैली, कवि ने मजिल-दर-मजिल बहुत लम्बी यात्रा की है। एक दिन कवि को लहरो का निमत्रण मिला था और उसने कहा था "तीर पर कैसे रुकूँ मै, आज लहरो का निमत्रण।" और आज भी उसका नारा है "चल बजारे, तुझे निमत्रित करती धरती नई, नया ही आसमान ! चल, बजारे।"

मजिल-दर-मजिल चलने वाले के कुछ पडाव भी होते हे और वहाँ "खेमे राम" और "खूटे चद" उसे याद आते है, उसके काम आते है। प्रस्तुत सग्रह बच्चन की काव्य-यात्रा मे एक खास पडाव है।

बच्चन की काव्य-यात्रा का विस्तार, अपनाए हुए खेमे से अपने खेमो तक, बहुत बडा है। अपनी यात्रा मे कवि बहुतो को साथ लेकर चला है या यो कहे कि बच्चन हर पडाव पर बडी-बडी भीड इकट्ठा करते रहे है। अब जिस पडाव पर वे पहुच गये है, वहा भीड उनके साथ नही है। बच्चन ने भीड के अदाकार अदीब के रूप मे काव्य के मच पर पदार्पण किया था। भीड ने समझा बच्चन उसके अपने कवि है। कवि को भी शायद लगता था भीड उसकी अपनी है। पर अब दोनो का भ्रम दूर होने लगा है। बच्चन अभिनेता

नही आत्मा-मन-प्राण-रूपी अपने सार्थ के नेता थे। उन्हे अपनी मजिल तक पहुचना इष्ट था। भीड मे बिलम कर, भीड का होकर राह मे रुक जाना उनका उद्देश्य न था।

दैहिक-ऐहिक की सीमाओ मे आज बच्चन की मनीषा रुकी रहना नही चाहती। देह भी कवि के लिए प्रभु का मन्दिर बन गई है "प्रभु-मन्दिर यह देह, री!" ऐहिक सीमाओ के पार कवि की उडान है। "शब्द के आकाश पर उडता रहा, पदचिन्ह पखो पर मिलेगे।"

कवि-कर्म मे अपनी प्रासगिक और सामयिक उपलब्धियो का धनी बन कर स्वयसन्तुष्ट कवि बने रह कर, बच्चन अपने मुँह या दूसरो के मुँह मियाँ मिट्ठू बने, मच पर बैठे नही रहना चाहते —

".....और मै ऐसी मन स्थिति से
नही सतुष्ट,
जो कुछ उठे, उमडे, परेशान करे,
उसे मै शब्द-छदोबद्ध कर के
बैठ जाऊ ,
और जीवन बीत जाये
गीत अपने गुनगुनाते,
या कि औरो को सुनाते।"

अपने और औरो के बीच जो तादात्म्य बच्चन बहुत दिनो तक स्थापित किये रहे, वह अब टूट गया है। अब कवि को अगमचेता होने का अनुभव हुआ है, दुनिया बहु-विधि और बहुधा सुगमचेता रहना चाहती है। पर कवि को अपने इस अनुभव से सन्तोष है "मै तो बहुत दिनो पर चेता।"

अपनी जीवन-सहचरी से (उससे जिसका हाथ हाथ मे लेकर कभी हारा-थका एकाकी नये उत्साह से आगे बढा था) आज और भी आगे बढ कर कवि कहता है

"अब हमे सकोच क्यो हो
मानने में,
अब शिखर ऐसा
कि हम-तुम
एक दूजे को नहीं पर्याप्त,
कोई तीसरा ही
हाथ मेरा औ' तुम्हारा गहे।"

बच्चन की पूर्ववर्त्तिनी यात्राए प्रवृत्ति से परिचालित बाह्योन्मुखी थी। पर अब निवृत्ति की दिशा मे अन्तरोन्मुखी होने लगी है। बाहरी काँटो को कवि ने नगे पाँवो कुचल

डाला था। पर अब भीतरी काँटो की अनुभूति मन मे घर करने लगी है —

"भीतरी काँटे उगे है
और भीतर चुभ रहे है
और भीतर ही पडेगा दर्द सहना,
दूसरो से व्यर्थ कहना,
बाहरी ही नहीं,
जीवन मागता है
भीतरी भी बल !"

बच्चन को अब अपने भीतरी बल की भी थाह मिलने लगी है

"मैंने दर्द को सहा, दबाया,
दर्द मेरा दास हो गया !"

कवि की यह नयी सामर्थ्य (बाहरी शक्ति का परिचय तो हमे बहुत दिनो से था) हमे प्रभावित करती है। पर कवि के प्रति हमारी शुभकामना है कि वह अपने बल से अनभिज्ञ रहे। वह उसमे स्वय प्रभावित न हो, तो और अच्छा हो। भीमसेन महाबली थे, पर भोले थे। महावीर मारुति दर्द रूपी राम के दास थे, दर्द को उन्होने अपना दास नही बनाया था। रूप-गर्विता नारी और दर्द-गर्वी कवि इक्कीस से उन्नीस हो जाने का जोखिम उठाते है।

बच्चन की नई काव्य-प्रवृत्ति मे कुछ ऐसे दोष भी आ रहे है, जिनके प्रति उन्हे सावधान और सतर्क रहना चाहिये। वह दोष है, (१) भाषा, अभिव्यक्ति और अनुभूति पर अधिकार कर लेने की भावना, जिसके कारण वे इन तत्त्वो के प्रति अधीरता से काम लेने के दोषी हो जाते है और यो इनकी अवज्ञा कर बैठते है (बात कुछ वैसी ही है, जैसी कि अतिपरिचय से पैदा होती है।), (२) उन्नयन-भाव से आदोलित मानस के जल को वे ठहरने नही देते कि जल निथरे और निखरे और सूर्य-चन्द्र तारिकाओ का बिम्ब ग्रहण करे, (३) जैसे अधिकारी होने के भाव से माध्यम की कवि अवज्ञा करने लगा है, वैसे ही रसग्राही ग्राहक के प्रति वह पार्थक्य का भाव मन मे पनपा चुका है (कदाचित् कवि को अब अपना मचीय पूर्वरूप अरुचिकर लगता है और विपर्ययवश अब वह मनीषी-रूप मे रहना चाहता है), (४) बच्चन व्यजना मे भी "आखर थोडे" की अनिवार्यता को भूल जाते है, और (५) मत्र को वे अपौरुषेय भाव से या स्वयम्भू लिग की भाति स्वयमेव उभरने नही देते, वरन् उसके निर्माता, निर्याता, धाता और विधाता बने रहना चाहते है। सौ बातो की एक बात यह है कि बच्चन वहाँ पहुँच कर भी अपने आपको भूल नही पाते, जहाँ अपना भान ही नही रहता।

मेरा मन्तव्य बच्चन की पहुँच के महत्त्व को कम करना नही है। उनकी कविता की कील अब दिल्ली की किल्ली की भाति ढिल्ली नही है। वे आश्वस्त है। उनके काव्य का खूँटा आकाश मे ध्रुव हो गया है

"और ओ जो तुम
गडे आकाश में हो,
मै तुम्हारी ओर से बेफिक्र ज्यादा।
कील अबर में सरलता से न गडती ;
गड गई तो कभी टस से मस न होती।"

"त्रिभगिमा" की लोकगीत-भगिमा भी एक खेमे मे सुरक्षित है, कुछ और पनप कर पीन होकर। इस दिशा मे बच्चन के प्रयोग सराहनीय है। मध्यवर्ग के शिक्षित कवि लोकजीवन से रचनात्मक सहानुभूति रक्खे तो प्रयत्न सराहनीय ही कहा जायगा। किन्तु प्रयोग वही, जो प्रयोग मे आये ओर यथास्थान। इन लोकधुनाश्रयी रचनाओ का स्थान लोक-जीवन मे है, पर वहाँ तक अभी इनकी पहुच नही है। पहुच न हो सकने का एक कारण मध्यवर्ग और बहुजनसमाज के बीच वास्तविक सहजीवन का अभाव भी है। दूसरा कारण कदाचित् यह है कि हिन्दी मे लोकरजन का अपना कोई मच नही। कवि सम्मेलन मे लोकसगीत का प्रस्तुतीकरण नया भले ही लगे, नियमित नही होता और इसलिए रसाभास और व्याघात उपस्थित करता है।

बच्चन का वर्तमान काव्य किसी नई और बडी उपलब्धि का पूर्वाभास देता और यह भी सिद्ध करता है कि वह किसी सधिकाल और दो दिशाओ की मिलन-रेखा के पास मे निकल रहा है।

सशय की एक रात

अपनी निश्चयात्मिका विजय से पहले श्रीराम सशय की एक रात बिताते है। रात के बाद प्रभात होता है, सशय मिट जाता है और राम व्यष्टि से समष्टि, वैयक्तिक दु खभोक्ता से निर्वैयक्तिक निर्णायक बन जाते है।

प्रस्तुत पद्य-रूपक के राम प्रयोगवादी बुद्धिजीवी है। अवतार को अवतरण करना ही पडता है। और अवतरण-क्रम मे वे सशय की एक रात के धरातल तक उतर आये है—कदाचित् इस उद्देश्य से कि वे उक्त धरातल पर रहने वाले सशयात्मा बुद्धिजीवी विशिष्ट जन का उद्धार कर सके।

सशयात्मा बुद्धिजीवी की अभिव्यक्ति भी विशेष प्रकार की होती है—विरलत्व, पृथकत्व लिए हुए। उसकी वैयक्तिक समस्याए इतनी अपनी होती है कि उसे अपने बाहर हर व्यक्ति और वस्तु से अलगाव का अनुभव होता है। भीतर भी व्यक्ति राम द्विधाभक्त है

"दो सत्य
दो सकल्प
दो दो आस्थायें
व्यक्ति मे ही
अप्रमाणित व्यक्ति पैदा हो रहा है
कौन जाने
अप्रमाणित व्यक्ति में भी
अन्य आसित हो ।
क्या हो
क्या न हो कि बालू में
किसी पाखीपख-से टूटे हुए
सदर्भ खडित
निष्प्रयोजित ! !"

"सशय की एक रात" के राम कुछ-कुछ हैमलेट बन गये है। सोलहवे वर्ष मे योग-वाशिष्ठ की शिक्षा-दीक्षा लेकर, राम निर्वेद का जो केचुल छोड चुके थे, शायद उस म्लान और जीर्ण-शीर्ण केचुल को उन्होने पुन धारण कर लिया है। निदान फिर जब नये सूर्योदय के साथ उनके मन मे निश्चय का नया भावोदय होता है, तब वे निर्वैयक्तिक शान्त भावावेश मे कह उठते है

"अब मै निर्णय हू
सबका
अपना नहीं ।"

भावाभास कुछ-कुछ वैसा ही है, जैसा कि किसी नये कवि का भावोद्‌गार

"अब मै नव कवि हूं--
अपना नहीं
सब का !"

सब का होकर भी कवि की भाति ही चरित-नायक भी अतत अपना ही रहता है

"शांत हो
ओ सूर्यतपी मेरी शिला ! शात हो।

सूर्य कोई शिला नहीं
तपस्या है अग्नि की ।"

कुछ ऊपर से उद्धरण ले । अपनी शिला के प्रति —

"तुम केवल उपजीव्या सूर्य की ।
तुम्हारा वैश्वानर धाम नहीं ।
तुम्हारे अग्निवृक्ष में
पृथिवी के लिए
कोई दिन अकुरित नहीं ।
कोई धूप भी विस्तरित नही
सूर्य गया
धूप गयी
उष्ण रेतस भी नहीं रहा ।
तुम्हारे अतस उतरे
दिन भर के सूर्य ने
तुम्हारा पाथरत्व नही स्वीकारा ।
तेजस वह लौट गया
तुम क्रमश फिर शिला हो गयी ।
... .
. ... . .
अनत सूर्यों को
एक सभावना की तरह
घटित हो जाने दो
अपने पाथरत्व मे ।
सभव है
ओ शिला !
वह घटना ही सूर्यत्व दे जाए ।
... ...
. . . .
शात हो ।
ओ सूर्यतपी मेरी शिला ! शात हो ।
शात हो
तुम स्वयम् सूर्य नही थी ।"

ये राम वे राम नही है, जिनके चरण-स्पर्श से एक शिला पुन ऋषिपत्नी बनी थी, क्योकि "प्रस्तुत कृति मे राम, आधुनिक प्रज्ञा का प्रतिनिधित्व करते है।" कृतिकार ने समझ-बूझ कर यह चुनौती स्वीकार की है कि क्या हिन्दी-मानस के जाने-माने राम को नई कविता का राम बनाया जा सकता है। हम निष्णात कलावत कृतिकार के साहस और करतब की सराहना करते है। पर हम राम को हैमलेट बनाने के कायल नही है। गगा उलटी नही बहायी जा सकती। गगा जहा सागर से मिलती है, वहाँ से कोई नया बादल उठे, आकाश मे छाये और टूट कर बरस पडे, तभी नदी मे नया पानी बहेगा। बहाव यो ही नया हो सकता है, प्रतीप होकर नही।

शक्ति-पूजा के राम, बादल-राग-गायक के राम, प्रवाहित गगा के अनुकूल हुए, एक नई तरग बन कर आये। सशयात्मा राम और शक्ति-पूजक राम मे बडा अन्तर है। सशयात्मा राम 'विकल्पमयी बालुवेला' को देखते है और शक्ति-पूजक सकल्प को चुनौती देने वाले 'गर्जितोर्मि सागर' को।

सशय की एक रात का कथ्य असगत और निर्बल है, कहने का ढग (शिल्प, शब्द-चयन और गति-सचालन) सधा हुआ है।

मेरा समर्पित एकात

नरेश मेहता के इस कविता-सग्रह मे दो तरह की कविताएँ है, एक वे जो कवि-हृदय के पात्र मे बाह्य विश्व को समेट लेना चाहती है और दूसरी वह (वास्तव मे वह एकमात्र लम्बी कविता "समय देवता" है) जो कवि के हृदय-पात्र को बाह्य विश्व के लिये खजाल कर उँडेल देना चाहती है। सग्रह नयी कविता का है, जो इस प्रकार विज्ञापित है "नयी कविता को गौरव, सस्कार, विचार, सौन्दर्य तथा सम्मान दिलाने वालो मे श्री नरेश मेहता शीर्ष पक्ति मे है। 'वनपाखी सुनो', 'बोलने दो चीड को' तथा 'सशय की एक रात' कृतियो के बाद इस नये काव्य-सकलन की प्रमुख विशेषता यह है कि इसके प्रथम खड का जो एकात-बोध है उसका सामाजिक प्रयोजन है तथा द्वितीय खड की "समय देवता" की सामाजिक दृष्टि का काव्य-सबधी एकात प्रयोजन है। छायावाद के बाद इस काव्य की उपलब्धि ने सिद्ध कर दिया है कि नयी कविता न केवल वर्त्तमान ही है वरन् हिन्दी-काव्य का भविष्य भी है।"

ऐसी विज्ञप्ति के बाद आलोचक का कार्य बहुत कठिन हो जाता है। हाँ मे हाँ मिलाये तो धर्म जाता है और ना-नुकर करे तो वर्त्तमान और भविष्य के द्रोह का पाप लगता है। इसलिये तटस्थ भाव से कवि की मनोभूमि का दिग्दर्शन करा देना ही अलम् है।

"सूखी नदी के दु ख" मे दुखी होकर कवि का अन्तिम प्रेरणा-वाक्य है

"जन्म लो ओ नदी के पुत्र !
जन्म लो।"

पढ कर मन मे जिज्ञासा जागती है कि नदी के पुत्र वे कौन है? नदी के द्वीप या

नई कविता के कृती ? जो भी हो, वे जन्म ले, फूले-फले हमारी कामना है।

नरेश मेहता अपने भाव-चयन, शब्द-चयन, पक्ति-विभाजन और मुद्रण-विन्यास मे अनूठेपन के हेल-मेल से अपनी कविता मे जो नयापन लाते है, वह इस सग्रह मे सर्वत्र द्रष्टव्य है। कुछेक कविताएँ रस-बोध-दायिनी भी है, जैसे "एक सध्या-वर्षा" और अधवट तक "धूप की पवित्रता" जो आपे के आरोपण के कारण अन्त तक नही निभ सकी।

भाव-रिक्त अपने आप का आरोप, रस-कल्प से कतराव मे विकल्प का ठहराव, अनूठेपन के आवरण मे पुनरुक्ति-दोष और पानी को बिलोने पर भी विरलत्व का मोह नई कविता के ये चार दोष है, जिन्हे नई कविता के कृती उसका रीति-अलकार मान बैठे है—वैसे ही जैसे कोई कहे—'खिचडी तेरे चार यार, दही, पापड, घी, अचार।'

"इतिहास के दावेदार" कविता मे नरेश मेहता ने अहजन्य कुठा का अगूठा दिखाने वाली नई कविता को ठीक-ठीक पहचाना है। सभवत नयी कविता के कृतियो को चित्रित करते हुए ही वे कहते है

"नित्य बैठे हुए कहवाघरो में
हम अपने अह के गुब्बारे
दूसरो के आकाश में उडाते हुए
प्रतिस्पर्धित होते थे।
ईर्ष्या हमारे नाखुनो में उगी रहती थी।
हम सब
अपने विरोधियो के नाम तक
इतिहास से मिटा देने के लिए
छुपी ब्लेडो का समझौता करने में
रत रहते।
नामो की मिटी स्याहिया
हमारी उपलब्धिया थी।
. .. .
. . . .
साहित्य के इतिहास को नकशा बना
नेपोलियन मुद्रा में
झडी वाली पिनो से
अपने को
अपने बन्धुओ को स्थापित करते
प्रदेशजयी भाव से सन्तुष्ट थे।"

बस हम ही हम का भाव नयी कविता की सभावनाओ को बहुत सीमित कर देता है, वरना प्रतिभा, लगन और जानकारी का कच्चा माल नयी कविता के पेट मे सदा छिपा रहता है ।

नाजुकख्याली, शब्दो की खिलवाड और शोखी-भरी भावुकता, जो मध्ययुगीन मनोवृत्ति और रसाभास का द्योतन करती है, वह सब भी नई कविता मे यत्र-तत्र आ जाती है। आयात (इपोर्ट) की मालियत, सजावट की शैली और अदाएँ भी झूठी प्रतिष्ठा के मोह से जूठन की ओर प्रेरित करती है । फेन को फैलाना अधिकाश नई कविता की विशेषता है। नई कविता मे जो श्रेष्ठ है, वह खरी कविता है।

"समय देवता" कविता अब काल-क्रम मे पुरानी पड गई है। कवि का भी ऐसा ही विचार है। इसलिए कथ्य की अपेक्षा अब कथन की शैली का ही अधिक महत्त्व है। सध्या के चित्र से कविता आरम्भ होती है

"सोने की वह मेघ-चील
अपने चमकीले पखो मे ले अधकार
अब बैठ गई दिन के अडे पर।
नदी-वधू की नथ का मोती
चील ले गयी ।
गगन-नीड से
सूरज-ग्वाला हाक रहा है
दिन की गाये ।
नभ का नीलापन चुप है
दिशि के कधो पर सिर धर ।
इस उतराई मार्ग
दिवस के सैन्धव नतशिर उतरे
सधे चरण से,
चमक रही पीले बालो वाली अयाल
उनके गर्दन की ।"

सभव है चित्र की मेघ-चील ही सध्या है, जो दिनमणि-रूपी अडे पर बैठ गई है। नदी की चमक जो वधू-रूपी नदी के नथ का मोती है, उसे चील नोच ले गई है। पर सूरज ग्वाला अब दिन की गायो को कैसे हाँक ले जायगा ? वह अस्ताचल पर धरा हुआ दिन का अडा है, जिस पर चील बैठी है। रूपक मे असगति आ गई है। दूसरे के अडे पर चील क्यो बैठ गई है ?--यह प्रश्न हम न उठायेगे। पर "उतराई मार्ग" मे उतराई शब्द का प्रयोग समझ मे नही आता। उतराई नदी के उस पार जाने की दी जाती है। उतराई मार्ग उतार का मार्ग नही है।

नई कविता के लिये भी कुछ पुरानी समीचीन रीतियाँ उपयोग साध्य है।

वृत्र-सहार--- (बगला से अनूदित महाकाव्य)

"मधुप" उपनाम से राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने "मेघनाद-वध" की भाति ही बगला भाषा के एक और महाकाव्य का अनुवाद "वृत्र-सहार" नाम से किया है। अनुवाद का आरम्भ तो कई बरस पहले कर दिया गया था, पर पूरा उसे प्रकाशन-वर्ष मे ही किया गया। महाकाव्य मे चौबीस सर्ग है। कथा यो तो पौराणिक है, पर कथावस्तु मे इन्दुबाला जैसे मानवता-सापेक्ष नारी चरित्र की भी सृष्टि की गई है। वह वृत्र की पुत्रवधू है, पर अपने चरित्र मे किसी भी दिव्य कुलवधू से घट कर नही है। उसका उदार सदाशय हृदय मानवी आदर्श भी प्रस्तुत करता है।

इन्द्र की जो दुर्दशा वेदोत्तर पोराणिक और भक्ति-साहित्य मे है, वह इन्द्र के विपद्ग्रस्त होते हुए भी, यहाँ दिखाई नही देती। वृत्र-सहार श्लाघनीय वीरकाव्य का उदाहरण है और अनुवाद तो ऐसे काव्यानुवादो के लिये आदर्श प्रस्तुत करता है।

अतुकान्त अक्षरमात्रिक छद का प्रवाह अटूट है ओर मूल का निर्वाह करने मे पूर्णत समर्थ है। मूल को यदा-कदा सुधारा ओर सभाला भी गया है।

गुप्त जी का अनुवाद-कार्य आलोचना का विषय नही है, पठनीय ओर अनुकरणीय है। चीन-भारत-द्वद्व के सदर्भ मे, देवासुर-सग्राम के इस महत्त्वपूर्ण अश को पढना अत्यन्त लाभदायक है। वृत्रासुर की भाँति ही लाल चीन हमारी सरिताओ और सस्कृतियो के पुण्य स्रोत को अवरुद्ध करने के लिए हिमालय को दबाये हुए है। भारत का क्षात्रधर्म इन्द्र की तरह वज्रायुध बने, यह परमावश्यक है।

राजा ईडिपस---(यवन नाटक का हिन्दीकरण)

नेपाल के देवेन्द्रराज अर्जेल हिन्दी के प्रतिभाशाली लेखक और सुशिक्षित अध्येता है। गद्य और पद्य पर उनका समान रूप से अधिकार है। सोफोक्लीज के प्रसिद्ध दु खात नाटक का हिन्दी अनुवाद करके उन्होने महत्त्व का कार्य पूरा किया है।

"भाषान्तरकार एक नेपाली-भाषी है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सास्कृतिक मैत्री मे उसे अगाध श्रद्धा होने के कारण, उसने राजा ईडिपस का हिन्दी-भाषातर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।" देवेन्द्रराज जी अर्जेल के वक्तव्य का यह अश ध्यान देने योग्य है। हिन्दी जगत् उनकी कृति का स्वागत करेगा और भविष्य मे भी उनके सहयोग की अपेक्षा रक्खेगा, ऐसी आशा है।

अनुवादक ने अनिबद्ध छद का आश्रय लिया है और अपरिचित सास्कृतिक सदर्भो के गर्भ से निकला हुआ ईडिपस नाटक हिन्दी मे प्रस्तुत किया है। अपरिचित सदर्भो के कारण नाटक को पढते समय अनेक कठिनाइयाँ सामने आती है, जिन्हे यवन-गाथाओ का परिचय प्राप्त करके शनै-शनै दूर किया जा सकता है।

देवेन्द्रराज जी के कार्य का हम हृदय से अभिनन्दन करते है।

जीवन और जवानी—(कविता-सग्रह)

देवराज दिनेश सचमुच ही जीवन और जवानी के कवि है। जीवन का प्रवाह और जवानी, अल्हड मस्ती इनकी कविता के गुण है। कविता मे किसी भी वाद की रीतिबद्धता नही है। कुठा का नाम नही—नाम है तो उसका निराकरण करने के लिए।

देवराज दिनेश का जीवन सघर्षों के बीच, जीवन-सागर मे नैया खेते बीत रहा है—

"जीवन की नैया का चतुर खिवैया मै
भव-सागर मे नाव बढाये जाता हू।
मै जब बालक था तब इन तूफानो ने
मेरा प्यारा माझी यहाँ डुबोया था।
कोई नाव न मुझे सहारा देती थी,
मै तब हिचकी भर-भर रोया था।
पर उस माझी की मुझ पर यह करुणा थी,
मुझे तैरना उसने खूब सिखाया था।
और उसी साहस के बल पर मै, साथी,
तूफानो को चीर किनारे, आया था।
उस दिन से ही अपने जीवन की नैया,
भव-सागर की छाती पर तैराता हू!"

जीवन का कोमल भाव-पक्ष भी अछूता नही है —

"रात आधी जा चुकी है, दूर है सपने।
और पथी गा रहा है गीत जीवन का
वेदनामय स्वर बताता हाल तन मन का
थक चुकी है राह, पर राही थके कैसे
ढूढने है आज दुनियाँ में उसे अपने।
रात आधी जा चुकी है, दूर है सपने॥"

कवि कही अपने आप को भीड मे अकेला भी पाता है और अपना परिचय इस रूप मे भी देता है—

"अधरो पर खिलते हास सभी के परिचित है,
अतर के छालो का तो सब को ज्ञान नहीं।

मेरी जीती बाजी को हार बताते हैं,
मेरी हारो को जीत समझ हरषाते हैं,
इस पर भी बनते हैं मेरे मन के साथी,
सखि, जिनको रोदन गायन की पहचान नही ।।

जीवन से जूझते हुए, मचो पर गीत सुनाते हुए, स्वाभिमानी स्वतन्त्र नागरिक की हैसियत से जनवादी जनप्रिय यह कवि अपने मार्ग पर अग्रसर है।

हिन्दी नाटक : १९६२

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

किसी भाषा, समाज और देश मे महत्त्वपूर्ण-श्रेष्ठ नाटक क्यो और किन प्रेरणाओ से लिखे-रचे जाते है ? सब से मूलभूत और बडा कारण और प्रेरणा है सृजन की आतरिक शक्ति, बल्कि सृजन की आतरिक विवशता । ऐसी कि बिना उसे लिखे, रचे वह लेखक रह नही सकता । इसके पीछे मूल स्वर यह है कि नाटककार को जब इस बात की आवश्यकता अनुभूत होती है कि वह अपने समाज की विवेक बुद्धि, पीडा, उसकी सामाजिक चिन्तन धारा, और व्यक्ति के मन प्राण को दर्पण दिखाये । इसका एक जीवन्त विश्लेषण प्रस्तुत करे ।

इन्ही तत्त्वो को श्रेष्ठ नये नाट्य-लेखन का 'मोटिफ' कहते है । इन्ही का सृजन-फल है—प्रकृत सामाजिक नाटक । जिसका सूत्र चाहे इतिहास से लिया गया हो, चाहे पुराण, लोककथा या वर्तमान समाज से । जिसका शिल्प चाहे अपने लोक नाट्य से लिया गया हो, चाहे काव्यात्मक हो, अथवा प्रयोगात्मक । यह है आधुनिक नाटक का प्रसग !

एक प्रेरणा कारण और भी है ! समसामयिक, प्रयोगात्मक रगमच की रचना की माग । उसे एक नया अर्थबोध, नया परिप्रेक्ष्य और नया प्रसग देने की आतरिक विवशता । कलात्मक उद्देश्य । ताकि नाटककार का अपना समय, उसकी अपनी दृष्टि, उसका नया प्रसग, युग के समक्ष अपना सशक्त दर्पण दिखा सके ।

यह है आधुनिक रगमच का धरातल !

उसकी सबल भूमिका !

इस प्रसग, इस धरातल, इस भूमिका से हमारा समूचा भारतीय नाट्य-लेखन एक बडी ही विचित्र स्थिति मे है । यह सब कुछ है, पर यह कहा तक आधुनिक है, यह चिन्त्य है ।

विशेषकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद, निश्चित रूप से हिन्दी-लेखन—कहानी, उपन्यास, कविता मे स्पष्ट आधुनिकता है । उसकी अर्थवत्ता है । पर इस अनुपात मे केवल नाट्य-लेखन मे ही यह आधुनिकता क्यो नही है ?

यह बात जब मै कह रहा हू तो मेरे सामने हिन्दी का नाट्य-लेखन तो है ही, बगला, मराठी, गुजराती, उडिया, असमी, पजाबी और दक्षिण आदि भाषाओ का भी नाट्य-लेखन मेरी दृष्टि मे है । सब पर समान रूप से वही मेलोड्रमिटिक छाप, वही पारसी थियेटर का "हैगओवर", वही पृथ्वी थियेटर की कृत्रिमता, तडक-भडक, और वही

फार्मूलावादी नाट्य-रूप--फिल्मी हथकंडो, प्रभावो से ओतप्रोत !

यह है हमारा भारतीय नाटक !

स्वभावत इसी के अनुरूप यही है हमारा वर्तमान रंगमंच !

इस रोग, व्याधि की जड कहा है ? क्यो है ? कैसे है ? वस्तुत यह रोग हमारे देश के आधुनिक युग के रंगमंच विकास के मूल मे ही है। 'क्योकि रंगमंच का जो नया उत्थान आज से सौ दो सौ वर्ष पूर्व यहा हुआ, वह बहुत कुछ बाह्य परिस्थितियो के कारण, ऊपर से आरोपित, विदेशी अनुकरण मे हुआ। मूलत हमारे अपने रंगमंच की आतरिक गति और विकास के फलस्वरूप नही।'

और इधर आजादी के बाद जब सहसा नाटक लिखने खेलने की ओर बहुत से लोगो की रुचि बढी और इसके फलस्वरूप 'पचास' और 'साठ' मे जितने अधिक नाटक लिखे गये, और लिखे जा रहे है, उनके ऊपर उसी मूल व्याधि की ही छाया दिखती है।

पर इस अधकार मे यहा एक नयी किरन फूटी है। और सर्वत्र फूटेगी--ऐसा मेरा विश्वास है। क्योकि हिन्दी के साथ ही साथ अन्य भाषाओ मे दो-एक नाटककार ऐसे दिख रहे है जो रंग-प्रयोगो के बीच अपने वास्तविक नाट्य-अन्वेषण मे लगे हुए है।

सौभाग्य से यह किरन सब से पहले हिन्दी मे ही फूटी है। इसी का फल है--'कोणार्क', 'अधा युग', 'आषाढ का एक दिन' और 'मादा कैक्टस'।

इस किरन फूटने के साथ जब मै हिन्दी के इन नाटको का नाम ले रहा हू--तो मेरा यह आशय नही कि ये मेरी कसौटी के अन्तिम उदाहरण है। नही ! पर यह सत्य है कि इन नाटको मे पहली बार यह लक्षित है कि इनके माध्यम से इन नाटककारो ने नाटक की मूल प्रकृति को समझा है और इसे रंगमंच के स्तर से व्यक्त किया है। इससे भी आगे, इनमे एक निश्चित रंगमंच की प्रतिष्ठा है। उसके जीवत ताने-बाने है। और ये नाटक अपनी रचना मे जैसे वहा जिये गए है। इनमे अलग-अलग ढग से (अपने-अपने ढग से) रंगमंच का अन्वेषण है। आधुनिक रंगमंच का इनके माध्यम से एक सशक्त प्रसग निश्चित हुआ है। उसकी एक सबल भूमिका निर्धारित हुई है।

इस प्रसग से आलोच्य वर्ष (१९६२) का नाट्य लेखन और भी कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण तथा गम्भीरता से देखने-विचारने का विषय है।

इस वर्ष के प्रकाशित नाट्य लेखन मे सब से पहले 'कोणार्क' का सशोधित सस्करण है। कोणार्क' हिन्दी का बडा प्रसिद्ध नाटक था। दस-ग्यारह वर्षो के भीतर यह भारतवर्ष के कई नगरो मे अमेचर नाट्य सस्थाओ द्वारा मच पर प्रस्तुत किया गया। कुछ भाषाओ मे अनूदित और शिक्षा-सस्थाओ मे पढाया भी गया। विषय के अनुसार ही इसमे एक ऐसे नये रंगमंच-प्रकार की खोज है, जिसमे निश्चय ही प्राचीन और नवीन नाट्यकला का मनोरम सामञ्जस्य है। अर्थात् यह नाटक अपने रंगमंच स्तर पर प्रयोगात्मक कहा जा सकता है। ऐसे प्रयोग की परीक्षा स्थूल रंगमंच पर होती है--उसके रंग-अनुष्ठानो से।

दुर्भाग्य से हिन्दी मे नाटक छप पहले जाते है—उन्हे रगमच पर बाद मे प्रस्तुत किया जाता है । टीक नाटक की प्रकृति के खिलाफ । वस्तुत नाटक की कसौटी ही है—मच-प्रयोग । इस प्रयोग की प्रक्रिया मे लेखक अपने नाटक के रिहर्सल के समय अपनी कृति मे आवश्यकतानुसार परिवर्तन-परिवर्धन करता है । और वह अपने नाटक को मच-अनुष्ठान मे देखकर उसे निश्चय ही सुन्दर और प्रभावपूर्ण बना सकता है—और बनाता है । पश्चिम का आधुनिक नाट्य-लेखन इसका सुन्दर उदाहरण है ।

'कोणार्क' के लेखक ने भी यही कार्य अपने इस सशोधित सस्करण मे किया है—ठीक बारह वर्ष बाद । यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है हिन्दी-नाट्य लेखन मे । वरना वर्तमान हिन्दी-साहित्य मे पूर्वप्रकाशित रचनाओ को इस तरह से परिवर्तित करने की परम्परा नही रही है ।

इससे नाटककार के व्यक्तित्व के विषय मे दो महत्त्वपूर्ण बाते सामने आती है—जिनके आधार से भविष्य के प्रति हमारा मन बडा आश्वस्त होता है । पहली बात—नाटककार ने अपनी कृति को रगमच के धर्म मे देखा है । नाटक पढने की वस्तु बाद मे है, पहले यह है मच पर खेलने का सत्य । इस मच-सत्य मे यदि कोई दोष है, सीमा है (लिखते समय जिनका पाठ्य मे रह जाना अत्यन्त स्वाभाविक है) तो उसे सशोधित करना नाटककार का कर्तव्य है । दूसरी बात—नाटककार जैसे सतत अपने रगमच की तलाश मे है । उस तलाश मे वह कितना जागरूक, उन्मुक्त और सवेदनशील है ! इन्ही दोनो बातो का उज्ज्वलतम उदाहरण है—'कोणार्क' का यह सशोधित सस्करण ।

'कोणार्क' के मूल सस्करण मे कई रगमचगत सीमाए थी, जो स्वभावत केवल मच पर ही प्रकट होती थी । एक बुनियादी बात यह कि तीसरे अक मे शय्या पर लेटे धर्मपद को दिखाया जाना मच पर अनेक समस्याए पैदा करता था । दूसरी बात—पहले अक के बारे मे—कि उसमे पूर्वकथा का उद्घाटन यथोचित नाटकीयता से नही हो पा रहा था और इसीलिए उसमे एकरसता थी । तीसरी बात—उपक्रम और उपसहार के शब्द नेपथ्य से गाये जाने के कारण प्राय दर्शको तक नही पहुच पाते थे । एक बात और । पूरे नाटक मे सभी पात्र न होने के कारण किंचित् रग का अभाव खटकता था ।

प्रस्तुत सशोधित सस्करण मे उक्त सभी सीमाओ की बडी ही कलात्मक और प्रभावपूर्ण पुनर्रचना हुई है । इस नये सस्करण मे सूत्रधार तथा उसके सगियो को एक विशेष नाटकीयता प्रदान की गयी है । उपक्रम और उपसहार दोनो भागो मे अब सूत्रधार तथा दो वाचिकाये (स्त्री-पात्र) मच पर प्रत्यक्ष दर्शको के सामने आकर कथा-गायन करती है । कथा लय-तालयुक्त गीतो के रूप मे नही, बल्कि अत्यन्त स्पष्ट और मर्मस्पर्शी वाचक शैली के रूप मे । फिर सूत्रधार भी उसी रूप मे बिल्कुल लोकनाट्य शैली मे दर्शको के सामने आकर कथा के सूत्र को उठाता है और उसमे गति देता है । इसके अतिरिक्त अब इस नये सस्करण मे नाटककार ने अको के बीच, बिल्कुल सस्कृत नाट्य-शैली के अनुरूप विष्कभको के समान उपकथनो का समावेश किया है । 'इस तरह से

उपक्रम, उपसहार और उपकथन—ये तीनो नाटक के एक विशेष अग बनाये गये है और सूत्रधार और दो वाचिकाए एक ऐसे समुदाय के रूप मे हमारे सामने आते है, जो नाटक के स्थूल रूप तथा आत्मा दोनो पर तीव्र प्रकाश डालते है।'

अब इस पूरे समुदाय को नाटककार ने 'वृन्द वार्तिक' की सज्ञा दी है। और इस तरह से अब इस पूरे नये नाटक के साथ 'कोणार्क' का यह 'वृन्द वार्तिक' निश्चय ही नाटक की कथा की कडिया तो कलात्मक ढग से प्रस्तुत करता और जोडता रहता ही है, साथ ही यह दर्शक समाज का प्रतिनिधित्व भी करता है। ठीक जैसे ग्रीक के 'कोरस' मे होता था।

पहली और तीसरी—दोनो रग-कठिनाइया अब इस सस्करण मे बडी ही सफलता से हल कर दी गयी है। और अब नाटक मे उस एकरसता के स्थान पर रग-जीवन उफन पडा है। एक बात और! मूल सस्करण मे मुकुन्द नाम का एक कल्पित पात्र स्थपति विशु का मित्र दिखाया गया था। अब इस सशोधित सस्करण मे उस कल्पित पात्र के स्थान पर इतिहास के ठोस आधार से सोम्य श्रीदत्त को नया चरित्र दिया गया है। निश्चय ही अब इस चरित्र के प्रवेश से नाटक का चरित्र-चित्रण-पक्ष अधिक सजीव और विविध हो गया है।

अब यह नाटक साहित्य तथा रगमच दोनो स्तरो पर हिन्दी की स्थायी निधि हो गया है। इस नाटक की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इसका रगमच अपने नाट्य के सूत्रो के साथ अपने समाज-देश के मानस की अभिव्यक्ति है। यह आधुनिक है, पर कही से भी विदेश की नकल नही। इसमे हमारे वे नाट्यतत्त्व पहली बार उजागर हुए है जो अपने आधुनिक रगमच को इसके अतीत से सम्बद्ध करते है और श्रेष्ठ परम्परा को अपनी आत्मा का अविच्छिन्न अग बनाते है।

इस वर्ष की दूसरी नाट्यकृति है—'रातरानी'—सामाजिक नाटक।

वस्तुत गत दशक मे जब कोई इस देश मे आधुनिक रगमच का नाम लेता था या उसके विषय मे सोचता था तो वह प्राय आधुनिक रगमच के लिए आधुनिक यथार्थवाद का मतलब लगाता था। और इस यथार्थवाद ने निश्चय ही भारतीय नाट्य-लेखन—विशेषकर हिन्दी नाट्य-लेखन का बडा ही अहित किया।

किन्ही अर्थो मे इसने पश्चिम की नाट्यधारा तक का भी अहित किया। शायद इसीलिए इस यथार्थवादी रगमच से, इसकी सुगठित नाट्य शैली (वेलमेड प्ले) से पिरन्देलो, ब्रेख्त, जा काकतो, और टी०एस० इलियट आदि ने इस कदर विद्रोह किया और अपने रगमच को अधिक प्रशस्त, उदार तथा काव्यमय बनाने का प्रयत्न किया। फिर भारतवर्ष और हिन्दी-रगमच की तो स्थिति और प्रकृति ही भिन्न है।

प्रश्न यह है कि हमारे सदर्भ से आधुनिक रगमच की अपनी शक्ति क्या है? वह शक्ति—जो यथार्थवादी वैज्ञानिक शक्ति फिल्म, रेडियो और टेलीविजन से भी अपराजेय है। वह शक्ति है—इसके काव्यतत्त्व मे, इसके मासल रगतत्त्व मे, जिसे हम

'रगमच का काव्य' कह सकते है। पर नाटक का यह काव्य केवल उसके कथोपकथन मे नही, जैसा कि पश्चिम मे शेक्सपियर, अपने यहा टैगोर और 'प्रसाद' मे विद्यमान है। नही ! वरन् यह काव्यात्मकता है नाटक मे व्याप्त अभिनयात्मिका वृत्ति मे, पात्रो के अन्तस मे छिपी अभिनय कला मे, जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति हमे नाटक के प्रस्तुतीकरण मे होती है अथवा नाटक पढ़ते समय मन-प्राण के मच पर यदि उसे अभिनीत होते हुए देख सके, तब उसमे व्याप्त रगमच का काव्यानन्द हम पा सकते है। 'रातरानी' इसी सत्य का पहला उदाहरण है।

'रातरानी' मे हमारे वास्तविक समाज का सूत्र है। मध्य वर्ग के पति-पत्नी की कथा। यथार्थ स्थितिया। पर रगमच की प्रकृति मे वही काव्यात्मक शक्ति। स्रोत है नाटक की नायिका और माली—चित्राधार है बगले की फुलवारी और आर्चेड। जीवन का सघर्ष ही इस नाटक का सघर्ष है। जिसकी रेखाए और रग पूरे नाटक के रक्त मे व्याप्त है। जैसे कि वह जीवन ही यहा जिया हुआ है, भोगा हुआ है।

तीसरा नाटक है 'नाटक तोता मैना'। इसका रगमच विशुद्ध लोकतत्त्वो के साथ है। लोक गीत, लोक कथा और लोक मच। मुक्त-आकाशी प्रकृति का।

अपने यहा 'तोता मैना' एक प्रसिद्ध लोक गाथा है, जिसमे तोता मैना के आधार से पुरुष स्त्री के झगड़े और उन्हे परस्पर छोटा-बड़ा सिद्ध करने की अनेक कथाए है।

'नाटक तोता मैना' मे उसी तोता-मैना का मूलत सूत्रधार के रूप मे लेखक ने यहा इस्तेमाल किया है। साथ ही वे दोनो इस नाटक के सूत्रधार, कोरस और विष्कभक, अश के भी सहज नियामक है। नाटक की सारी प्रकृति हमारे लोक रगमच के जीवन्त सूत्रो के अनुरूप है। कथा, चरित्र, नृत्य, गीत और उसका नाट्य-निर्वाह सब। केवल एक बुनियादी दोष इस कृति मे यह खटकता है कि इसमे रगमच माध्यम और भावपक्ष का सामजस्य कही-कही स्थापित नही हो सका है। यही कारण है कि उन्ही स्थलो पर इसकी भाषा भी लोक-प्रकृति से कुछ कठिन हो गयी है। फलत इसके सहज रस मे बाधा उपस्थित हुई है।

फिर भी हिन्दी के अपने आधुनिक रगमच अन्वेषण मे इस कृति का अपना विशेष महत्त्व है। इससे यह सत्य तो सामने आता है कि हमारे लोक नाट्य मे बहुत से ऐसे तत्त्व, पद्धतिया, रूढ़िया और मान्यताए है जिनके क्रियात्मक उपयोग से आज हम बहुत ही महत्त्वपूर्ण नाट्य कृतिया लिख सकते है और अपने आधुनिक रगमच को अपनी परम्परा से जोड़कर उसे एक नयी गहराई तथा व्यापकता दे सकते है।

इस आलोच्य वर्ष के भीतर तीसरी नाट्य कृति है—'खडित यात्राए'। इसका विषय है वह टूटा हुआ सामन्त वर्ग, जिसका जीवन आज व्यापारिक वर्ग के हाथ मे जा रहा है। इसमे जमीदार शिवा सुरेश और उनका परिवार टूट गया है और उनका पुराना सस्कृति कछुए की भाति अपने मे ही सिमट जाना है, लेकिन पुराने सस्कार नही छूटते है न नये ही बनाना है—बल्कि नये सुर नये अन्दाज मे जोना चाहता है।

'खडित यात्राए' की रचना प्राय यथार्थवादी रगमच के तत्त्वो के भीतर हुई है। किन्तु फिर भी इसके मूल स्वर मे रगमच का काव्यतत्त्व विद्यमान है। यही कारण है कि साहित्य-स्तर पर यह नाटक पर्याप्त मात्रा मे हृदयग्राही है। चरित्रो की रेखाए गहरी और चटक है। कथोपकथन सुन्दर और प्रभावपूर्ण है।

नाट्य रचना के समानान्तर इन वर्षो मे एक अन्य महत्त्वपूर्ण अग हिन्दी रगमच क्षेत्र मे जो विकसित हुआ है वह है नाट्य समीक्षा और रगमच विचार। इस सदर्भ मे श्री नेमिचन्द जैन और डॉ० सुरेश अवस्थी के नाम उल्लेखनीय है। इन दोनो नाट्य-समीक्षको ने अपनी गहन रग-दृष्टि से इन वर्षो मे रगमच के विविध अगो और स्तरो का पैना विश्लेषण उपस्थित किया है। यह हिन्दी-रगमच के विकास और उसके स्वस्थ मूल्याकन के लिए बडा ही मगलकारी चरण है। यह सत्य है कि नाट्यलेखन और रग-प्रस्तुतीकरण के लिए उसके साथ ही नाट्य आलोचक और रग-समीक्षक के व्यक्तित्व का इस सदर्भ मे बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। सौभाग्य की बात है कि इन दोनो विद्वानो मे अपने लोक रगमच और सस्कृत रगमच के साथ ही आधुनिक पाश्चात्य रगमच के विषय मे बडी ही गहन दृष्टि है।

अन्त मे इस क्षेत्र मे व्याप्त इधर एक परम अकल्याणकारी तत्त्व और दृष्टिकोण की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है।

हिन्दी का व्यावहारिक रगमच अभी अमेचर स्तर का ही है। शायद ही कही कोई व्यावसायिक रगमच हो। एक भी नही है। अमेचर रगकर्ताओ की दृष्टि मे दो बुनियादी दोष दिखाई देते है। पहला दोष, यह कि इनका ध्यान अपने मौलिक हिन्दी-नाटको से हटकर विदेशी नाटको के रूपान्तरो की ओर अधिक है। दूसरा इससे भी बडा दोष यह कि इन्हे अपने गम्भीर रगनिष्ठ नाटको की समझ नही है। ये लोग हल्के, फार्मूलावादी, फिल्मी नाटको की ओर अधिक झुकतेहै। विशेषकर दिल्ली का हिन्दी अमेचर रगमच तो इस दोष का बडा ही दु खमय उदाहरण है। जितने भोडे, असाहित्यिक, असुन्दर नाटक वहा होते है, वैसे शायद ही कही होते है। इसकी करुणा कई स्तरो पर देखने को मिलती है। दिल्ली मे हिन्दी के गम्भीर सुन्दर नाटको का दर्शक वर्ग ही नही तैयार हो सका है। 'कोणार्क' के लेखक ने दिल्ली के रग-कर्त्ताओ को अपनी भूमिका मे सावधान तक कर रखा है—"यदि कोई मडली दिल्ली मे 'कोणार्क' का अभिनय करना चाहे तो मै उसको सलाह दूगा कि वह कोई और नाटक चुने।"

'रगमच का काव्य' कह सकते है। पर नाटक का यह काव्य केवल उसके कथोपकथन में नही, जैसा कि पश्चिम मे शेक्सपियर, अपने यहा टैगोर और 'प्रसाद' मे विद्यमान है। नही ! वरन् यह काव्यात्मकता है नाटक मे व्याप्त अभिनयात्मिका वृत्ति मे, पात्रो के अन्तस मे छिपी अभिनय कला मे, जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति हमे नाटक के प्रस्तुतीकरण मे होती है अथवा नाटक पढते समय मन-प्राण के मच पर यदि उसे अभिनीत होते हुए देख सके, तब उसमे व्याप्त रगमच का काव्यानन्द हम पा सकते है। 'रातरानी' इसी सत्य का पहला उदाहरण है।

'रातरानी' मे हमारे वास्तविक समाज का सूत्र है। मध्य वर्ग के पति-पत्नी की कथा। यथार्थ स्थितिया। पर रगमच की प्रकृति मे वही काव्यात्मक शक्ति। स्रोत है नाटक की नायिका और माली—चित्राधार है बगले की फुलवारी और आर्चेड। जीवन का सघर्ष ही इस नाटक का सघर्ष है। जिसकी रेखाए और रग पूरे नाटक के रक्त मे व्याप्त है। जैसे कि वह जीवन ही यहा जिया हुआ है, भोगा हुआ है।

तीसरा नाटक है 'नाटक तोता मैना'। इसका रगमच विशुद्ध लोकतत्त्वो के साथ है। लोक गीत, लोक कथा और लोक मच। मुक्त-आकाशी प्रकृति का।

अपने यहा 'तोता मैना' एक प्रसिद्ध लोक गाथा है, जिसमे तोता मैना के आधार से पुरुष स्त्री के झगडे और उन्हे परस्पर छोटा-बडा सिद्ध करने की अनेक कथाए है।

'नाटक तोता मैना' मे उसी तोता-मैना को मूलत सूत्रधार के रूप मे लेखक ने यहा इस्तेमाल किया है। साथ ही वे दोनो इस नाटक के सूत्रधार, कोरस और विष्कभक, अश के भी सहज नियामक है। नाटक की सारी प्रकृति हमारे लोक रगमच के जीवन्त सूत्रो के अनुरूप है। कथा, चरित्र, नृत्य, गीत और उसका नाट्य-निर्वाह सब। केवल एक बुनियादी दोष इस कृति मे यह खटकता है कि इसमे रगमच माध्यम और भावपक्ष का सामजस्य कही-कही स्थापित नही हो सका है। यही कारण है कि उन्ही ख्यालो पर इसकी भाषा भी लोक-प्रकृति से कुछ कठिन हो गयी है। फलत इसके सहज रस मे बाधा उपस्थित हुई है।

फिर भी हिन्दी के अपने आधुनिक रगमच अन्वेषण मे इस कृति का अपना विशेष महत्त्व है। इससे यह सत्य तो सामने आता है कि हमारे लोक नाट्य मे बहुत से ऐसे तत्त्व, पद्धतिया, रूढिया और मान्यताए है जिनके कलात्मक उपयोग से आज हम बहुत ही महत्त्वपूर्ण नाट्य कृतिया लिख सकते है और अपने आधुनिक रगमच को अपनी परम्परा से जोडकर उसे एक नयी गहराई तथा बडा अर्थ दे सकते है।

इस आलोच्य वर्ष के भीतर चौथी नाट्यकृति है—'खडित यात्राए'। इसका विषय है वह टूटा हुआ सामन्त वर्ग, जिनका स्थान आज व्यावसायिक वर्ग ले रहा है। इसमे जमीदार पिता सुरेन बाबू सहसा टूट जाते है और उनकी पुत्री नन्दिता कछुए की भाति अपने मे ही सिमट जाती है, लेकिन पुत्र मोहन न टूटता है न कछुआ ही बनता है—बल्कि नये सुर नये अन्दाज मे जीना चाहता है।

'खडित यात्राए' की रचना प्राय यथार्थवादी रगमच के तत्वो के भीतर हुई है। किन्तु फिर भी इसके मूल स्वर मे रगमच का काव्यतत्त्व विद्यमान है। यही कारण है कि साहित्य-स्तर पर यह नाटक पर्याप्त मात्रा मे हृदयग्राही है। चरित्रो की रेखाए गहरी और चटक है। कथोपकथन सुन्दर और प्रभावपूर्ण है।

नाट्य रचना के समानान्तर इन वर्षों मे एक अन्य महत्त्वपूर्ण अग हिन्दी रगमच क्षेत्र मे जो विकसित हुआ है वह है नाट्य समीक्षा ओर रगमच विचार। इस सदर्भ मे श्री नेमिचन्द्र जैन और डॉ० सुरेश अवस्थी के नाम उल्लेखनीय है। इन दोनो नाट्य-समीक्षको ने अपनी गहन रग-दृष्टि से इन वर्षो मे रगमच के विविध अगो और स्तरो का पैना विश्लेषण उपस्थित किया है। यह हिन्दी-रगमच के विकास और उसके स्वस्थ मूल्याकन के लिए बडा ही मगलकारी चरण है। यह सत्य है कि नाट्यलेखन और रग-प्रस्तुतीकरण के लिए उसके साथ ही नाट्य आलोचक और रग-समीक्षक के व्यक्तित्व का इस सदर्भ मे बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। सौभाग्य की बात है कि इन दोनो विद्वानो मे अपने लोक रगमच और सस्कृत रगमच के साथ ही आधुनिक पाश्चात्य रगमच के विषय मे बडी ही गहन दृष्टि है।

अन्त मे इस क्षेत्र मे व्याप्त इधर एक परम अकल्याणकारी तत्त्व और दृष्टिकोण की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है।

हिन्दी का व्यावहारिक रगमच अभी अमेचर स्तर का ही है। शायद ही कही कोई व्यावसायिक रगमच हो। एक भी नही है। अमेचर रगकर्ताओ की दृष्टि मे दो बुनियादी दोष दिखाई देते है। पहला दोष, यह कि इनका ध्यान अपने मौलिक हिन्दी-नाटको से हटकर विदेशी नाटको के रूपान्तरो की ओर अधिक है। दूसरा इससे भी बडा दोष यह कि इन्हे अपने गम्भीर रगनिष्ठ नाटको की समझ नही है। ये लोग हल्के, फार्मूलावादी, फिल्मी नाटको की ओर अधिक झुकतेहै। विशेषकर दिल्ली का हिन्दी अमेचर रगमच तो इस दोष का बडा ही दु खमय उदाहरण है। जितने भोडे, असाहित्यिक, असुन्दर नाटक वहा होते है, वैसे शायद ही कही होते है। इसकी करुणा कई स्तरो पर देखने को मिलती है। दिल्ली मे हिन्दी के गम्भीर सुन्दर नाटको का दर्शक वर्ग ही नही तैयार हो सका है। 'कोणार्क' के लेखक ने दिल्ली के रग-कर्त्ताओ को अपनी भूमिका मे सावधान तक कर रखा है—"यदि कोई मडली दिल्ली मे 'कोणार्क' का अभिनय करना चाहे तो मै उसको सलाह दूगा कि वह कोई और नाटक चुने।"

हिन्दी उपन्यास : १९६२

श्री भारतभूषण अग्रवाल

सन् १९६२ के हिन्दी उपन्यासो पर दृष्टि डालते ही जो बात सब से पहले हमे प्रभावित करती है वह है उनकी सख्या और उनका वैविध्य।

क्षणस्थायी, मनोरजनजीवी तथा ऐतिहासिक एव अनूदित उपन्यासो को छोड देने पर भी कम से कम बीस उपन्यास इस वर्ष ऐसे प्रकाशित हुए है जो अपनी किसी न किसी विशेषता के कारण हमारा ध्यान आकर्षित करते है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि ये बीसो उपन्यास हिन्दी साहित्य के इतिहास मे स्थान पायेगे, तथापि यह तो कहा ही जा सकता है कि वे हिन्दी-उपन्यास के बहुमुखी विकास मे निस्सन्देह सहायक है और भविष्य मे आने वाली प्रौढतर कृतियो के अग्रदूत है। हम तो कहना चाहते है कि एकाधिक अर्थों मे प्रस्तुत वर्ष हिन्दी-उपन्यास के इतिहास केलिए महत्त्वपूर्ण वर्ष माना जायेगा।

यही बात वैविध्य के क्षेत्र मे भी लागू होती है। सख्या है तो वैविध्य होगा ही, उसमे आश्चर्य ही क्या। पर आलोच्य वर्ष का उपन्यास साहित्य कुछ असाधारण रूप से वैविध्यपूर्ण है। जीवन का शायद ही कोई पक्ष हो जिसे उसमे अकित न किया गया हो। इस वर्ष के उपन्यासो मे सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, आचलिक और मनोवैज्ञानिक उपन्यास तो है ही, उनमे उपन्यास का एक और प्रकार भी आ समाया है जिसे अन्य किसी नामकरण के अभाव मे अस्तित्ववादी उपन्यास कहा जा सकता है, और जिसका पहला उदाहरण गतवर्ष 'अज्ञेय' के उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' मे मिल चुका है। इनके अतिरिक्त इस वर्ष दो औपन्यासिक कल्पनाए (fantasies) भी प्रकाशित हुई है और एक औपन्यासिक लोक-कथा।

शैली की दृष्टि से भी इस वर्ष के उपन्यासो मे विलक्षण वैविध्य है। सीधी-सादी वर्णनात्मक शैली के उपन्यास तो है ही, पश्चादवलोकन–शैली (यह पथ बन्धु था), आत्मकथात्मक शैली (अतृप्ता), विविधोद्गार शैली (कावेरी, रेत, शून्य, हवा), स्वप्न-शैली (आसू की मशीन), डायरी-शैली (हीरक जयन्ती) और रिपोर्ताज-शैली (ये जाने-अनजाने) मे भी कई-कई उपन्यास इस वर्ष प्रकाशित हुए है। भाषागत वैविध्य भी दर्शनीय है भगवती चरण वर्मा (सामर्थ्य और सीमा) और चन्द्रकिरण सोनरिक्सा (चन्दन-चादनी) यदि परिनिष्ठित और टकसाली भाषा मे लिखते है तो नरेश मेहता (यह पथ बन्धु था) और रघुवश (अर्थहीन) काव्यात्मकभाषा मे, रेवतीसरन शर्मा (न मीत न मजिल) उर्दू की घुलावट देते है तो शैलेश मटियानी, राजेन्द्र, रागेय राघव, नागार्जुन, छेदीलाल गुप्त और विनोदचन्द्र पाण्डे क्रमश कुमायूनी, गढवाली, ब्रज, बिहारी, कलकत्तिया और राजस्थानी बोलियो का स्वाद। यह बात भी ध्यान देने की है कि

यथार्थ-चित्रण की निष्ठा के कारण प्राय सभी उपन्यासकार अग्रेजी शब्दो और वाक्याशो का प्रयोग करते है, यद्यपि उनका रूप और परिमाण उनके वर्णित परिवेश पर निर्भर है ।

देश-काल के वैविध्य पर भी विचार करना आवश्यक है । यो तो प्रत्येक उपन्यास का अपना विशिष्ट देश-काल होता ही है, और वह प्राय दूसरो से पृथक् ही होता है, पर इस वर्ष के उपन्यास इस बात मे भी असाधारण है । एक ओर 'पतझर' (रागेय राघव) है जो नर-नारी-प्रणय की समस्या को सुलझाने मे जीवित वर्तमान से लेकर आदि प्रागैतिहासिक काल और जीवन तक के बीच झूल रहा है ; 'यह पथ बन्धु था' है जो अपने प्रभावोत्पादक कलेवर मे उत्तर भारत के १९२० से १९४५ तक के सामाजिक जीवन को समेटे है, 'मुख-सरोवर के हस' (शैलेश मटियानी) है जो चिरन्तन चिर-पुरातन लोकगाथा का मार्मिक रूपान्तरण है, 'न मीत न मजिल' है जो भारत-विभाजन की परिणति पर टिका है, तो दूसरी ओर जागरित वर्तमान को चित्रित करने वाले उपन्यास भी कम नही है 'आखिरी आवाज', 'चन्दन चादनी', 'पराई डाल का पछी', 'एक भीनी गन्ध' और 'हीरक जयन्ती' ।

और अन्त मे जीवन-चित्रण का वैविध्य । हिन्दी उपन्यासो के माध्यम से शायद पहली ही बार हम इस सत्य की उपलब्धि कर सके कि हमारा राष्ट्र कितना विशाल और विस्तृत है, और उसमे बसने वाले भारतीय मूलत एक होते हुए भी कितनी भिन्न परिस्थितियो मे जीवन-यापन करते है । नगर और गाव का भेद तो मोटा और पूर्व-परिचित है ही, इस वर्ष के उपन्यासो मे इनके भी अनेक भेद प्रस्तुत किए गए है, भिन्न-भिन्न क्षेत्रीय जीवन की विशेषताए उपस्थित की गई है, और एक ही समाज के भिन्न-भिन्न स्तरो पर जीने वाले लोगो का भी चित्रण किया गया है ।

लेखन-स्तर के सम्बन्ध मे भी यही बात मिलती है । आलोच्य उपन्यासकारो मे भगवतीचरण वर्मा जैसे मूर्धन्य कलाकार भी है, नागार्जुन और रागेय राघव जैसे बहुग्रथकार भी है, विश्वम्भर 'मानव और केशवचन्द्र वर्मा जैसे बीच-बीच मे उपन्यास झाड देने वाले लेखक भी है, शैलेश मटियानी और राजेन्द्र झा, जैसे लोक-मर्मज्ञ भी है, रघुवश, अमरकान्त और नरेश मेहता जैसे लेखक भी है जिनकी प्रस्तुत कृतिया दूसरा औपन्यासिक प्रयास है तो नवीन हस्ताक्षरो मे चन्द्रकिरण सोनरिक्सा, कान्ता सिनहा और विनोदचन्द्र पाण्डे भी है । एक क्षण को यदि हम इन लेखको की वय-दृष्टि-सामर्थ्य-अनुभूति-गत विशेषताओ का भी ध्यान कर ले तो प्रस्तुत वर्ष के उपन्यासो की विविधता का कुछ अनुमान हो सकता है । अब यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उपन्यास ने प्रमुख रचना-विधा के रूप मे कविता का स्थान ले लिया है । जिस स्थिति की कल्पना करके उपन्यास की परिभाषा 'भविष्य के महाकाव्य' के रूप मे की गयी थी, वह स्थिति अब हिन्दी साहित्य में प्रकट हो चुकी है ।

इतने लेखको द्वारा इतने प्रकार के इतने उपन्यासो के सम्बन्ध मे कुछ सामान्य बाते कहना सहज नही है। यह तभी सम्भव है जब कालगत दूरी उन्हे एक परिप्रेक्ष्य दे दे, और वे उपन्यास-साहित्य के अतीत और भविष्य से सम्बद्ध करके देखे जा सके। फिर भी, कुछ बाते प्रस्तुत समीक्षक को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती है।

पहली बात तो यह है कि हिन्दी के अधिकाश उपन्यासकार वादो के जाल से मुक्त होकर जीवन-चित्रण की ओर प्रवृत्त हो गए है। प्रेमचन्द के समय से ही हिन्दी-उपन्यासकार 'सन्देशवाहक' की मुद्रा अपनाने लग गए थे। उपदेश, आदर्श, मनोविश्लेषण, विद्रोह, क्रान्ति—सब किसी न किसी रूप मे उपन्यासकार को आदर्शवादी बना देते थे। पर अब यह स्थिति बदल चुकी है। बिना किसी पूर्व-कल्पित सन्देश के ही अब उपन्यास-कार जीवन को देखते है, और उसका यथासभव सही और पूर्ण चित्रण करते है। आलोच्य वर्ष मे केवल दो ही उपन्यासकार ऐसे है जिनकी पूर्व-कल्पनाए उन्हे जीवन के यथार्थ की अनदेखी करने की ओर ले गई है भगवतीचरण वर्मा और विश्वम्भर 'मानव'। और उसका फल यही हुआ है कि उनमे समसामयिक जीवन का चित्रण होते हुए भी आधुनिकता नही है।

दूसरी बात, जो एक प्रकार से पहली बात की ही आवश्यक परिणति है, यह है कि अब पहली बार हिन्दी-उपन्यास और हिन्दी-कविता के बीच की दूरी घटी है। यदि बीच के उन कुछ वर्षो को छोड दे जब प्रगतिशील आदोलन के कारण कविता और उपन्यास दोनो ही विधाओ मे एक-सी सैद्धातिक प्रचार-वाणी मिलने लगी थी, तो हम बेखटके कह सकते है कि यह एक नवीन और शुभ लक्षण है। यह सचमुच कुछ विचित्र बात है कि हिन्दी-कविता और हिन्दी-उपन्यास अपने विधायक रूपो मे एक-दूसरे से काफी दूरी पर चलते रहे है। कारणो की अप्रासगिक विवेचना मे न जाकर यहा इतना कहना ही अलम् होगा कि अब हिन्दी-उपन्यास और हिन्दी-कविता प्राय एक स्तर पर आ गए है—दोनो अपने चारो ओर के जीवन पर पूर्वाग्रह-मुक्त दृष्टि डालते है और यथार्थ-चित्रण पर बल देते है, अनुभति की सचाई को ज्यो का त्यो उतारने मे विश्वास करते है। प्रेमचन्द और पन्त, यशपाल और बच्चन मे जो दूरी थी वह दूरी गिरिजाकुमार माथुर और नरेश मेहता मे नही है। यह तथ्य निकट भविष्य मे किसी नए भाव-समृद्ध युग का अग्रदूत जान पडता है।

तीसरी सामान्य बात जो सन् १९६२ के इन उपन्यासो मे मिलती है, वह है नारी के प्रति सहज समानता। नारी-स्वातन्त्र्य जन-युग का एक प्रमुख पहलू है और हमारे साहित्य मे उसके स्वर आधुनिक युग के प्रारम्भ से ही गूजते रहे है, पर इसके पहले उस स्वर मे कही न कही एक पक्षपात का अथवा एक अनुकम्पा का भाव भी निहित रहता था। मानो लेखक नारी को आगे बढने के लिए प्रोत्साहित कर कोई कर्त्तव्य-पालन कर रहा हो और हम से शाबाशी चाहता हो। सन् ६२ के प्राय सभी उपन्यासो मे महत्त्वपूर्ण नारी-चरित्र है, काम-जीवन की झाकिया है, पर कही भी उनमे अतिरजना नही है,

न अस्वाभाविकता ही है। यहा तक कि नारी-उपन्यासकारो (चन्द्रकिरण सोनरिक्सा, कान्ता सिनहा) ने भी नारी-चित्रण मे यथार्थ का ही आधार लिया है।

इन तीन तत्त्वो के कारण आलोच्य वर्ष के उपन्यास मोटे तौर पर समसामयिक जीवन की अधिक गहरी ओर अधिक विशद झाकी प्रस्तुत करते है। उनमे वर्णित यथार्थ से कदाचित उस नेता-समीक्षक को कुछ कष्ट हो जो भारत की स्वतन्त्रता को जादू की छडी मानकर पचवर्षीय योजनाओ की घोषणाओ को ही जीवन का यथार्थ समझ बैठा हो, पर साहित्य के सच्चे विद्यार्थी को इससे प्रसन्नता ही होती है कि हमारे उपन्यासकार पूरी निष्ठा से आज के जीवन की मूल्यहीनता को, उसके विघटन और असमजस को, उसके भ्रष्टाचरण और अविवेक को सम्यक् रूप से उपस्थित करते है। यही नही, वे अपने पात्रो को किसी आदर्शवादिता अथवा स्वप्नशीलता की कोई बैसाखी भी नही सौपते, उन्हे पीडा और असफलता मे झूलते रहने देने का साहस भी उनमे है।

समसामयिक सामाजिक जीवन को इस मूल्यहीनता के दो प्रमुख पहलू है—अगति और विघटन। यो तो ये दोनो तत्व थोडे बहुत अन्योन्याश्रित है—एक दूसरे के लिए कारण बन जाता है—पर मोटे रूप मे हमारे ग्रामीण समाज मे अगति अधिक है और नागरिक समाज मे विघटन। प्रस्तुत वर्ष के उपन्यास इसका विलक्षण साक्ष्य उपस्थित करते है। 'सावन की आखे' और 'आखिरी आवाज' भिन्न-भिन्न अचलो के चित्र होने पर भी ग्रामीण जीवन मे समाये हुए अध-विश्वासो, अशिक्षा-जनित क्षुद्र दृष्टि, भयकर आर्थिक सघर्ष से उत्पन्न आत्म-घाती हीन-भावना और प्रशासकीय एव राजनीतिक जजाल मे बद्ध व्यक्ति की असमर्थता का सशक्त उद्घाटन करते है। 'सावन की आखे' मे कुछ राजनीतिक कार्यकर्ताओ की प्रभावहीन हलचलो की चर्चा होने पर भी मुख्यत पिछडे हुए ग्राम-जनो की अपनी ही समस्याए उभरी है, ओर आदिम जातियो मे विभिन्न स्तरो के सघर्ष से उत्पन्न पीडा और असमर्थता ही विशेषत व्यजित हुई है। 'आखिरी आवाज' मे एक अनैतिक हत्याकाण्ड के माध्यम से कानून ओर राजनीति के अदृश्य नाग-पाशो की विस्तृत विवृति है और भोले और अधे ग्रामीणो की क्षुद्रता की कराह है। 'आखिरी आवाज' पुलिस ओर कचहरी की विस्तृत जानकारी मे कभी-कभी उबाने लग जाता है, उसमे कलात्मक बिखराव भी असह्य हो उठता है, और जिस मूल घटना पर सारे उपन्यास का ताना-बाना बुना गया है उसमे प्रेषणीय विश्वसनीयता का अभाव है, पर ग्रामीण जीवन के विविध पहलू उसमे इतने विस्तार से सम्मिलित किए गए है कि उसका बिखराव जीवन-व्यवस्था के ही बिखराव का प्रतीक बन उठता है, और उपन्यास मे दर्शनीय उतार-चढाव का अभाव बुझे प्रेरणा-हीन जीवन का प्रतिबिम्ब लगने लगता है। ग्रामीण चरित्रो मे गतिहीनता और उच्चवर्गीय चरित्रो (जैसे पटवारी, अध्यापक, दारोगा, डी० एम० पी०, एम० एल० ए० और मत्री) मे सिद्धान्तहीनता को प्रमुखता देकर लेखक ने सचाई का साथ निभाया है।

इनके विपरीत है, नागार्जुन का उपन्यास 'हीरक जयन्ती' और विनोदचन्द्र पाण्डे के दो उपन्यास 'रेत, शून्य, हवा', और 'एक भीनी गन्ध'। ये दोनो नागरिक जीवन के

विघटन का चित्रण करते है, यद्यपि दोनो के स्तरो और दृष्टिकोण मे भारी भेद है। 'हीरक जयन्ती' एक प्रकार से राजनीतिक व्यग्य है। डायरी–शैली मे लिखा जाने पर भी उसमे एकाध स्थलो को छोड कर भावाभिव्यक्ति का अभाव है। वह एक रिपोर्ट है एक मत्री के हीरक-जयन्ती-समारोह और उसकी तैयारियो की, जिसके बहाने हमारे आज के राजनीतिक जीवन मे पाये जाने वाले प्राय सभी दुर्गुण और दोष दिखा दिए गए है। नागार्जुन व्यग्यपूर्ण रचना करने मे सिद्धहस्त है, और वे पूरे समारोह की घृण्य उपहासास्पदता को सफलता-पूर्वक व्यक्त कर सके है। जयन्ती-समारोह के अन्त मे मत्री के सकेत से मत्री-पुत्र की गैर-कानूनी स्वार्थपरता पर सारी व्यवस्था किस प्रकार परदा डालने की कोशिश करती है और मत्री की पुत्री उनकी इस जीवन-व्यापी क्षुद्रता से त्रस्त होकर घर छोड जाती है, उसे चरम-बिन्दु के रूप मे प्रयुक्त कर लेखक ने रचना मे करुणा का भी समावेश कर दिया है। सब मिलाकर उपन्यास निशाने पर तो बैठता है, पर उसके प्रारम्भिक पृष्ठो मे कुछ भरती का-सा आभास होता है।

यदि 'हीरक जयन्ती' बहिर्मुखी उपन्यास है, जो सतह पर ही दौडता एक रिपोर्ट-जैसा बन जाता है, तो 'रेत, शून्य, हवा' और 'एक भीनी गन्ध' दोनो अन्तर्मुखी उपन्यास हैं जिनमे आत्माभिव्यक्ति की-सी सघनता और सक्षिप्ति है। उनके लेखक विनोदचन्द्र पाण्डे, जिन्होने उपन्यास-क्षेत्र मे इसी वर्ष प्रवेश किया है, को आज का हमारा उच्चवर्गीय जीवन हस्तामलकवत् है। उसी का चित्रण कर उन्होने अपनी अनुभूति के लिए सही भूमि चुनी है और दोनो उपन्यास व्यजना और मार्मिकता से युक्त है। हम कह सकते है कि हिन्दी उपन्यास मे ये पहली बार उच्चवर्ग का अन्तरग रूप उपस्थित करते है। प्रिवी पर्स के सहारे खोए गौरव की स्मृतियो मे डूबा विद्यमान लक्ष्यहीनता मे सासे लेता राजन्य वर्ग, पिकनिक, कार-ड्राइव,फिल्म और 'कल्चरल प्रोग्राम' मे उलझी ड्राइग-रूम मे चलती-फिरती रगीन महिलाए, निम्न पदस्थ चाटुकार और स्वार्थ-रत उद्योगपति अपने परोप-जीवी जीवन की सकीर्णता, अपदार्थता, शून्यता और विरसता मे यहा उपस्थित है। लेखक उनके सूक्ष्म रेखाचित्र बडे सधे हाथ से आकता है, न तो कोई रग फैलने पाता है और न कोई चित्र अनघड रहता है। शब्दो का प्रयोग करने मे भी लेखक बडी सजगता का परिचय देता है। इन उपन्यासो मे हमे एक प्रकार की 'शौर्ट हैण्ड' मिलती है जो कही-कही निराला के 'चोटी की पकड' की याद दिलाती है। पर फिर भी ये एक वर्ग के सम्पूर्ण चित्र न होकर समग्र जीवन के खड-चित्र ही रह जाते है, और शैली-वस्तु-चित्रण में दोनो समान रूप से अ-विशेष रह जाते यदि 'रेत, शून्य, हवा' मे लेखक ने कृत्रिम परिवेश मे सहज अकुरित हो उठने वाले गहरे आत्मिक प्रेम का पुट न दिया होता, यद्यपि पहाडो पर कार मे जाते प्रेमी-प्रेमिका का ट्रक दुर्घटना मे अत उपन्यास को फिल्मी बना देता है। दोनो उपन्यास पढ लेने पर, लगता है, कही लेखक की शैली रूढि न बन जाये। फिर भी उच्चवर्ग की साप्रतिक व्यर्थता के वे समर्थ प्रतिनिधि है।

पर यही बात भगवतीचरण वर्मा के 'सामर्थ्य और सीमा' के लिए नही कही जा सकती यद्यपि 'सामर्थ्य' शब्द उसके शीर्षक मे ही सम्मिलित है, और भगवती बाबू आज

के मूर्धन्य उपन्यासकार है। यह बात कुछ विचित्र लगती है कि एक अच्छे और एक मामूली उपन्यास का यह क्रम भगवती बाबू अपने साहित्यिक जीवन मे कई बार दुहरा चुके है 'चित्र लेखा'—'तीन वर्ष', 'टेढे-मेढे रास्ते'—'आखिरी दाव', 'भूलेबिसरे चित्र'—'सामर्थ्य और सीमा'। प्रस्तुत उपन्यास भी उच्चवर्ग का ही चित्रण है। तराई-क्षेत्र मे एक विशाल बाध की योजना पर विचार करने के लिए एक मत्री, एक उद्योगपति, एक इजीनियर, एक अफसर इकट्ठे होते है। स्थान का स्वामिनी रानी साहिबा और उनके चचा रिटायर्ड मेजर वहा पहले से है ही। पर उपन्यास मे न तो तराई के वे प्रकृति-चित्र है जो 'सावन की आखे' की उपलब्धि है, न राजनीतिक जीवन पर वह सशक्त व्यग्य ही है जो 'हीरक-जयन्ती' का प्राण है, और न उच्च वर्ग की उस व्यर्थता का ही सकेत है जो विनोदचन्द्र पाण्डे उघारते है। सारे उपन्यास मे एक निस्पन्द प्राणहीनता छाई हुई है। प्रत्येक पात्र के विगत का लम्बा वर्णन है, उनकी मुलाकातो और बातचीतो की लम्बी-लम्बी रिपोर्टे है, एक-दूसरे पर चोट करने मे और दुनिया-भर के अहम मसलो पर अन्तहीन बहस करने मे वे दक्ष है—पर सारी की सारी जिन्दगी यहा सतही ओर उखडी-उखडी हुई लगती है। और उसका अन्त तो ऐसा नियतिवादी है कि उपन्यास आधुनिक जीवन से उछट कर मध्ययुग मे पहुच जाता है। बार-बार लगता है कि भगवती बाबू कलाभिव्यक्ति के स्थान पर किसी यात्रिक नुस्खे पर उपन्यास-रचना कर रहे है जैसा अक्सर रेडियो-लेखन मे होता है। फल यह होता है कि जनतत्रकालीन प्रशासन की कमजोरियो के दर्शन अथवा दफ्तरी योजनाओ पर व्यग्य के बदले यह उपन्यास समस्त मानव-जीवन का ही उपहास करता जान पडता है।

'सामर्थ्य और सीमा' की तुलना मे केशव चन्द्र वर्मा की 'आसू की मशीन' और वेद प्रकाश की 'बिना दिल का इन्सान' अधिक सार्थक रचनाए है। यद्यपि ये दोनो ही साधारण अर्थ मे उपन्यास न होकर औपन्यासिक कल्पनाए (fantasies) ही है तथापि इनमे समसामयिक जीवन का प्रकृत सदर्भ स्पष्ट और पुष्ट है। 'आसू की मशीन' एक असभव कल्पना पर सामाजिक व्यग्य का ऐसा सबल ढाचा प्रस्तुत करती है जो अमर अग्रेजी-कृति 'गुलीवर्स ट्रैवेल्स' की याद दिलाता है। बस, उसका अन्त ही उसका निर्बल पक्ष है क्योकि इस सारे चित्रण को स्वप्न घोषित कर लेखक जैसे उठाया हुआ कदम वापस ले लेता है ओर रचना की चेतना अचानक भारतेन्दु-युगीन बन जाती है।

रागेव राघव का 'पतझर' नर-नारी के स्वाभाविक प्रेम की वकालत करता है और उनके स्थायी मिलने के रास्ते मे आने वाले ओछे स्वार्थों, जाति-वर्ण-वश के बन्धनो की भर्त्सना करता है। कथानक का सयोजन एक मनोवैज्ञानिक गुत्थी के रूप मे किया गया है जिसमे कही-कही जासूसी उपन्यासो का सा पुट भी है। नायक और नायिका दोनो कॉलेज मे पढते है और दोनो के मन रुग्ण हो गए है। एक के मन मे यह भय समा गया है कि उसे कुछ दिखाई नही देता और दूसरे के मन मे यह कि वह सिर्फ गीत गा सकती है, बोल नही सकती। दोनो के अभिभावक एक ही मानसिक चिकित्सक के पास जाते है और

डाक्टर बडी चतुराई और धैर्य से उनके अतर्मन मे बसे-दबे आकर्षण को उभार कर उन्हे प्रकृतिस्थ कर देता है। इस प्रक्रिया मे डाक्टर आदिम युग से चले आने वाले प्रणय-व्यापार की ऊहापोहात्मक झाकिया देता है और उपन्यास मे मनस्तत्त्व के साथ-साथ पुरातत्त्व और नृतत्त्व का आयाम भी समाविष्ट हो जाता है। पर मूल समस्या की असदिग्ध महत्ता और वर्णन-कौशल के अतिरिक्त उपन्यास मे कुछ भी स्वाभाविक भाव-भूमि पर नही है—न कथा-क्रम न चरित्र-चित्रण। यह नही लगता कि हम किसी मानवीय समस्या से जूझ रहे है। ऐसा लगता है कि उपन्यास किसी पहेली के टूटे टुकडे जोड रहा हो।

पर विश्वम्भर 'मानव' के उपन्यासो 'कावेरी' और 'नदी' मे तो यह प्रणय-समस्या भी सच्चे रूप मे नही उपस्थित की गई है। दोनो उपन्यासो की घटनाए-पात्र-स्थल भिन्न है, पर दोनो का मूल ढाचा एक ही है। 'मानव' ने दोनो मे यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि पुरुष और नारी के बीच जो स्वाभाविक आकर्षण होता है वह पार्थिव मिलन की कामना नही करता। यही नही, पार्थिव मिलन उसे दूषित करता है। फल-स्वरूप वे कम से कम पुरुष के लिए दो नारियो की अनिवार्य आवश्यकता के हामी है—एक पत्नी, एक प्रेयसी। प्रणय का यह फिलसफा सामाजिक मध्ययुगीन रूढियो के स्वीकार पर टिका है, और उनके प्रति विद्रोह को अनावश्यक ही नही अवाछनीय भी ठहराता है। इस प्रकार मानव जीवन की यह पवित्रतम वृत्ति सस्ते रोमास का रूप ले उठती है, और व्यक्तित्व की पूर्णता के सदर्भ मे नही अपने आप मे काम्य बन बैठती है। आधुनिक विचार और जीवन से तो यह कोसो दूर है ही, उसके आधार पर खडे कथानक भी बडे यात्रिक और अस्वाभाविक हो उठते है।

इस दृष्टि से 'पराई डाल का पछी' का वातावरण जीवन्त ही नही, यथार्थ की स्पष्ट छाप लिए है। यहा लेखक समस्या से बचने के लिए सिद्धान्त की ओट मे विषम रूढिगत जीवन के खोखलेपन पर रोमान्स का खोल नही चढाता, वह सीधा समस्या से जूझ जाता है। विराट नगर के कृत्रिम जीवन से उत्पन्न अनैतिक उत्तेजक वातावरण मे फसकर सीमित साधनो का एक युवक कितनी जल्दी अपनी फहड अशिक्षित पत्नी से विरक्त होकर गृहस्थी मे घुटता रहता है और पराये परिवारो की स्वस्थ आकर्षक नारियो के प्रति काम-ग्रस्त हो जाता है, इसका चित्रण लेखक ने बडे साहस से किया है, और उसका सच्चा विश्लेषण कर उपन्यास मे बनावट नही आने दी है। वैसे भी उपन्यास-लेखक अमरकात कलम के धनी है और फिर पक्की प्रेमचन्द शैली के उत्तराधिकारी होने के नाते निम्न-मध्यवर्ग के जीवन की उनकी पकड विश्वसनीय है। पर लेखक दीपक पर अपने ध्यान को अनावश्यक रूप से केन्द्रित कर लेने के कारण उसकी पत्नी अहिल्या और उसकी प्रेयसी रेखा के चित्रण मे असन्तुलन कर बैठा है। जहा यथार्थ का आग्रह महत्त्वपूर्ण हो वहा अहिल्या को ऐसा अतिशय सरल चित्रित करना, और रेखा को इतनी छोटी उमर मे इतनी चालाक दिखाना सही नही हुआ। लगता है कि उपन्यास मे बरबस घटनाओ की सृष्टि कर उसे एक पूर्व निश्चित अत की ओर धकेला जा रहा है। यही कारण है कि उपन्यास उपदेश-

वादी बन बैठा है---जैसे कि बीस-तीस साल पहले के उपन्यास होते थे। जिस समस्या को इतने साहस से उठाया गया था उसे बाद मे जहा की तहा छोड कर घटनाओ के घटाटोप मे उपन्यास का अन्त कर देने से पाठक को निराशा ही हाथ लगती है। असल मे यह समस्या इतनी गहरी है कि वह कुछ अधिक सूक्ष्म चित्रण की माग करती है। फिर भी, उपन्यास अपने उद्देश्य मे सफल है, और पत्नी की सही प्रतिष्ठा की ओर स्वस्थ प्रयत्न है।

पत्नी ही नही---नारी-मात्र की सही प्रतिष्ठा की दिशा म बडा सबल प्रयत्न है 'चदन-चादनी' मे जिसके द्वारा विख्यात कहानी-लेखिका चन्द्रकिरण सौनरिक्सा ने हिन्दी उपन्यास मे प्रवश किया है। लेखिका की सिद्ध लेखनी और परिपक्व कला के कारण यह उपन्यास उन दोषो से मुक्त है जो बहुधा प्रारम्भिक रचनाओ मे होते है। उपन्यास का परिवेश आज का नागरिक जीवन है, पर निम्न-मध्यवर्ग का चित्र होने के कारण वह विनोद चन्द्र पाण्डे के उपन्यासो से सर्वथा भिन्न है और अधिक व्यापक है। साधारण परिवार की साधारण कन्या गरिमा किस प्रकार अपनी लगन और दृढता से सारे अवरोधो, अन्धविश्वासो और विरोधी सयोगो से जूझती अपने जीवन को सार्थक बनाकर अपने दाम्पत्य को सुखी करती है, इसका अत्यन्त यथार्थ, मार्मिक और सूक्ष्म चित्रण इस उपन्यास मे मिलता है। प्राचीन पथी रूढिया, कृत्रिम जीवन की विकृतिया, आर्थिक अभाव-जनित विवशताए---उपन्यास मे सब अपने स्थान पर उपलब्ध है। लेखिका ने अन्त तक पहुचने मे कोई जल्दी नही की, और किसी भी समस्या को कठिन मानकर टाला भी नही। यथार्थ जीवन के छोटे-छोटे विवरण जो कथा और पात्रो को मासलता एव गहराई देते है, लेखिका ने बडे कौशल से सजोए है।

प्राय ऐसे ही गुणो से विभूषित है 'अतृप्ता' जो कान्ता सिनहा का पहला उपन्यास है तथापि उसमे माधुर्य अधिक है। सौनरिक्सा की वर्णन-शैली यथार्थ के आग्रह पर टिकी है, कान्ता सिनहा की शैली भावो के आग्रह पर। आत्मकथात्मक उपन्यास मे यह स्वाभाविक भी है। 'अतृप्ता' एक ऐसी शिक्षित उच्च-मध्य-वर्गीय महिला की कथा है जो बचपन की एक छोटी भूल के कारण अपने अभिभावक बडे भाई द्वारा सताई जाती है, और अन्त मे जब त्रास असह्य हो उठता है तो परिवार की झूठी प्रतिष्ठा की चिन्ता न कर अपना मार्ग स्वय बनाती है। 'अतृप्ता' मे एक भाव-प्रवण विचारवती नारी का नवनीत-पूत हृदय मुखरित है, उसके मिठास मे बडा सरस सगीत है और उसकी परिणति मे नारी की सहज सच्ची सार्थकता का उद्घोष है। ये पृष्ठ लेखिका ने आत्म-प्रेरणा से ही लिखे है।

अभी तक हमने जिन उपन्यासो की चर्चा की है उनका सीधा सम्बन्ध सामाजिक जीवन और उसके परिवेश से है। यद्यपि मूल्यो और समस्याओ की उथल-पुथल के प्रतिफल के रूप मे वे युग-चेतना से सम्बद्ध है तथापि युग-बोध उनमे प्रधानतया नही है। वह तो उन्ही कुछ उपन्यासो मे उभर कर आया है जिनमे इतिहास एक आयाम के रूप मे ग्रहण किया गया है।

ऐतिहासिक सन्दर्भ मे युग-बोध की चेतना जिस उपन्यास मे सब से उत्कट रूप मे विद्यमान है वह है डॉ० रघुवश का 'अर्थहीन'। सत्तर पृष्ठो का यह उपन्यास अनेक कारणो से विचारणीय है। यद्यपि व्यावसायिक प्रकाशन की रूढियो के कारण इस बेचारे को स्वतन्त्र अस्तित्व भी नसीब न हुआ (उसके साथ बहुत-सी कहानिया नत्थी कर पुस्तक को स्थूल बनाया गया है) तथापि वह इस वर्ष की विशिष्ट उपलब्धि है। एक सवेदनशील युवक की प्रतिक्रियाओ के माध्यम से सामाजिक परिवेश और ऐतिहासिक सदर्भो का उद्घाटन करते हुए लेखक ने युग-चेतना के कई स्तरो का उद्घाटन किया है और निकट अतीत मे स्वीकृत आदर्शों और मूल्यो की व्यर्थता व्यजित की है। साथ ही उसमे मन की उस दुविधा की भी तीखी व्यजना है जो एक भाव-जगत् के तिरोहित हो जाने और दूसरे भाव-जगत् के निर्मित न हो पाने की शून्यता से उत्पन्न होती है। सामन्तीय परिवेश मे जन्म ले कर युवक अधुनातन जीवन मे सचरण करता है पर खोजने पर भी वह ऐसे सूत्र नही पाता जो उसके भावो को स्थायित्व और जीवन-कर्म को गति दे सके। उपन्यास मे वर्णित तटस्थता और एक अस्पष्ट अमूर्तता इसी दुविधा को रेखाकित करती है। विगत इतिहास से अविच्छिन्न रूप मे जुडा पर वर्तमान के यथार्थ को उसकी समग्रता मे आत्मसात् करने का यह दुष्कर कार्य इसी शैली मे सभव था जो घटना मे अधिक उसकी मर्म-प्रेरणा को देखती है और कही भी वाचाल नही होती। पढते-पढते उपन्यास की स्थिर दृष्टि के पीछ छुपी हमे वह विकलता दिखाई दे जाती है जो मूल्यो को नई सार्थकता देने के प्रयास मे जन्म लेती है। इसमे सन्देह नही कि साधारण पाठक को रमाने लायक रस का इसमे अभाव है और उसकी वैचारिकता कही-कही सचेष्ट लग उठती है पर वह सम-सामयिक जीवन मे सोद्देश्यता खोजन और पाने का प्रखर प्रयत्न है।

इसके विपरीत 'न मीत न मजिल' रेवती सरन शर्मा का ऐसा उपन्यास है जिसे साधारण पाठक बीच मे छोड ही नही सकता। विभाजनोत्तर विश्रृखलित काल मे राज-धानी के जीवन का यह सरस और चुटीला चित्र एक ऐसी असहाय युवती के माध्यम से उपस्थित किया गया है जो अभाव की यातना को सह न पाने के कारण अनुचित और अनैतिक व्यवहार की ओर आकर्षित होती है। पर विभाजन के कथानक से 'झठा सच' की याद आना स्वाभाविक है और यह स्मरण इस रचना के लिए लाभदायक सिद्ध नही होता। निश्चय ही 'न मीत न मजिल' का स्वर 'झूठा सच' की अपेक्षा बहुत मद और उतरा हुआ है, साथ ही उसमे एक अदूरदर्शिनी नारी की सफलता की चाह ही अधिक प्रकट होती ह उस काल का सर्वव्यापी उत्ताप नही।

इतिहास का यह आयाम सर्वाधिक प्रखरता से प्रयुक्त हुआ है, नरेश मेहता के विराट् उपन्यास 'यह पथ बन्धु था' मे, जो मालवा-प्रदेश के 'एक निपट साधारण जन की दूब गाथा' है और जिसमे उत्तर-भारत के सन् १९२० से सन् १९४५ तक के जीवन का बडा ही प्रामाणिक और विशद चित्र है। समग्र जीवन का जो वैविध्य इस उपन्यास मे है, वह अपने आप मे एक बडी उपलब्धि है। पर उपन्यास की उपलब्धि उतनी ही नही है। श्रीधर ठाकुर देशी रियासत के एक सामान्य अध्यापक है, उनके पिता पडित

और वैष्णव भक्त है, उनके भाई सफल दुनियादार है। अध्यापक से भी अधिक श्रीधर भाव-प्रवण युवक है जो हर सिद्धात को जीवन मे अनजाने ही उतारने लगते है और गौतम बुद्ध मे लेकर विवेकानन्द तक की जीवन-चर्चा जिनकी चेतना मे बसी हुई है। फलस्वरूप वे और उनका समस्त परिवार जिस अग्नि-परीक्षा का सामना करता है उसकी करुणा भावो का परिष्कार तो करती ही है अपने निपट सत्य से हमे अभिभूत कर लेती है। अन्त मे जब श्रीधर पच्चीस वर्ष तक जीवन-प्रयोग करते-करते खाली हाथ अपने उजडे घर को लौटते है तब हृदय वैसे ही दूषित हो जाता है जैसे 'गोदान' मे होरी के तिल-तिल मिटने से ।

उपन्यास की प्रामाणिकता और उसमे वर्णित जीवन की यथार्थता असदिग्ध है। कवि-सुलभ अन्तर्दृष्टि से नरेश प्रत्येक क्षण की विकृति प्रस्तुत करते है और एक भी स्थल ऐसा नही है जहा वे प्रभाव उत्पन्न करने मे चूकते हो। न जाने कितने पात्र है इस महा उपन्यास मे पर एक मालती दीदी को छोड कर सब मानो सीधे जीवन से पुस्तक मे आ बैठे हो। और मालती दीदी भी हमे इतनी अविश्वसनीय नही लगती, अधिक से अधिक वह शरद की राजलक्ष्मी का स्मरण दिलाती है।

कथा-सयोजन और शैली की दृष्टि से भी नरेश मेहता की उपलब्धि असाधारण है। वर्तमान से प्रारम्भ होकर वर्तमान पर ही समाप्त होने वाली इस पच्चीस वर्ष की कथा को लेखक ने पश्चादवलोकन के सहारे बडी सघनता दी है, एव घटना-सकलन मे बडी सूझ-बूझ का प्रमाण दिया है। वर्णन और शैली मे औचित्य का ऐसा प्रसन्न समावेश है कि मालवा का रग-गध-रसमय प्रदेश प्राणो मे बस जाता है तथापि उसकी सार्वजनीनता अक्षुण्ण रहती है। हम उपन्यास की वस्तु को मानो एक साथ ही पचेन्द्रियो से ग्रहण करते है। तिसपर तथ्य और ललित शब्दावली के साथ चित्रात्मक व्यजना एव सार्थक और अनोखी उपमा-उत्प्रेक्षाए वर्णन को बडी प्रखरता और दीप्ति दे देती है। आदर्शो के कवच ओढे ओछे क्षुद्र पात्रो के हाथो परास्त होता हुआ श्रीधर जब अपनी उपलब्धि-हीन परिणति पर पहुचता है तब सारे उपन्यास की सम्पूर्णता एक जीवन-दर्शन का रूप ले उठती है और उसे महाकाव्यत्व के गुण से मण्डित कर देती है। तुलना करना तो विस्तार की अपेक्षा रखता है, पर 'यह पथ बन्धु था' हिन्दी के प्रथम श्रेणी के उपन्यासो मे सहज ही रक्खा जा सकता है। जीवन को समग्र और स्थिर दृष्टि से देखना जो उपन्यास की अति प्रसिद्ध परिभाषा है वह इससे चरितार्थ होती है। 'यह पथ बन्धु था' का प्रकाशन-वर्ष होने के नाते सन् १९६२ हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र मे बहुत दिनो तक याद किया जायेगा।

हिन्दी कहानी : १९६२

मोहनसिंह सेंगर

भारत ही नही, ससार-भर के देशो मे नवीन साहित्यिक माध्यम के रूप मे आज 'कहानी' या 'छोटी कहानी' बडी ही लोकप्रिय ओर व्यापक होती जा रही है । इसकी विधा, वस्तु और शैली मे नित्य नए परिवर्त्तन हो रहे है ।'एक सब से बडी बात यह हुई है कि दूसरे विश्व-युद्ध की समाप्ति के साथ ही जो राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक एव वैयक्तिक परम्पराए, धारणाए एव मर्यादाए समाप्त हुई और युद्ध-काल मे तथा युद्धोत्तर-काल मे जीवन के जो परम्परागत कारण बदले एव नए बने तथा जिन मूल्य-मान्यताओ ने एक आवश्यक मजबरी बनकर जीवन मे अपनी जगह बनाली, उनके फल-स्वरूप सामाजिक ओर पारिवारिक ही नही, व्यक्ति-व्यक्ति के सबधो मे भी बडा उतार-चढाव आया । चूकि आज का साहित्य जीवन को लेकर चलता है, वह भी इसके गहरे असर से बच नही सका । इसे लेकर जो साहित्य लिखा गया और चित्रपटो के रूप मे उसका जो व्यापक प्रचार-प्रभाव जन-साधारण के जीवन, आचरण, चिन्तन आदि पर हुआ, वह स्पष्ट है । भारतीय भाषाओ का साहित्य भी इस प्रभाव से बच नही सका है । आज पाश्चात्य शैली के ढग पर भारतीय जीवन को लेकर भी कम कहानिया और उपन्यास नही लिखे जा रहे । कही-कही तो ये देश और भाषाओ की सीमा भी लाघ गए है ।'

'भारत मे इसी के साथ एक और बडा परिवर्त्तन आया---वह था देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता । यह हमारे लिए एक सर्वथा नवीन अनठा प्रेरणा एव प्रभाव-स्रोत साबित हुआ । शताब्दियो से रुधा हमारा राजनीतिक, अथनीतिक और सामाजिक जीवन जैसे अचानक नई ताजी हवा का एक खजाना सा पा गया । फलस्वरूप हर क्षेत्र मे नई आशाए, नई महत्त्वाकाक्षाए, नई सभावनाए और नई मल्य-मान्यताए अकुरित हुई । परिवर्त्तनो की इस बाढ मे कहानी का बना बनाया रूप, पुराना नुस्खा और उद्देश्यपरकता डगमगा गए । नए आयामो की खोज शुरू हुई । नए रूपो के प्रयोग आरम्भ हुए । घटना और पात्र-प्रधान कम रहकर कहानी भावना और वातावरण-प्रधान अधिक हो गई । उसकी विधा का विविध रूपो मे विकास हुआ ।'पाठक क्या चाहता है, केवल यही कहानी का प्रमुख और निर्णायक ध्येय नही रह गया । उसकी रुचि-परम्परा को लेखक ने नई चेतना, नई भावना और जीवन के विश्लेषणशील भावो की नई अभिव्यक्ति से उजागर ओर चमत्कृत करना शुरू किया । कई दिशाओ मे तो अब तक चले आ रहे आदर्शवाद, भावुकता और कल्पना को रगीनी के कठघरे को तोड कर कहानी ने जीवन के यथार्थग्राही आग्रह और आरोप को अपनाकर कुछ पाठको को एक तरह का आघात भी पहुचाया ।

दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि 'आज जीवन के दिखाऊ आदर्श और यथार्थता के बीच का भ्रम और सकोच का पर्दा तेजी से हटता जा रहा है और हर कदम पर जैसे नग्न सत्य हमारे सामने आ खडा होता है । पूर्व मान्यताओ और पूर्वाग्रहो का मर्मभेदी विश्लेषण आज उनके नाम पर जीवन-व्यापार पर पडे पर्दे को धीरे-धीरे अलग खीच रहा है । इसमे आज कहानी की 'रचना' के आयाम, परिभाषा, शैली और वस्तु-तत्त्व मे बडी तेजी से परिवर्त्तन आ रहे है ।' इससे लेखक के सामने एक दुविधा भी आ गई है । पहली तो यह कि वह युग-धर्म, युग-सत्य और जीवन की स्थिति-कामनाओ के तकाजे से मुह नही मोड सकता, और दूसरी यह है कि वह जिस समाज मे रह रहा है, जिनके लिए वह लिखता है, उनके प्रति उसमे एक दायित्व-बोध भी है । अपने मन और मस्तिष्क को चाहे वह इन दोनो के बीच समझा-बुझाकर कोई मध्य मार्ग तय कर भी ले, फिर भी तो समाज के कल्याण और जीवन के उदात्त लक्ष्य को वह भुला नही सकता ।

हमारे देश मे एक और कठिनाई यह भी है कि समय काटने या मनोरजन के लिए हम भले ही अप्रत्यक्ष मे घटने वाली किसी अटपटी, प्रगतिशील और सुधारात्मक बात को कहानी या उपन्यास मे दरगुजर कर ले, पर जब उसका साबका हमारे निकट के जीवन से पडता है, तो हम सकपका जाते है । 'स्वय अपने या अपनो के जीवन के कटु, अप्रिय और नग्न सत्य को देखने-सहने का जैसे हममे नैतिक साहस और बौद्धिक क्षमता ही नही । ओर आज की कहानी (तथा उससे कही अधिक उपन्यास) मानो इसी सत्य को उघाड कर रखने मे प्रवृत्त है । जिन बातो की पहले कभी चर्चा नही की जाती थी या परोक्ष सकेत-भर कर दिया जाता था, आज उनका विवेचन-विश्लेषण खुल्लमखुल्ला किया जाने लगा है । इसमे कभी-कभी और कही-कही अति भी हो जाती है, जो सुरुचि की दृष्टि से ही अवाछनीय नही, बल्कि शिल्प की दृष्टि से भी भद्दा है ।' पर यह तो मानना ही पडेगा कि ज्यो-ज्यो हम कृषि-सभ्यता से औद्योगिक सभ्यता की ओर अग्रसर हो रहे है, ग्रामो के मूल्य पर बडे-बडे शहर बन रहे है, हमारे जीवन और विचारो मे, मूल्यो और मान्यताओ मे मौलिक परिवर्त्तन हो रहे है । इसी की क्रिया-प्रतिक्रिया आज कहानी (और उपन्यास भी) मे अभिव्यक्ति पा रही है । जिस तरह कोरी भावुकता या आदर्शवाद को लेकर आज जीवन-यापन सभव नही, उसी तरह इनके खोखले आधारो पर आज कहानी के पात्र भी खडे नही किए जा सकते । और चकि जीवन और उसकी यथार्थता की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नही है, कहानी के रूप और विधा की भी कोई निश्चित परिभाषा देना सभव नही । इसीलिए किसी कहानी के अश-विशेष को लेकर नैतिक-अनैतिक या स्वस्थ-अस्वस्थ की बहस मे पडना समीचीन नही । कहानी को तो उसके सपूर्ण प्रभाव के रूप मे ही देखा जाना चाहिए । हा, उसकी यथार्थता यदि जीवन को, पाठक के मन को नीचे ले जाने वाली हो, तो अवश्य ही वह हेय ही कही जायगी, भले ही उसका शिल्प कितना ही विचित्र ओर पूर्ण क्यो न हो ।'

पिछले दिनो हमारे यहा नई और पुरानी कहानी को लेकर काफी विवाद चला । नयेपन को नया मानने में किसी को कोई आपत्ति नही होनी चाहिए, पर इसके लिए

किसी भी प्रकार का आग्रह, दुराग्रह या हठ शोभनीय नही। कहानी पर समय की छाप अवश्य होती है। पर केवल इसी कारण उसे कुछ समय बाद 'पुरानी' कहना समीचीन नही, क्योकि कहानी के कहानीपन को 'नया' या 'पुराना' विशेषण से युक्त नही किया जा सकता। इसी तरह नयेपन के नाम पर जीवन के विभिन्न पहलुओ, क्रियाओ, अभाव-अभियोगो, घटनाओ, भावनाओ, प्रतिक्रियाओ आदि का इतिवृत्त-मात्र जुटा देना ही तो कहानी नही है। इधर नई कहानी के नाम पर कुछ ऐसे प्रयोग भी देखने मे आए है। जब तक तत्त्व और शिल्प का, वस्तु और शैली का सुन्दर एव समीचीन सामजस्य नही होता, कहानी मे जान आ ही नही सकती। हमारा 'कथ्य' जो भी कुछ हो, अगर उसका माध्यम 'कहानी' है, तो उसकी सीमाओ और मर्यादाओ को निभाना भी जरूरी है। यह किसी सकीर्ण दायरे या पारिभाषिक रूढता का नाम नही है। इसके रूप और प्रकार असख्य एव अनिश्चित है। लेखक की लेखनी द्वारा उसकी प्रतिभा इसके विभिन्न रूपो एव विधाओ का सृजन करती है। आज की कहानी का बहुलाश इसी दिशा मे बढ और पनप रहा है।

१९६२ मे प्रकाशित सारी कहानियो का लेखा-जोखा करना कोई आसान काम नही। कुल मिलाकर इस वर्ष मे दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्रो मे कम-से-कम भी ३०० के लगभग कहानिया तो निकली ही होगी। इन सब को पढकर कोई विवेचनात्मक विहगावलोकन प्रस्तुत करना भी कम समय और श्रम-सापेक्ष्य नही। अत हमने 'सैपल सर्वे' के रूप मे इस वर्ष मे छपी कुछ कहानियो को ही लिया है। इस दृष्टि से इस विहगावलोकन को किसी भी मानी मे सपूर्ण और तुलनात्मक नही माना जाना चाहिए।

इस वर्ष मे प्रकाशित जो कहानिया हमने पढी, उनमे हमे जिसका स्मरण आज भी है, जिसकी सुखद छाप मन पर अभी भी बनी हुई है, वह है मोहन राकेश की कहानी "एक और जिन्दगी"। राकेश ने इस वर्ष शायद अधिक कहानिया नही लिखी, पर इस एक कहानी मे ही जैसे उन्होने अपने दीर्घकालीन चिन्तन और कल्पना-प्रयास को उडेल दिया है। यह 'एक और जिन्दगी' की कहानी है, जो पहली जिन्दगी की छाया बनकर, उसका दूसरा अध्याय बनकर साथ-साथ चल रही है। कहानी के पात्र—प्रकाश, पलाश, बीना और निर्मला—जैसे अपने पूरे रूप मे पाठक के मन पर छा जाते है। कुहासे से कहानी का आरम्भ और भीगे हुए कुत्ते के साथ उसका अन्त प्रतीकात्मक है, जो कहानी के शिल्प को उभार और चमका देता है। कहानी जरा लम्बी जरूर हो गई है, पर इस कारण न तो पाठक ही कभी कही ऊबता है और न लेखक ही व्यर्थ विस्तार का दोषी कहा जा सकता है। सभी दृष्टियो से इसे इस वर्ष की एक श्रेष्ठ और विशिष्ट कहानी कहा जा सकता है।

दूसरी कहानी चन्द्रगुप्त विद्यालकार की "ज्वार और भाटा" है। अमित पहलगाव जाता है। जिस होटल के कमरे मे वह ठहरा था, वही ठहरे एक यात्री ने २१ वर्षीया मालिन से कुछ फूल मगवाए थे। जब मालिन फूल देने आती है, और उस यात्री की जगह अमित को देखती है तो जरा अचकचाती है। पर अमित फूल खरीद लेता है। वह उसके प्रति

इतना आकृष्ट होता है कि एक दिन रात को अंधेरे मे छिपकर वह उसके घर पहुचता है। खिडकी के बाहर से ही वह उसे ऊन कातते देखता है। उसके उघडे अगो को देखकर वह बेकाबू-सा हो जाता है। इसी बीच मालिन का खाट पर सोया हुआ बच्चा रोता है। वह उसे उठाकर अपनी छाती से लगा लेती है। उसका यह मातृ-रूप देखकर अमित के मन मे एक दूसरे ही ढग की प्रतिक्रिया होती है और वह लौट पडता है। सभव है इसे कुछ लोग आदर्शवादी कहानी कहे। पर परिभाषाओ या 'कैटेगोराइजेशन' के चक्कर मे न पडकर हम केवल इतना ही कहेगे कि यह एक एकाकी व्यक्ति के मन के सहज-स्वाभाविक व्यापार का बडा ही सुन्दर चित्रण है। कहानी समाप्त कर सुख और सन्तोष की साम लेनी पडती है। शिल्प की दृष्टि से भी कहानी उत्तम है।

खुशी की बात है कि कई पुराने लेखक अभी भी कहानी लिख रहे है। प्रेमचन्द-युग के यशस्वी लेखक विनोदशकर व्यास की 'मृत्यु का पुजारी' पढ कर खुशी हुई। पर लगता है व्यासजी इसे अपनी ही पहले की शैली की ताजगी, सजीवता, कसावट और व्यक्तित्व की छाप नही दे पाए। गफूर का वर्णन खासा अच्छा है, पर उसके अफीमची होने, पत्नी के खुले बाजार मे जा बैठने, हसीना से उसका प्रेम होने, उसके पाकिस्तान चले जाने और फिर अन्त मे उसके फरसे के खो जाने आदि से पाठक पर न तो कोई गहरा असर ही पडता है, न उसके प्रति उसके मन मे सहानुभूति ही उत्पन्न हो पाती है। इसे कहानी की दुर्बलता ही कहा जाएगा। वैसे सच तो यह है कि कहानी से ज्यादा यह स्कैच या रेखाचित्र ही अधिक।

द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' की 'एक शिल्पहीन कहानी' को लेकर तो एक पत्रिका मे खासी चर्चा भी रही। जिस शिल्पहीन जीवन-कहानी को लेकर यह लिखी गई है, उसने कहानी के शिल्प को भी हीन नही, तो क्षीण अवश्य किया है। हरेकृष्ण की बहू विमला और मोहनलाल की बहू शान्ता के व्यवहारो का अन्तर दिखाकर एक के सौभाग्य और दूसरे के दुर्भाग्य का चित्रण किया गया है। शैली के पुरानेपन के सिवा बहुत-कुछ ठूसने के प्रयत्न ने कहानी को व्यर्थ विस्तार का दोषी बना दिया है। कहानी बडी सामान्य-सी ही है। इसी तरह 'दाग' कहानी मे भी लेखक ने राधा के चेहरे के एक छोटे-से दाग की गलत रिपोर्ट से उसके मन मे कोढी और दुश्चरित्र होने की जो प्रतिक्रिया दिखाई है और उसके बाद उसके प्रेमी के मन की जिस स्थिति का वर्णन हुआ है, वह कहानी के परम्परागत 'टाइप' का ही अधिक द्योतक है। बहरहाल इसे पढकर बहुत आनन्द नही प्राप्त होता। कहानी फीकी है।

यशपाल ने भी इधर कम ही लिखा है। पर उनकी साधारण-सी कहानी मे भी उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है। उदाहरण के लिए 'नारी की ना' ही लीजिए। वैसे है यह विश्वामित्र और मेनका की पौराणिक कथा को लेकर। मेनका के नृत्यो और शृगार से आकृष्ट होने के बजाय जब विश्वामित्र उसकी दासी के एक ही कटाक्ष से आकृष्ट हो उसका पीछे करते है, तो मेनका हतप्रभ हो जाती है। लौटकर वह इसकी शिकायत कामदेव से करती है और इसका रहस्य पूछती है। कामदेव उसे समझाते है कि मर्त्यलोक की नारी

अनिच्छा और भीरुता के नाट्य से ही नर को वश मे करती है। यह भेद मर्त्यलोक की नारी का चातुर्य है। जब से नर भोक्ता स्वामी और नारी भोग्या समझी जाने लगी, अपने चातुर्य से नर के अहकार को उकसाने के लिए नारी स्वय कामत्रस्त और भोग्य होने का नाट्य करके ही अपना प्रयोजन पूरा करने लगी। लेखक के इस मार्क्सवादी समाजतात्त्विक विवेचन से कोई सहमत हो या न हो, पर इतना स्पष्ट है कि मेनका की दासी के प्रति विश्वामित्र के आकृष्ट होने की साधारण-सी बात को लेकर लेखक ने कैसी तात्त्विक बात कह दी है। कहानी की रोचकता पर इसका कही भी प्रतिकूल प्रभाव नही पडा है। कम से कम बुद्धिजीवी पाठक तो कहानी को अवश्य पसन्द करेगा।

कुछ ऐसी ही बात कहानी मे अपना जवाब न रखने वाले कृशनचन्दर के बारे मे भी कही जा सकती है। 'यमला' एक इसी नाम के मेहनती जाट की कहानी है। वह साहूकार से मुकदमा हार जाता है। घर और जमीन छिन जाने के डर से वह घबरा जाता है। वह सपने मे पहले पटवारी के पास जाकर गिडगिडाता है। उसके कहने से फिर वह तहसीलदार के पास जाता है। वह उसे महकमा-माल के वजीर के पास भेजता है। उसने उससे आसमान पर रहने वाले मालिक के पास जाने को कहा। यमला एक ताड के वृक्ष पर चढ कर आसमान पर चढने लगा। वहा उसे एक टापू नजर आया। गोरे समुद्र मे कूद कर वह एक बूढे के पास पहुचा। यह शैतान था। इसने भी यमला को ऊपर वाले मालिक के पास जाने को कहा। यमला आगे बढा। चलते-चलते वह आकाशगगा की चोटी पर पहुचा। यहा एक औरत ऊपर वाले की तलाश मे भटक रही थी। इससे पूछकर यमला ऊपर वाले मालिक की तलाश मे और आगे बढा। निबुला पार कर वह उस जगह पहुचा, जहा सात रगो की रोशनियो के मीनार मे एक छ-सात साल का बच्चा बैठा मिला। पूछने पर उसने कहा कि मै ऊपर वाला मालिक नही हू। वह तो बहुत दूर है। वहा अभी तक कोई नही गया। एक हजार निबुले और एक हजार हयुले पारकर आकाशगगा और सूर्यचक्र को पार करना पडेगा। तब एक गाव आयेगा। वही धरती का मालिक रहता है। यमला ने अपनी छाती पर हाथ रखा। उसकी औरत ने उसे झिझोड कर जगाया और कहा कि साहूकार जमीन की कुर्की लाया है। इस पर बिगड कर यमला ने कहा— "कौन माई का लाल मेरी जमीन कुर्क करा सकता है? मै इसका मालिक हू!" स्वप्न के माध्यम से यमला को हुआ यह एहसास और आत्म-प्रतीति कहानी को सफल और सार्थक बना देते है।

कृशनचन्दर ही की एक दूसरी कहानी है 'काग' (अर्थात् बाढ)। एक पहाडी क्षेत्र मे बने बाध के दोनो ओर दो झील है। एक मे मर्द नहाते है और एक मे स्त्रिया। एक बार वहा बा० आई। स्त्रियो के नहाने की झील मे अचानक पानी बढने लगा। औरतो को उनके पतियो या प्रेमियो ने निकाल लिया। पर कुरूपा रज्जी एक चट्टान को पकडे अकेली खडी रही। पानी बढता ही गया। इस पर उस इलाके की सबसे सुन्दर युवती शादा के मगेतर हमदू ने उसे निकाला तो, पर पानी के बहाव के कारण वे दोनो दूसरे किनारे पर जा लगे। इसके बाद लेखक के शब्दो मे 'कुछ महीने तक हमदू और रज्जी का

कोई पता न चला। हा, कुछ महीने बाद जब हमदू और रज्जी आए, तो दोनो पति-पत्नी बन चुके थे और रज्जी के पेट मे एक बच्चा था।' इसके बाद लेखक ने सब प्रेमिकाओ और मगेतरो के रुष्ट होकर पूर्वनिश्चित व्यक्ति से अन्य किसी से विवाह करने की एक तालिका सी दे दी है, जो कहानी की दृष्टि से अनावश्यक ही नही, भद्दी भी लगती है। यह कोई अकगणित की भिन्न तो थी नही कि लेखक को सब मगेतरो और प्रेमिकाओ के साथ कोई दूसरा व्यक्ति जोडना अनिवार्य लगा। इसके बिना भी कहानी ठीक रहती, बल्कि अधिक अच्छी होती।

कृशनचन्दर ही की एक तीसरी कहानी है--'दिल के टुकडे'। कहानी एक दम्पति के बच्चा न होने की बात को लेकर शुरू होती है। आबादी बढने के दुष्परिणामो का दिग्दर्शन जरा लैक्चरबाजी-सा हो गया है। अन्त मे अधिक बच्चो से घर के सामान की तोडफोड का खासा अच्छा चित्रण किया गया है। पहले तो ऐसा लगा मानो लेखक परिवार-नियोजन के सम्बन्ध मे शायद कुछ कहने जा रहे है। पर उनका अधिक जोर बच्चो से होने वाली तोडफोड पर था, जिससे कहानी बडी कमजोर पड गई। तोड-फोड से बचने के लिए कोई बच्चे न चाहे, ऐसे घर शायद कम ही निकलेगे।

अमृता प्रीतम की कहानियो मे पजाब के ग्राम्य जीवन के कुछ अच्छे चित्र उभरे है। 'फेरो का भाडा' मे सुनीता का पति जब किसी दूसरी स्त्री के प्रेम-जाल मे फस जाता है, तो बीमार सुनीता पुत्र को ही फेरो का भाडा मानकर गले लगाती है। पता नही, इससे वह कहा तक आश्वस्त हो पाती है। इसके विपरीत 'एक दीप' की वीरो बालका भाई के पाव पर पडे प्रसाद को उठाकर खा लेती है, पर जब वह अपने विवाह से पूर्व उससे एक रात को अकेले मे मिलती है और कही भाग चलने को कहती है, तो बालका भाई, उसने अपने मन मे जो दिया जलाया था, उसे मर्यादा की फक से सदा के लिए बुझा देता है। बस! 'जूठा कुआ' एक विफल प्रेम की कहानी है। जूठे पानी से पैदा हुआ गेहू मनुष्य की नसो के रक्त को विकारग्रस्त कर देता है और देवता को पत्थर बना देता है। किन्तु इस अभिशप्त वाणी के बावजूद कहानी कुछ बन नही पाई।

श्रीकान्त वर्मा ने लिखा कम है, पर उनकी कहानियो की वस्तु और तत्त्व अधिक गहराई और पैनापन लिए होते है। उनकी 'साथ' कहानी कपिल और रति के साथ रहने के विरसतापूर्ण खोखले औपचारिक दाम्पत्य साथ पर एक बडा ही गहरा और करारा प्रहार है। इस उद्घाटन के पीछे एक भयकर दबी हुई चीख है, कराह है और है मूक आत्मघाती समझौता-वृत्ति। इसी तरह 'दूसरे के पैर' भी एक बडी ही सशक्त मनोवैज्ञानिक कहानी है। एक न्यूरोटिक कलाकार है, जो शशि को प्रेम करता था (यद्यपि एक जगह वह अपने-आप से कहता है कि उसने उससे कभी प्यार नही किया!) उसने शशि का एक चित्र बनाया, जिसके पाव पीछे की ओर बनाए। इसका शीर्षक दिया उसने--'शशि एक लौटता हुआ प्रेम।' पर शशि ने इसे देख कर कहा कि यह चित्र मेरा नही, तुम्हारा है। उसने उसके किनारे पर लिख दिया--'स्त्री के पैरो पर खडा प्रेम'। हकीकत भी कुछ यही थी। जब उसके मित्र अविनाश ने उससे कहा कि वह शशि को लिख देगा कि

वह कई दिनो से बीमार है, तो शशि के आने की आशका से वह कही चले जाने की सोचता है , पर गाडी तक पहुच कर भी जाता नही । उसके पाव जैसे जमीन से चिपक जाते है । पुरुष के परावलम्बन का यह व्यगात्मक चित्रण सचमुच अपनी विशिष्टता लिए है ।

'शिल्प, वैविध्य और अनुभूतियो की सूक्ष्म झाकिया देते हुए जो कहानिया राजेन्द्र यादव ने लिखी है, उनमे से 'किनारे से किनारे तक' और 'प्रतीक्षा' विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।' 'किनारे से किनारे तक' नाव के किनारा छोडने से आरम्भ होती है । मानिक के मन मे आता है कि रूबी को पानी मे धक्का दे दे । क्यो, इसीका विवेचन कहानी मे है । विवाह से पहले मानिक को सन्देह था कि वह 'परफैक्ट मैन' है या नही । पर डाक्टर ने देखकर उसे विश्वास दिला दिया था कि वह है । विवाह से पूर्व उसकी स्त्री प्रमिला का कान्त से प्रेम था । जब उसने अनूप को जन्म दिया, तो मानिक को सन्देह हुआ कि इसके जन्म का निमित्त वह नही (शायद कान्त ही) है । एक बच्चा उसके और हुआ , पर सन्देह और दुविधा से उसका मन मुक्त नही हो पाया । इसीका बदला लेने के लिए वह कान्त के बच्चे रूबी को नौका से धक्का देकर बदला लेने की बात सोचता है । उसके मानसिक द्वन्द्व का चित्रण बडा ही स्वाभाविक और टिपीकल हुआ है ।

'प्रतीक्षा' एक नारी-हृदय की दुविधा, दया, उलझन और स्नेह से भीगी हृदयग्राही कहानी है । गीता अपने यहा एक फर्म की टाइपिस्ट नन्दा को रख लेती है । उसका एक सहपाठी हर्ष उससे मिलने आता है । वह उसके सामने इतनी खुल-बिखर जाती है कि गीता को अच्छा नही लगता । दोनो मे कहा-सुनी होती है । नन्दा अपनी एक दोस्त मिस रेमड के यहा चली जाती है । गीता समझा-बुझाकर फिर उसे अपने यहा ले आती है । उसकी चप्पलो से खूब मरम्मत करती है । फिर रोकर उससे माफी मागती है । हर्ष फिर आता है । नन्दा उसके साथ एक होटल मे जाकर रहती है । स्थिति समझ कर गीता दोनो को अपने घर ले आती है ।'इसमे एक रीते हृदय की स्वामिनी नारी का बडा ही सहज-स्वाभाविक मातृत्वपूर्ण चित्रण है, जो एक अनजान लडकी को अपनी सब-कुछ समझने लगती है और इस स्नेह-बधन के कारण यह भूल जाती है कि उस पर उसका कोई 'अधिकार' नही--वह कब किससे मिलती है, इसमे दस्तदाजी करने या उसे चप्पलो से पीटने का तो बिल्कुल ही नही । गीता का जो रूप इसमे उभरा है, सचमुच एक अनूठा व्यक्तित्व है ।'

'कमलेश्वर की कहानिया इस वर्ष नयेपन से ज्यादा निराशा लिए लगी । 'खोई हुई दिशाए' तनहा खडे चन्दर की लम्बी निराशा-भरी कहानी है, जिसके चारो तरफ उदासी और खोखलापन ही है ।'इन्द्रा, जिसे वह कभी प्यार करता था, अब किसी दूसरे की पत्नी हो चुकी थी । पत्नी निर्मला का शरीर पाकर भी मन जैसे उसे नही मिला । वह जैसे उसके लिए एक अजनबी है । जब वह पास सोई निर्मला को जगाकर पूछता है कि 'मुझे पहचानती हो ?' और दोनो एक-दूसरे की ओर ताकने लगते है, तो पाठक सचमुच दहल जाता है । पर ऐसे सत्य जीवन मे है । यही कहानी की सफलता है ।

'दुखभरी दुनिया' मे भी एक उदास शहर की नीरसता ओर निर्जीवता का बडा मर्मभेदी वर्णन है।'यह एक क्लर्क के जीवन की कहानी है। बिहारी बाब अपने लडके दीपू को इजीनियर बनाना चाहते थे, पर वह हिसाब मे कमजोर निकला। वे क्रुद्ध होकर उसे पीटते है। ऐसे व्यक्ति और घर हमारे देश मे कम नही। पर रोने और निराश होने-मात्र से ही क्या इसका विकल्प मिल गया ? इसके विपरीत 'दिल्ली मे एक मौत' मे एक धनी व्यक्ति की शव-यात्रा का बडा ही चुटीला ओर व्यगपूर्ण वर्णन है। पर 'कमरा और गली' मे विनोद की मर्मान्तिक विवशता, असहायावस्था जैसे आक्रोश पैदा करती है। एक कमरा है, एक पलग। रहते है उसमे युवा सरोज ओर उसका भाई विनोद। सरोज कही नौकरी करती है। इसे लेकर आसपास तरह-तरह की चर्चाए होती है। सरोज रवीन्द्र से विवाह कर लेती है। दोनो उसी कमरे मे रहने लगते है और विनोद को नीचे गली मे चारपाइ डालकर सोना तथा लैम्प-पोस्ट के सहारे पढना पडता है। नई कहानी के विनोद का क्या यही चित्रण पर्याप्त है ? इतनी मानसिक यातना, अभाव आर जिल्लत सहकर भी उसमे पुरुष का अहम् नही जागा, अपने पावो पर वह खडा नही हो सका, यह क्या श्रेयस्कर है ? हम कमलेश्वर से कुछ अधिक की आशा करते थे--करेगे।

सदा की भाति इस वर्ष भी विष्णु प्रभाकर की जो कहानिया देखी, वही स्वच्छ, बनी-सवरी और जैसे साचे मे ढली। नारी-जीवन, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य और ग्राम्य जीवन के उनके चित्र अपनी विशिष्टता लिए होते है। 'अब मै सुन्दर हू' मे देवर-भाभी के होली खेलने के सामान्य से व्यापार के माध्यम से लेखक ने एक सधवा के रीते, प्यासे, विधवा के-से जीवन का बडा मार्मिक चित्रण किया है। पुरुष केवल नारी से ही क्यो होली खेलना चाहता है ? 'नारी को क्या पति ओर देवता की ही आवश्यकता होती है ? वे पूजा के पात्र हो सकते है, लेकिन प्यार के नही। ओर नारी चाहती है प्यार, रस, उन्माद। किसी का होने या किसी को अपना बनाने की साध। यही साध नारी को सधवा बनाती है, अन्यथा वह चिर-विधवा है।' नारी के मन की पीडा आर अन्तर्द्वन्द्व का इसमे बडा ही हृदयग्राही चित्रण हुआ है।'

'वर्षा, गुलाब और सनक' मे एक दूसरे ढग की नारी का चित्रण है। रमा (श्रीमती झालानी) की विशु की बीमारी की चिन्ता और भाभी के डाकुओ से मिले होने की बात कहानी का मर्मोद्घाटन है। 'अन्तत' की नायिका पति के अयोग्य होने के कारण उसे तलाक दे देती है। पर केशव के प्रेम के उत्तर मे वह उसकी न होकर स्वतन्त्र होकर रहने की ही बात कहती है। 'आदर्श, आसू और अधेरा' एक ऐसे मरीज की कहानी है, जिसने जिसे बचाया, उसीने इसे घायल किया और फिर उसकी प्राण-रक्षा के लिए अपना रक्त भी दिया। 'एक सतही जिन्दगी' मे चौधरी नदू के रूप मे ग्राम्य जीवन का सुन्दर चित्रण हुआ है। इन कहानियो की अगर कोई विशेषता है, तो वह है कथ्य और ध्येय की स्पष्टता और आदर्श का मानवीय स्तर पर निर्वाह।

मन्मथनाथ गुप्त अन्यान्य रचनाओ के साथ ही नियमित रूप से काफी और अच्छी कहानिया लिखते रहे है। 'भाषण' के माध्यम से उन्होने आज के भ्रष्ट अधिकारियो और

उनका पोषण करने वाले भ्रष्ट पत्रकारो तथा जाति-विशेष के नाम पर अनुचित लाभ उठाने वाले अवसरसेवी राजनीतिज्ञो का पर्दाफाश किया है। इसी तरह 'खल-नायक' मे एक खलनायक बनने के शौकीन की स्त्री द्वारा आत्महत्या कर लेने तथा उसके बम्बई जाकर खलनायक बनने की यथार्थवादी कहानी है। 'पूर्ण सत्य' की प्रेमिका अपने प्रेमी को छोडकर एक धनी पुरुष से प्रेम करने लगती है। पर वह एक वेश्या के यहा पहुचने लगता है। 'वकालत' मे भाई-भाई के सद्भाव-विश्वास को वकील ओर मुशी द्वारा हिसा मे बदल दिया गया, इसका चित्रण है। फिर वह अपने बडे भाई की हत्या तक कर डालता है। 'आश्चर्य' मे रेखा नौकरी करना चाहती है, पर योग्यता न होने से नौकरी नही मिलती। फिर उसका एक ४५-वर्षीय विधुर से विवाह हो गया। यह वही था, जिसने एक इटरव्यू मे उससे पूछताछ की थी। अपनी सखी विमला से वह जलने लगती है। उसके प्रेमी दीपक के बारे मे इसीलिए उसने अपने पति से कोई सिफारिश नही की। फिर भी उसे नौकरी मिल गई और सबको आश्चर्य हुआ। 'नग्न चित्र' एक ऐसी स्त्री की कहानी है, जो अपने कलाकार पति की नग्न मॉडल होने को राजी नही हुई। अन्त मे वह अपने पति द्वारा बनाई एक नग्न मूर्त्ति से ही कुचलकर मर जाती है। 'इतिहास मे पहली घटना' मे रमा के पति निरजन के एक अफसर द्वारा शराब पीकर रमा के साथ बलात्कार करने की घटना का चित्रण है। इसके बाद रमा अपने बाप के यहा चली जाती है और निरजन आत्महत्या कर लेता है। आज के शहरी जीवन के पापो के भडाफोड का यह एक अच्छा उदाहरण है।

मुद्राराक्षस की कहानियो मे नयापन तो जरूर है, पर अभी जैसे उसमे प्रौढता नही आ पाई है। उदाहरणार्थ 'एक जोडा हाकर' है एक अच्छी कहानी। पर श्रीमती बानी सान्याल की दिलीप के प्रति जो भावना-धारणा दिखाई गई है, उसमे एकदम अस्वाभाविकता चाहे न हो, पर कच्चापन जरूर है। 'विश्वास की बाहे अविश्वास की बैसाखिया' मे स्टीमर पर जाती हुई देवी अपनी सहेली कुन्तल को पत्र लिखती है। अपने कलाकार पति के प्रेम, विश्वास और चुहल का वह जैसा वर्णन करती है, उसके बाद उसका कही चला जाना और फिर न लौटना यथार्थता से अधिक भावुकता लगती है। जीवन की प्रौढता ने जैसे दोनो को ही छुआ न हो। इसी तरह 'नब्ज' की विजया राय दासगुप्ता को जैसा पत्र लिखती है और फिर नसीम के साथ तीन लडकियो की चुहलबाजी देखकर लौट पडती है और वह पत्र फाड डालती है। 'लिली, आईने मे' मे लेखक ने कैक्टस, गौतम बुद्ध के बुत, लैम्प, आलमारी की पुतली आदि के माध्यम से कुछ चौका देने वाली बाते कहलवाई है। 'क्लासिज्म' के नाम पर जो भाषण-विश्लेषण है, उससे लिली को ठीक-ठीक पहचानना-समझना मुश्किल ही है।

चुटीली और व्यग्यपूर्ण कहानिया लिखने मे हरिशकर परसाई अपना जोड नही रखते। 'अपने-अपने इष्टदेव' मे उन्होने आज के लेखक-जीवन और इष्टदेवो की कृपा से पुस्तक के पाठ्यपुस्तक बनने पर अच्छा व्यग्यपूर्ण चित्रण किया है। 'और वे सुख से नही रहे' एक बडी ही दिलचस्प कहानी है। मुनीर शामी के दोस्त हातिम भाई न सिर्फ उन्हे और उनकी

पत्नी को वक्त-बेवक्त बोर ही करते थे, बल्कि मुनीर की अनुपस्थिति मे उनकी पत्नी के पास उपहार लेकर भी पहुचते थे। उनमे १८ सवाल कर उन्हे सदा के लिए विदा करने की बात पढ़कर हसी आए बिना नही रह सकती।

'मन्नू भडारी ने इधर लिखा कम ही है, पर नारी-हृदय के चित्रण की उनकी मार्मिकता अभी भी बेजोड है।' 'नशा' का नायक शकर पीता बहुत है। पत्नी आनन्दी विपन्न ओर गठिया मे पीडित है। पुत्र किशनू बडा होकर अलग रहने लगता है। एक दिन शकर ने आनन्दी को पीटा। किशनू से देखा न गया। वह उसे अपने घर ले गया, जहा उसने ओर उसकी बहू ने आनन्दी की बडी सेवा की। आनन्दी ने पडोस के कपडे सीकर कुछ रुपये जमा किए और २०) रुपये मनीआर्डर से शकर को भेजे। अब पाठक ही देखे कि आनन्दी क्या थी। क्यो उसने ये रुपए शकर को भेजे?

यहा हमने स्थानाभाव से कुछ लेखको की कुछ रचनाओ की ही चर्चा की है। मोलिक ओर अनूदित रूप मे इस वर्ष मे और भी न जाने कितनी सुन्दर कहानिया निकली है। कुल मिलाकर सख्या मे अच्छी कहानिया शायद ज्यादा नही निकली हो, पर कोटि ओर प्रकार मे उन पर सन्तोष किया जा सकता है।

हिन्दी आलोचना : १९६२

डा० बच्चनसिंह

'आलोचना १९६२' की आलोचना करते समय पहला प्रश्न यह उठता है कि उसके अन्तर्गत क्या लिया जाय और क्या छोडा जाय ? किसी बाग मे लगे हुए विभिन्न पेडो की गणना की तरह पुस्तको, लेखो और समीक्षाओ के उल्लेख को आलोचना की सज्ञा नही दी जा सकती है। अनेक खानो मे बटी हुई शोध-ग्रथो की आलोचनाओ की चर्चा का अर्थ पिष्टपेषण है जो इस सदर्भ मे अपेक्षित नही है। अत मै अपने को केवल उन मूल्यगत उपलब्धियो तक सीमित रखना चाहूगा जिन्होने आलोचना को आगे बढाने मे योग दिया है।

इस वर्ष की कुछ पुस्तको और पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित निबन्धो का पर्यवेक्षण हमे इस निष्कर्ष पर पहुचाता है कि १९६२ की आलोचना ने दृष्टि-सपूर्णता की ओर बढने का प्रयास किया है। मूल्यो के विघटन के परिप्रेक्ष्य मे डा० रामविलास शर्मा ने आस्था का सवाल उठाया है। इसमे उन्होने व्यापक दृष्टिकोण और गहन विश्लेषण का परिचय दिया है। सुश्री महादेवी वर्मा की दृष्टि अद्यतन न होते हुए भी आस्था के कतिपय आयामो को पकडने मे नही चूकती। कामायनी के महत्त्वपूर्ण पक्षो का विवेचन करते हुए डा० नगेन्द्र ने उसे समग्र रूप से ही देखने का प्रयास किया है। जीवनास्था से कामायनी का गहरा सम्बन्ध है। इसलिए उनके विवेच्य मे उसका समावेश स्वयमेव हो गया है। आधुनिकता का सवाल भी मूल्यो से सपृक्त होने के कारण उस सम्बन्ध मे प्रकाशित निबन्ध इस विवेचन मे आ जाते है।

डा० रामविलास शर्मा ने आस्था को केन्द्रवर्ती बिन्दु मान कर कालिदास के सदर्भ मे साहित्य के स्थायी मूल्यो का जो विवेचन किया है वह कई दृष्टियो से विचारणीय है। कालिदास कालजयी क्लासिकल कवि है। उनके काव्य-सौष्ठव के सम्बन्ध मे दो मत नही है अर्थात् वे निर्विवाद रूप से विश्व-कवि के रूप मे प्रख्यात है। पर वे कौन से तत्त्व है जो उन्हे देश-काल की सीमाओ को लाघ जाने मे सहायता पहुचाते है ? इसे शर्मा जी ने अपने ढग से देखा है।

उन्होंने स्वय प्रश्न उठाया है—'जिस समाज-व्यवस्था मे उनका जन्म हुआ था, वह नष्ट हो चुकी है या नष्टप्राय है। क्या इससे सिद्ध नही होता कि वह काव्य-सौष्ठव समाज-निरपेक्ष है, वह ऐसे शाश्वत सौन्दर्य की व्यजना है जो देश-काल की सीमाओ के परे है ? क्या कालिदास की काव्य-महिमा इस बात के लिए प्रबल तर्क नही है कि साहित्य-कार को सामाजिक उथल-पुथल से दूर रहकर सौन्दय की एकान्त साधना करनी चाहिए ?'

शर्मा जी ने बताया है कि कालिदास की परिचित समाज-व्यवस्था उनके साहित्य मे प्रतिबिबित है। वर्णाश्रम-व्यवस्था का पोषण उनके काव्य मे मिलेगा। राजा लोग केवल दो काम करते थे—भोग और युद्ध। उनके लिए पृथ्वी भोग्या थी। उनका युद्ध-वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण और नीरस है। पौराणिक काव्य-रूढियो और चमत्कारो की भी उनमे कमी नही है। स्त्रिया हाठ रगने वाली और निष्क्रिय है। ये साहित्य के अस्थायी तत्त्व है, इससे कौन इन्कार करेगा ?

गोचर-जगत् के समृद्ध जीवन के प्रति सघन अनुराग को वे साहित्य का स्थायी तत्त्व बतलाते है। जीवन की व्याप्ति मनुष्य, पशु, वनस्पति जगत् को अपने मे समेट लेती है। कण्व आश्रम के प्राकृतिक परिवेश मे शकुन्तला का सौन्दर्य और भी प्रभविष्णु हो उठता है। पृथ्वी का गर्वोच्छ्वास प्रेम, सौन्दर्य, प्रकृति के मनोरम दृश्य आदि व्यापक जीवन के अग है। इनके साथ मातृत्व की वन्दना, वात्सल्य आदि उच्चतर मानवीय भूमियो का भी वे साहित्य का स्थायी तत्त्व मानते है। इससे भी भला कौन असहमत होगा ? भवभूति की करुणा भी स्थायी तत्त्व ही है। मानस के भरत का अतुलनीय शील भी उसी के अन्तर्गत आएगा।

इससे सिद्ध हुआ कि साहित्य के स्थायी तत्त्व सार्वजनीन होते है। शर्मा जी ने खुद उन्हे सार्वजनीन कहा है। कालिदास का विवेचन करते हुए बहुत ही ईमानदारी के साथ इसे स्वीकार किया है, क्योकि इससे अन्यथा कोई बात उन्हे मिली ही नही। पर एक खास तरह के जीवन-दर्शन से बधे रहने के कारण उन्हे कहना पडा—'किन्तु साहित्य का उत्कर्ष सार्वजनीन व्यापार के वर्णन से ही सभव नही होता।' लेकिन इसके अतिरिक्त और किसके वर्णन से होना है यह उन्होने नही बताया। परन्तु यह 'और' तो कालिदास मे है नही, इसे ढूढने के लिए किसी और कवि का पल्ला पकडना होगा।

यो समसामयिकता और सार्वजनीनता मे अनिवार्य विरोध नही है। पर सार्व-जनीनता व्यापक मानवता के प्रश्नो से ही सम्बद्ध है, मानवतावादी प्रश्नो से नही। वाल्मीकीय रामायण मे उच्चतर मानवीय मूल्यो के स्पर्श से ही उदात्तता आती है। बालि-वध के प्रसग मे बालि की उक्तिया अर्थवती, तथा राम की उक्तिया अमानवीय होने के कारण अयथार्थ, अविश्वसनीय और निष्प्रभ लगती है। अत अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध

है कि मूल्य जितना व्यापक और गहरा होगा, काव्य भी उसी अनुपात मे महत् और प्रभविष्णु होगा। साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रकारान्तर से इसी तथ्य का पोषण करता है। वर्गीय तथा आर्थिक आधार पर नापजोख करने की प्रणाली असाहित्यिक और अग्राह्य है। पर श्रेष्ठ काव्य के लिए जहा बृहत्तर मानव-मूल्यो का रहना आवश्यक है वहा उसे रूपायित करने के लिए उसी कोटि की सर्जनात्मक प्रतिभा भी अपेक्षित है। स्रष्टा के इस वैयक्तिक पहलू की उपेक्षा नही की जा सकती।

जगत् की अपनी वस्तुगत सत्ता है। भाववादी दार्शनिको की यह मान्यता कि केवल मानस जगत् ही यथार्थ है बुद्धि-सगत नही है। जो हो, यदि व्यक्ति की अपनी कोई सत्ता है तो उसके मानस जगत् की भी होगी। पर न तो वह समाज-निरपेक्ष है और न उसे समाज का प्रतिबिब ही माना जा सकता है। सापेक्षवाद और क्वाटम का हवाला देते हुए शर्मा जी ने बताया है कि उनसे यथार्थ के जानने की पुरानी पद्धति बदल गई है। किन्तु यह तथ्य के विपरीत है, इसके पीछे स्वतन्त्र चिन्तन न होकर साम्प्रदायिक चिन्तन है। बद्ध चिन्तन के लिए आवश्यक होता है कि वह तथ्य को अपने मनोनुकूल तोड-मरोड ले। सापेक्षवाद और क्वाटम ने मनुष्य को अनिश्चय की स्थिति मे डाल दिया है, पूर्ववर्ती अनेक मान्यताओ पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। ये सिद्धान्त हीगेल के पूर्णतया विरोधी नही है। ह्वाइटहेड जैसे प्रगतिशील विचारक ने भी उन्हे व्यक्तिनिष्ठता की ओर ले जाने वाला कहा है। चतुर्थ आयाम और 'रियल टाइम कान्टीन्यूअम' ने विचारो मे काफी उलट-फेर किया है।

चरम कोटि के अहवादी साहित्यकारो की बात जाने दीजिए। किन्तु साहित्य मे व्यक्ति की अपनी सत्ता को अस्वीकारा नही जा सकता। विश्व-प्रतीति, भावबोध और इद्रियबोध की भिन्न-भिन्न प्रतीतिया व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता का ही उद्घोष करती है। इन प्रतीतियो को अलग-अलग खानो मे बाटने का मतलब है गोया मनुष्य जीवन खडो मे विभक्त है। इस तरह जीवन खडो मे विभक्त नही होता। मनुष्य फूल का सौन्दर्य देखता है तो सघर्षो से जूझता भी है। जीवन अखड और अविभक्त है। साहित्य मे विचार, इद्रियबोध दोनो ही भावबोध के रूप मे गृहीत होगे और श्रेष्ठ साहित्य मे अभिव्यक्त यह भावबोध मूल्यो से सपृक्त होगा ही। कौन जल्दी बदलता है और कौन देर मे बदलता है, यह कथन बेमाने है।

शर्मा जी द्रष्टा मे सौन्दर्य-बोध की शक्ति स्वीकार करते है। पर वे सौन्दर्य की सत्ता वस्तुगत ही मानते है। ललित कलाओ के अतिरिक्त वे प्रकृति और मानव-जीवन को भी सौन्दर्य-शाखा का विवेच्य मानते है। किसी पदार्थ के सम्पर्क में आकर जब मनुष्य आनन्दानुभूति करता है तो वह सौन्दर्य-बोध की ही स्थिति होती है। प्रश्न उठता है कि इस आनन्द की स्थिति कहा है? वस्तु मे अथवा व्यक्ति मे। यदि केवल वस्तु मे है तो भिन्न-भिन्न व्यक्ति उसे भिन्न-भिन्न रूपो मे क्यो अनुभव करते है? यदि केवल व्यक्ति मे है तो

वस्तु के प्रति उनकी प्रतिक्रियाए अलग-अलग क्यो होती है ? कॉडवेल ने बहुत सही ढग से उसे व्यक्ति और वस्तु के सबधो मे माना है। डा० शर्मा ने उसके इस मत का उल्लेख भी किया है। उन्होने काडवेल के दूसरे मत का भी उल्लेख किया है—'सौन्दर्य सामाजिक है। वह वस्तुगत है क्योकि उसका अस्तित्व मुझ से अलग समाज मे है।' इन दो परस्पर विरोधी मतो से शर्मा जी का अभिप्राय अज्ञेय रह जाता है। मानव-जीवन और प्रकृति को वे सौन्दर्य-शास्त्र का विवेच्य कैसे मानते है, इसे वे ही जाने। मानव-जीवन और प्रकृति प्रत्येक स्थिति मे आनन्ददायक नही होते यह अतर्कित तथ्य है। अत उन्हे सौन्दर्यशास्त्र का विवेच्य बतलाना निर्भ्रान्त नही है। वस्तु की वस्तुगत सत्ता है पर उसके सौन्दय की सत्ता तो व्यक्ति के सम्बन्ध से ही जानी जा सकती है।

आस्था का ही दूसरा नाम श्रद्धा है। इस मनोवृत्ति का मूल्यो से गहरा सम्बन्ध है और मूल्यो को उच्चतर नीतिमत्ता से पृथक् नही किया जा सकता है। रूढिग्रस्त चेतन मन (सुपरईगो) के प्रतिकूल जाना इसके लिए सहज है। श्रद्धा का स्पष्टीकरण करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है—'आस्तिकता का अर्थ है—अस्तित्व मे सहज आस्था, इस प्रकार आस्तिक भावना जीवन की एकान्त मूलगत भावना है।' 'कामायनी के अध्ययन की समस्याए' मे मुख्य विवेच्य श्रद्धा है और वही हो भी सकती है। नगेन्द्र जी ने उसे गाधीजी की अहिसा और पाश्चात्य दार्शनिको की मानव-भावना का पर्याय कहा है। उन्होने इसे पूजीवाद से पीडित समाज की विडम्बनाओ का समाधान कहा है। वैचारिक स्तर पर, स्वतन्त्र रूप से, इससे सहमत होना कठिन है। पर कामायनी के सदर्भ मे इसका यही रूप है। इस सिलसिले मे उन्होने रुग्ण समाज का निदान करते हुए बतलाया है कि वह स्वरति की भावना से आक्रान्त है। यह सच है कि यह आज के युग की भयकर व्याधि है। नगेन्द्र जी ने उचित ही कहा है कि उसे स्व-रति से पर-रति की ओर ले जाने की आवश्यकता है। कामायनी इसका आध्यात्मिक समाधान तो प्रस्तुत करती है, भौतिक नही। फिर भी यह जीवनास्था का काव्य है। नगेन्द्र जी ने आरम्भ मे ही इसका सकेत कर दिया है कि कामायनी उस युग की रचना है जिसमे अनेक परस्पर विरोधी विचार जीवनास्था को खडित कर रहे थे।

कामायनी जैसे काव्य की आलोचना दृष्टि-सम्पूर्णता की माग करती है। उसकी समस्याओ--अध्ययन सम्बन्धी समस्याओ के उल्लेख से ही आलोचक के व्यापक दृष्टिकोण का परिचय मिल जाता है। पर कामायनी परम्परागत महाकाव्य की कोटि मे नही आती। यदि वह महाकाव्य है तो उसके लिए किसी अन्य मान की अपेक्षा होगी। उनका कहना है कि 'वह ऐहिक जीवन का महाकाव्य नही है, मानव-चेतना का महाकाव्य है। ऐहिक घटनाओ मे जो भौतिक विस्तार होता है वह चेतना मे घटित होने वाली घटनाओ मे नही मिल सकता। सम्पूर्ण शास्त्रो का मथन करने के उपरान्त बुद्धिभ्रष्ट होकर ऋषि-मुनियो पर अत्याचार करना भौतिक घटना है और बुद्धि की प्रवचना

मे जीवन-सत्य के प्रति आस्था खो बैठना चेतनागत घटना है।' इस उद्धरण का अन्तिम वाक्याश कामायनी के वस्तु-तत्त्व (काण्टेट) का रहस्य खोल देता है।

जब कामायनी का वस्तुतत्त्व भिन्न है तो उसका काव्यरूप भिन्न होगा ही। वस्तु और रूप मे अभेद होता है। किन्तु जब नगेन्द्र जी यह कहते है कि 'काव्यरूप का प्रश्न भी इस समग्र बिम्ब से ही सम्बद्ध है। इस बिम्ब का भीतरी ढाचा कथा-वस्तु है और बाहरी ढाचा काव्यरूप' तो एक शका खडी हो जाती है। प्रश्न होता है कि क्या काव्य से जो समग्र विम्ब बनता है उसका भीतरी ढाचा कुछ होता है और बाहरी कुछ और ? इसकी अभेदता स्वीकार कर लेने पर ही कामायनी का काव्यरूप परम्परागत महाकाव्यो के काव्यरूप मे भिन्न सिद्ध हो सकता है। यह विस्तार की बात है पर महाकाव्यो की दो परम्पराओ के बीच नगेन्द्रजी ने जो विभाजक रेखा खीची है वह बहुत ही स्पष्ट और उभरी हुई है।

कामायनी के महाकाव्य का जो मान उन्होने स्थित किया है वह सर्वथा नया है, पर उसका विवेचन पूर्णत विश्वसनीय नही बन सका है। नगेन्द्र जी ऐसे आलोचक से, जो तर्क और विश्लेषण मे अतिशय समर्थ है, आशा की जाती थी कि वे औदात्य की ठोस व्याख्या करते। इसके अभाव मे विश्लेषण को सुनिश्चित भूमि नही मिल पाई है। उदात्त कथानक की चर्चा करते समय उन्होने कहा है 'भौतिक जगत् का विराट् घटनाचक्र मानव चेतना के अटल गह्वरो मे होने वाले घटना-चक्र की छाया-मात्र है।' मनोविज्ञान के अनुसार तो मनोजगत् के गह्वरो मे होने वाले घटना-चक्रो के मूल मे भौतिक जगत् की अतृप्तिया है। उनके कथन का मेल हीगेल तथा अन्य भाववादी दार्शनिको से जरूर है। जलप्लावन के चित्रण मे परम्परागत घटनाओ की सघनता अवश्य है। पर श्रद्धा के अतिरिक्त अन्य चरित्र गरिमामय नही कहे जा सकते।

इस सदर्भ मे अगीरस का जो विवेचन किया गया है वह निश्चय ही शास्त्रीय, तर्कपूर्ण, ठोस और निर्भ्रान्त है। लेखक ने अपनी विश्लेषणात्मक पद्धति के अनुरूप, धैर्यपूर्वक रस के अवान्तर भेदो की गहराई मे पैठकर निर्वेदमूलक तथा शममूलक शान्त मे भिन्न जिस व्यापक शान्त या आनन्द रस की प्रतिष्ठा की है वही कामायनी का अगीरस है। कामायनी मे आए हुए अन्यान्य रसो के साथ इसकी अगागी सगति बैठ जाती है। यह एक ओर शैवाद्वैत के अनुरूप है, तो दूसरी ओर प्रसाद की मान्यताओ के अनुकूल। इसका सारा विवेचन लेखक की शास्त्रीय प्रवृत्ति और परिपक्व विचारणा का द्योतक है। पर प्रबुद्ध पाठक यह सवाल करेगा कि क्या यह रस काव्य शास्त्रीय रस-परम्परा मे परिगृहीत हो सकता है ? कदाचित् इसका उत्तर होगा कि यदि भक्ति रस रस है तो आनन्द रस क्यो नही है ?

रूपक तत्त्व का विवेचन आस्था के प्रसग मे किया जा चुका है। कामायनी के काव्य-सौन्दर्य को समझने के लिए उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि की व्याख्या आवश्यक थी।

इसे अन्त में देने का अभिप्राय यह है कि इसे पृष्ठभूमि के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए, स्वयं कामायनी के रूप में नहीं। इस निबन्ध में अभेदमयी श्रद्धा, आस्तिकतामूलक जीवन-चेतना से सिद्धि और भेदमयी बुद्धि से बाधा का सम्बन्ध दिखाकर, अन्वय-व्यतिरेक तथा कथानक की मूल योजना भी संकेतित कर दी गई है। इसीलिए इसमें समग्रतः कामायनी का जो आकलन किया गया है वह दृष्टि-सम्पूर्णता की सूचना देता है।

अब रह गई आधुनिकता की बात!

सन् '६२ के पहले से ही आधुनिकता को लेकर बहसें आरम्भ हो गई थीं। विज्ञान के आविष्कारों के कारण दैवी, अलौकिक मूल्यों से अलग होकर बुद्धिगम्य मानव-मूल्यों के प्रति आस्थावान् होना ही आधुनिकता है। पर द्वितीय विश्वयुद्ध ने मूल्यों का ऐसा विघटन किया कि एक गहरी निराशा और अनास्था का कुहासा छा गया। कवियों, लेखकों ने हार, लाचारी, कुंठा को अभिव्यक्त करना अपना लक्ष्य बना लिया। मूल्यों के विघटन की चेतना गैरजिम्मेदारी के साथ हुई। नए कवि-लेखकों ने परम्परा का एक झटके में साफ कर दिया। कुछ आलोचक भी कारी पटिया पर लिखने का समर्थन करने लगे। आधुनिकता एक फैशन हो गई। मूल्यों के विघटन के अवबोध के साथ नए मूल्य अन्वेषित नहीं किए जा सके। '६२ की कल्पना' में डा० देवराज ने इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए लिखा है—'इस समय का हिन्दी साहित्य—विशेषतः वह जो आधुनिकता को नारे के रूप में लेता है—एक खास तरह के छिछलेपन से आक्रान्त है, यानी सांस्कृतिक दरिद्रता से। वस्तुतः ऊंची कोटि का साहित्य उस साधनासम्पन्न व्यक्तित्व से ही निःसृत हो सकता है जो जीवन के बड़े प्रश्नों से उलझने का अभ्यस्त है और जिसमें मनुष्यता की नैतिक आध्यात्मिक ऊंचाइयों के प्रति आवेगात्मक ललक है।' विज्ञान का मूल्यों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। मूल्यों के विघटन का दर्द, उसी को अनुभूत होगा जो अपनी परम्परा के समृद्ध जीवन-मूल्यों को समझता हो और नए जीवन-मूल्यों को देखने-परखने की शक्ति भी उसी में होगी जिसकी आंखों में परम्परा तथा आधुनिक जीवन-बोध का अंजन लगा हो। विघटित-जीवन-मूल्यों के युग में उपरिलिखित चेतना के अभाव में आस्थावान् साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। रचनात्मक साहित्यकारों की अपेक्षा आलोचकों की जिम्मेदारियां अधिक हैं। डा० देवराज ने अपने निबन्ध में आधुनिकता को सही दिशा-निर्देश दिया है।

यद्यपि सन् '६२ में महत्त्वपूर्ण पुस्तकें संख्या में कम प्रकाशित हुई हैं फिर भी उन्होंने हिन्दी-आलोचना को गति दी है। प्रसन्नता की बात यह है कि आलोचकों की दृष्टि में अपूर्व सन्तुलन, व्याप्ति और गहराई आई है। सभी लोगों ने अनास्था, स्वरति और विघटित मूल्यों का विरोध किया है और उनका विवेचन सब मिलाकर अर्थगर्भ और साहित्यिक है। अतः निस्संकोच कहा जा सकता है कि आलोचना की दृष्टि से इस वर्ष की उपलब्धियां महत्त्व की हैं।

सुश्री महादेवी वर्मा के विचारो के सम्बन्ध मे ऊपर कहो सकेत किया जा चुका है। इस वर्ष उनके निबन्धो का एक सग्रह 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध' नाम से प्रकाशित हुआ है। पर इस सग्रह मे पहले निबन्ध को छोड कदाचित् शेष 'क्षणदा' और 'महादेवो का विवेचनात्मक गद्य' मे सग्रहीत हो चुके है। अत '६२ के अन्तर्गत सब के सब विचार्य्य नही ठहरते ।

'साहित्यकार की आस्था' मे उन्होने स्पष्ट ही कहा है कि रचयिता के लिए आस्थावान् होना जरूरी है। आस्था को वे सस्कारजन्य मानती है। 'आस्था के सम्बन्ध मे भी यही सत्य है—उसका मूल सस्कारजन्य है, पर प्रसार और व्याप्ति व्यक्तिगत अनुभवो की उपलब्धि है। कोई भी अस्तित्व चाहे वह भौतिक हो चाहे भावात्मक, अकेला नही हो सकता, क्योकि अनेक अस्तित्वो के साथ होने के कारण उसे एक सज्ञा प्राप्त है और वह ज्ञेय कहा जा सकता है। इसी प्रकार कोई भी स्थिति एकाकी नही है, क्योकि उसे स्थिति-विशेष बनने के लिए स्थितियो की समष्टि मे अपना परिचय देना पडता है।'

इस स्थिति को स्वीकार करते हुए भी महादेवी जी की व्याख्या आदर्शवादी है। वे 'मै दिव्य जीवन मे आस्था रखता हू,' 'मै आध्यात्मिक परिणति मे आस्था रखता हू' आदि भावात्मक स्थिति को आस्था के निकट मानती है। इनको सर्वथा नकार जाना उनके सस्कारो के विपरीत है। जीवन-दृष्टि को आस्तिक और नास्तिक की कोटियो मे बाटना, एक को अलौकिक साधना मे सलग्न बताना, दूसरे को लौकिक साधनो मे लगे रहने का उल्लेख करना अत्याधुनिक दृष्टिकोण का पोषक नही है। आधुनिकता की चेतना से समन्वित व्यक्ति इस तरह की कोटिया नही बनाएगा। वह यथार्थवादी होने के कारण केवल इस सदर्भ मे ही आस्था की चर्चा करेगा।

फिर भी महादेवी जी ने अपने स्वर मे अन्य लोगो के स्वर को समेट कर कहा है—'माता जिस प्रकार आस्था के बिना अपने रक्त से सन्तान का सृजन नही कर सकती, धरती जिस प्रकार ऋतु के बिना अकुर को विकास नही दे सकती, साहित्यकार भी उसी प्रकार गम्भीर विश्वास के बिना अपने जीवन को अपने सृजन मे अवतार नही दे पाता।'

स्व० डा० रागेय राघव का निबन्धो का एक सग्रह 'हिन्दी कविता मे विषय और शैली' इसी वर्ष प्रकाशित हुआ है। इसकी विषय-वस्तु नवीन है पर विवेचन पुराने ढग का है, दूसरे शब्दो मे वह बौद्धिक नही बन पाया है। इसकी विशेषता इसमे है कि लेखक ने नवीन से नवीन कवियो की रचनाओ से उद्धरण दिए है। 'आस्था और मूल्याकन' 'समाज और युग सीमा' आदि विषयो पर निबन्ध लिखे गए है पर उनमे चिन्तन की गहराई नही है।

पर इस वर्ष की आलोचना की आलोचना करते समय एक प्रश्न उठता है। जिस प्रकार डा० नगेन्द्र ने कामायनी का मूल्याकन करते समय नए मान उपस्थापित किए है उसी प्रकार नए साहित्य (मुख्य रूप से नई कविता) के मूल्याकन के निमित्त नए मान प्रस्तुत नही किए जा सकते। डा० रामविलास शर्मा ने अपने निबन्ध-सग्रह मे नई कविता की जो समीक्षा की है वह इतनी एकागी है कि उपर्युक्त प्रश्न उसी से पैदा हो जाता है। स्थिति उस समय और जटिल हो जाती है जब नए कवि-साहित्यकार पुराने मान-मूल्यो को एकदम अस्वीकार कर देते है। सभव है कि यह प्रतिक्रिया मात्र हो। लेकिन यह एक वास्तविकता तो है ही। लेकिन मेरा खयाल है कि रचनात्मक साहित्यकारो की अपेक्षा आलोचको को इस पर ज्यादा गम्भीरता से सोचना चाहिए। आलोचक और रचनात्मक साहित्यकार के बीच का यह व्यवधान स्वास्थ्य का चिह्न नही है। यदि नई कविता (कुछ हद तक नई कहानी के सम्बन्ध मे भी यही लागू है) हमे आनन्दानुभूति कराती है और हमारी अनुभूतियो को सम्पन्न और सौन्दर्य-चेतना को विकसित करती है तो पुराने मान-मूल्यो को नवीन परिप्रेक्ष्य मे बदला जा सकता है और उन्हे बदलना भी चाहिए।

———

विविध साहित्य (१९६२)

श्री गोपाल शर्मा

हिन्दी मे विविध साहित्य का प्रकाशन उत्तरोत्तर बढता जा रहा है। इसके कई कारण है। एक तो शिक्षा-योजनाओ के फलस्वरूप साक्षर लोगो की सख्या बढ रही है, तदनुसार ललित साहित्य के साथ ही साथ विभिन्न रुचियो और आवश्यकताओ के अनुरूप साहित्य की माग भी बढती जा रही है। दूसरा कारण शिक्षा के क्षेत्र मे माध्यम-परिवर्तन के सतत यत्न है जिनके फलस्वरूप अनेक विषयो की पुस्तके बाजार मे आने लगी है। विविध साहित्य की सृष्टि की ओर केन्द्रीय और राज्य सरकारो का ध्यान विशेष आकर्षित हुआ है। वे इस सम्बन्ध मे पर्याप्त धन राशि का विनियोग कर रही है और अपनी साहित्यिक सस्थाओ के तत्त्वावधान मे पुरस्कारो और अन्य योजनाओ के जरिए विविध साहित्य-सृजन को प्रोत्साहित कर रही है। आलोच्य वर्ष मे केन्द्रीय सरकार ने इसी उद्देश्य से हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओ मे मानक ग्रथ और लोकप्रिय पुस्तके प्रकाशित करने की दो महत्त्वपूर्ण योजनाए आरम्भ की है जिनका परिणाम सभवत १९६३ मे स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होगा।

सन् १९६२ का वर्ष विविध साहित्य के प्रकाशन की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण रहा है। इस वर्ष यद्यपि मौलिक ग्रथो की सख्या अनूदित ग्रथो की तुलना मे कम ही है तथापि जो कुछ भी हमारे सामने आया है वह उत्साहवर्धक है। एक ओर दर्शन, अध्यात्म और मनोविज्ञान जैसे गम्भीर विषयो पर उच्च कोटि के ग्रथ प्रकाशित हुए है और दूसरी ओर प्रौढो के लिए सामान्य विषयो की सरल शैली मे लिखी हुई काफी पुस्तके बाजार मे आई है। विज्ञान की शिक्षा की बढती हुई सुविधाओ के परिणामस्वरूप इस वर्ष की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि वैज्ञानिक साहित्य का अधिक मात्रा मे प्रकाशन है। इस साहित्य के प्रकाशन मे यूनेस्को की आर्थिक सहायता भी प्राप्त हुई है। प्रस्तुत लेख मे सभी प्रकाशित साहित्य का उल्लेख सभव नही है, अतएव मात्र प्रवृत्तिमूलक सर्वेक्षण ही प्रस्तुत किया जा रहा है।

विज्ञान

विज्ञान की लोकप्रिय पुस्तको मे से निम्नलिखित पुस्तके उल्लेखनीय है —

पृथ्वी की आयु, तारा-भौतिकी, प्रकाश और वर्ण, परमाणु-विखण्डन तारे और मनुष्य, यात्रिकी, विज्ञान और व्यावहारिक ज्ञान, ऑक्सीजन और जीवन, कीटाणु और

सामान्य रोग, मक्खी और मच्छर की कहानी, शक्ति और इजन, गरमी और हमारा जीवन, आविष्कार और अन्वेषण, आविष्कार-जगत्, सूरज, चाद और सितारे, अन्तरिक्ष-स्पर्श आदि ।

वैज्ञानिक साहित्य के प्रकाशन मे इस वर्ष उत्तरप्रदेश सरकार की 'हिन्दी समिति' का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उपर्युक्त प्रथम छ पुस्तके इसी समिति द्वारा प्रकाशित हैं। 'पृथ्वी की आयु' के लेखक महाराजनारायण मेहरोत्रा है। इसकी पृष्ठसख्या ३०० है। इसमे विषय का प्रतिपादन करते हुए तत्त्ववेत्ता उशर का मत, ईसाई और वेदान्ती मत, लार्ड केलविन का मत तथा भारतीय ज्योतिष की धारणा का विवेचन किया गया है। लेखक की धारणा है कि आधुनिक विज्ञान भारतीय ज्योतिष की धारणाओ का ही पोषक है। भौमिक काल की समस्याओ को सुलझाने के आवश्यक तत्त्वो की चर्चा करते हुए लेखक ने सागरो, शिलाओ, जीवाश्मो, भौमिक क्रान्तियो, रेडियो-सक्रियता, उल्काओ, परमाणुओ तथा खगोलीय प्रमाणो के आधार पर पृथ्वी की आयु का विवेचन तथा निर्धारण किया है। लेखक के विचार सुलझे हुए है और विषय-सामग्री को अच्छे रेखा-चित्रो और आकडो से परिपुष्ट किया गया है।

डॉ० निहालकरण सेठी लिखित 'तारा-भौतिकी' या तारो की दुनिया इस वर्ष का महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक प्रकाशन है। पुस्तक मे ३०० पृष्ठ है। इसमे विद्वान् लेखक ने भौतिक विज्ञान की सहायता से तारो और ग्रहो की स्थिति, दूरी, विस्तार आदि का आकलन किया है। इसके अतिरिक्त तारो की ज्योति, उनका तापमान, स्पेक्ट्रम, ऊर्जा उत्पत्ति और विकास आदि प्रसगो का प्रामाणिक विवेचन किया गया है। पुस्तक मे अनेक रेखाचित्रो का समावेश है। 'परमाणु-विखण्डन' नामक पुस्तक के लेखक डॉ० रमेशचन्द्र कपूर है। पुस्तक मे ३५० पृष्ठ है। इसके प्रमुख प्रकरण है, रेडियो-धर्मिता, परमाणु-सरचना, परमाणु विखडन, यूरेनियम खडन, नाभिकीय शृखला-प्रतिक्रिया, परमाणु ऊर्जा के उपयोग, परमाणु व ताप-नाभिकीय बम, आदि। इस पुस्तक मे, भारत मे परमाणु-अनुसधान की प्रगति का उल्लेख भी किया गया है। परिशिष्ट मे तत्त्वो के परमाणु भार, स्थिराक आदि दिए गए है ।

हिन्दी समिति द्वारा प्रकाशित हिन्दी अनुवादो मे डा० शेपली की पुस्तक 'आफ स्टार्स एण्ड मेन' का डा० निहालकरण सेठी कृत अनुवाद उल्लेखनीय है। विषय को समझने के लिए मूल पाठ के नीचे पर्याय दे दिए गए है। पुस्तक मे ब्रह्माण्ड मे जीवो के योग्य निवास, करोडो नक्षत्रो, ब्रह्माण्ड के तत्त्वो की चर्चा मनुष्य और ब्रह्माण्ड के परिप्रेक्ष्य मे की गई है। एम० मिनैर्ट की पुस्तक 'दी नेचर आफ लाइट एण्ड कलर इन दी ओपन एयर' के अनुवादक है भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव । पुस्तक मे ४५० पृष्ठ है। इसके कुछ रोचक प्रसग है--आकाश से गिरनेवाली बर्फ कभी-कभी काली क्यो दिखाई देती है ? सूर्य की किरणे कभी-कभी हरी क्यो दिखाई पडती है ? ऊगते-डूबते समय सूर्य बिम्ब बडा क्यो दिखाई देता है ? स्वत प्रकाशित जीव और पत्थर, इत्यादि। सामग्री

को सुस्पष्ट बनाने के लिए अनेक फोटो, चित्र और रेखाचित्र दिए गए है। एक और हिन्दी अनुवाद आर्नाल्ड सोमर फेल्ड की जर्मन पुस्तक से मार्टिन स्टर्न कृत अंग्रेजी अनुवाद का 'यात्रिकी' शीर्षक से हिन्दी सस्करण है। इसके अनुवादक जगद् बिहारी सेठ है। इस पुस्तक मे म्यूनिख विश्वविद्यालय मे मूल लेखक द्वारा दिए गए भाषणो का सकलन है। अनुवाद के मूल पाठ मे उपयोगी सामग्री पाद-टिप्पणी मे दी गई है।

'विज्ञान और व्यावहारिक ज्ञान' के मूल लेखक जेम्स बी० कॉनेट है। इस २०० पृष्ठो की पुस्तक मे विज्ञान के विभिन्न पहलुओ का विशद विवेचन किया गया है। विज्ञान और अमेरिकी नागरिक, विज्ञान क्या है, तथ्यार्थिक वैज्ञानिक विधि, वायुमडलीय धारणा का विकास, परीक्षणात्मक खोज मे कुछ आवर्तक प्रतिमान, रेखागणितीय तर्क और मात्रात्मक सपरीक्षण, धारणा-पद्धति का उद्गम, रासायनिक क्रान्ति आदि अनेक विषयो का अधिकारपूर्वक विवेचन किया गया है। भाषा मे प्रवाह है परन्तु कही-कही पारिभाषिक शब्द उपयुक्त प्रतीत नही होते।

'ऑक्सीजन और जीवन' के लेखक श्री रामेश्वर भटनागर ने जलने, सास लेने, मे ऑक्सीजन का महत्त्व बताते हुए मनुष्य और जीव-जन्तुओ के जीवन मे उसकी अनिवार्य सत्ता का विवेचन किया है, स्वास्थ्य मे ऑक्सीजन का योगदान बताते हुए उसके अनेक उपयोगो पर प्रकाश डाला है। 'शक्ति और इजन' के लेखक श्री कृष्णगोपाल ने भौतिकी की अनेक आधारभूत बातो की चर्चा करते हुए, लीवर, मशीन, बिजली आदि का सरल शैली मे परिचय दिया है। इसी प्रकार अन्य पुस्तको मे अपने-अपने इष्ट विषयो की सुबोध व्यावहारिक चर्चा है।

क्रमश यह स्पष्ट होता जा रहा है कि हिन्दी मे रोचक शैली मे लिखी हुई विज्ञान सम्बन्धी सूचना देने वाली पुस्तको की ओर जनरुचि जागरित हो रही है। परन्तु इन पुस्तको के मूल्य कम होने चाहिए ताकि सामान्य आमदनी वाले लोग भी इन्हे खरीदने के लिए आकर्षित हो।

शिक्षा

शिक्षा के प्रसार के साथ ही शैक्षणिक साहित्य का सृजन भी बढता जा रहा है। शिक्षा के शास्त्रीय पक्ष पर १९६२ मे जो पुस्तके प्रकाशित हुई है उनमे निम्नलिखित पुस्तके उल्लेखनीय है।

'आधुनिक शिक्षा का स्वरूप' मे शिक्षा के विषय मे सैद्धातिक चर्चा है। इसकी लेखिका श्रीमती उषा वर्मा है। 'तुलनात्मक शिक्षा व्यवस्था' मे डॉ० एल० मुकुर्जी ने परिपक्व दृष्टिकोण से विषय का विवेचन किया है। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी शिक्षा क्षेत्र के मजे हुए लेखक है। इस वर्ष 'शिक्षण के आधार' शीर्षक से प्रकाशित उनकी पुस्तक अध्यापको और प्रशिक्षण विद्यालयो मे अध्ययन और अध्यापन के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। एक और उल्लेखनीय पुस्तक 'राष्ट्रीय एकता और नैतिकता की शिक्षा'

है। इसके लेखक डॉ० मुकुन्ददेव शर्मा ने राष्ट्र की वर्तमान समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला है और उनके समाधान के मार्ग भी सुझाए हैं।

अर्थशास्त्र

हिन्दी में अर्थशास्त्र से सम्बन्धित प्रामाणिक साहित्य बहुत समय से लिखा जा रहा है। प्रतिवर्ष इस विषय के विभिन्न पहलुओं पर कुछ पुस्तकें अवश्य प्रकाशित होती रहती हैं। इस वर्ष कर से सम्बन्धित कुछ उल्लेखनीय पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनका उल्लेख यहां आवश्यक है। हिन्दी समिति, उत्तरप्रदेश द्वारा प्रकाशित 'भारतीय कर-व्यवस्था' के लेखक डा० बाबूराम मिश्र हैं। ३५० पृष्ठों की इस पुस्तक में लोकवित्त के विशेषज्ञ लेखक ने आयकर, बिक्रीकर, धनकर, उत्पादन-शुल्क, प्रतिकर, सम्पत्ति कर, रेल राजस्व, आदि सभी करों का इतिहास बताते हुए उनके राष्ट्रीय उपभोग और महत्त्व पर प्रकाश डाला है। संविधान के परिप्रेक्ष्य में कर-सम्बन्धी अनेक विचारों का विवेचन किया गया है और अन्त में जनता और सरकार के बीच पारस्परिक सम्बन्ध का दिग्दर्शन है। उन्नत अर्थ-व्यवस्था में आयकर एक महत्त्वपूर्ण विषय है जिसके सम्बन्ध में लोगों को पर्याप्त जिज्ञासा रहती है। इस वर्ष आयकर के विषय में दो पुस्तकें सामने आई हैं। एक है 'भारतीय आयकर के सरल सिद्धान्त' और 'दूसरी आयकर विधान तथा खाता'। 'भारतीय आयकर के सरल सिद्धान्त' के लेखक श्री रामनिवास लखोटिया हैं। यह पुस्तक बी० कॉम० और एल-एल० बी० क्लास के विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी है। जटिल कानूनी बातों को व्यवहार की सरल भाषा में उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत किया गया है। आयकर सम्बन्धी जटिल विचारों को सुबोध बनाने का प्रयास स्तुत्य है।

इतिहास

आलोच्य वर्ष में इतिहास विषय के अन्तर्गत कुछ महत्त्वपूर्ण उच्च कोटि के ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है। उल्लेखनीय शोधात्मक ग्रंथ प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० मोतीचंद का 'काशी का इतिहास' है। इसे हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई ने प्रकाशित किया है। लगभग ५०० पृष्ठों की इस पुस्तक में भारतीय सभ्यता और अनेक मत-मतान्तरों के केन्द्र-स्थल काशी के प्राचीन इतिहास की रूपरेखाओं, मुद्राओं, मूर्तियों, शिला-लेखों तथा खंडहरों में विकीर्ण कड़ियों को जोड़कर एक सुन्दर समन्वित चित्र प्रस्तुत किया गया है। सामग्री के प्रमाणस्वरूप इसमें लगभग ८० सुन्दर चित्रों का भी समावेश है। इतिहास की इस मौलिक पुस्तक के अतिरिक्त डॉ० राधाकुमुद मुकुर्जी की दो अंग्रेजी पुस्तकों के रूपान्तर प्रकाशित हुए हैं। प्रथम है 'चन्द्रगुप्त मौर्य और उनका काल', अनुवादक हैं मुनीश सक्सेना। प्रस्तुत पुस्तक वास्तव में डॉ० मुकुर्जी के उन भाषणों का संग्रह है जो उन्होंने मद्रास विश्वविद्यालय में सर विलियम मेयर भाषणमाला के अन्तर्गत सन् १९४१ में दिए थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के काल का विशद अध्ययन और मौर्यकाल की सभ्यता एवं संस्कृति का

प्रामाणिक अनुशीलन प्रस्तुत करते हुए उस समय की प्रशासन-व्यवस्था, जमीन का बन्दोबस्त, ग्राम एव नगर-प्रशासन, सेना, सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियो का विद्वत्तापूर्ण प्रामाणिक वर्णन किया गया है। अनुवाद अच्छा है।

दूसरी पुस्तक का शीर्षक 'प्राचीन भारत' है। इसके अनुवादक डॉ० बुद्ध प्रकाश हैं। प्रस्तुत ग्रथ १५ अध्यायो मे विभाजित है और इसमे प्रागैतिहासिक काल से लेकर ग्यारहवी शताब्दी तक के भारतीय जीवन का वर्णन है। भारतीय जीवन के उत्थान-पतन, रीति-रिवाज, सामाजिक, धार्मिक एव आर्थिक पहलुओ का गम्भीर विवेचन किया गया है। अनुवाद मौलिक लेखन के समकक्ष आ गया है। डॉ० बुद्धप्रकाश की एक अन्य पुस्तक 'इतिहास दर्शन' का प्रकाशन हिन्दी समिति ने किया है। प्रस्तुत पुस्तक मे ससार की महान् सभ्यताओ की तुलनात्मक गवेषणा, इतिहास, दर्शन और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया, इतिहास दर्शन का क्रमिक विकास आदि विषयो की गहन और प्रामाणिक चर्चा है। हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश का एक और प्रकाशन डा० रामप्रसाद त्रिपाठी लिखित 'विश्व इतिहास' है। विषय के विस्तृत होने के कारण इसमे विद्वान् लेखक ने केवल मोटी और महत्त्वपूर्ण घटनाओ का ही मुख्यतया वर्णन किया है, शेष का सकेतमात्र किया है। पुस्तक मे सृष्टि के आरम्भ से मानव की उत्पत्ति तथा सभ्यताओ के विकास आदि का विद्वत्तापूर्ण विवेचन है।

अन्य इतिहास ग्रथो मे से कुछ उल्लेखनीय ये है —आध्र सातवाहन साम्राज्य का इतिहास लेखक श्री चन्द्रभानु पाण्डे, भारतीय सस्कृति और इतिहास लेखक श्री सग्रामसिह चौधरी, स्वतन्त्रता सग्राम के विद्रोही स्थान लेखक श्री महेश तृषित।

दर्शन, अध्यात्म और आचारशास्त्र

आलोच्य वर्ष मे दर्शन विषय पर दो मौलिक और एक अनूदित पुस्तक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'भारतीय दर्शनशास्त्र' के विद्वान् लेखक डॉ० बलदेव उपाध्याय है। डॉ० उपाध्याय भारतीय सस्कृति सबधी अनेक ग्रथो के प्रणेता है। उनका प्रस्तुत ग्रथ भारतीय चिन्तन-प्रणाली और दार्शनिक परम्परा का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करता है। सस्ता साहित्य मडल से प्रकाशित इस पुस्तक के लगभग ४०० पृष्टो मे ज्ञानवर्धक सामग्री है। इस वर्ष का महत्त्वपूर्ण अनूदित ग्रथ 'पूर्व और पश्चिम' है। इसके मूल लेखक हमारे राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् है। प्रस्तुत पुस्तक मे पश्चिमी और भारतीय सस्कृतियो का विश्लेषणात्मक विवेचन है, साथ ही आधुनिक विज्ञान के प्रकाश मे नव दर्शन के उदय और विकास पर विस्तार से विचार किया गया है।

आलोच्य वर्ष मे आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली ने प्रसिद्ध अमरीकी दार्शनिक और शिक्षाशास्त्री जान ड्यूई की दो महत्त्वपूर्ण पुस्तको के हिन्दी सस्करण प्रकाशित किए हैं। 'नैतिक जीवन के सिद्धान्त' मे अर्थक्रियावादी विचारधारा से नैतिक जीवन की व्याख्या करते हुए परम्परागत धारणाओ की तुलना मे नए विचारवाद की व्याख्या की

गई है। 'मानव-प्रकृति और आचरण' मे विकासवाद की छाया मे भ्रूण-विज्ञान के दृष्टिकोण से उत्पन्न विचारधारा के आधार पर जननिक मनोविज्ञान की दृष्टि से मानव-प्रकृति और आचरण का विवेचन किया गया है। ये पुस्तके नि सन्देह हिन्दी के विविध साहित्य कोष को समृद्ध करती है। कही-कही हिन्दी सस्करण इयूई के विचारो की आत्मा को व्यक्त नही कर पाता।

सामाजिक विषय

समीक्ष्य वर्ष मे सामाजिक विषयो से सबधित तीन पुस्तके देखने मे आई है। 'समाज-कल्याण' शीर्षक से प० विद्यासागर शर्मा लिखित पुस्तक, समाज और उसके कल्याण की कल्पनाओ का विवेचन करती है। इसके अतिरिक्त जे०एम० मेकेन्जी की समाज-दर्शन की रूपरेखा तथा माइखेल मैस्तुर्ब की 'मानव की उत्पत्ति' पुस्तको के हिन्दी सस्करण भी प्रकाशित हुए है।

इस वर्ष सामुदायिक विकास मत्री श्री दे की कई महत्त्वपूर्ण पुस्तके बाजार मे आई है। 'पचायती राज्य' नामक पुस्तक मे स्वतन्त्रता के पहले का चित्र तथा भावी भारत की झलक प्रस्तुत करते हुए पचायती राज्य या जनवादी सत्ता और राज्यसत्ता के विकेन्द्रीकरण के विषय मे अपने प्रामाणिक विचार सुबोध शैली मे व्यक्त किए है। इसके अतिरिक्त उनकी दो और पुस्तको के नाम 'सामुदायिक विकास' और 'नीलोखेडी' है। इनमे भारत के सामुदायिक विकास का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत किया गया है। 'भारत की सामुदायिक विकास योजनाए' नामक पुस्तक डॉ० सच्चिदानन्द द्वारा लिखी गई है और इसके सम्पादक डॉ० श्यामाचरण दुबे है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा आलोच्य वर्ष मे प्रकाशित 'मगही सस्कार गीत' एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। इसमे मगही के वे लोकगीत है जिन्हे हिन्दुओ के सोलह सस्कारो के अवसर पर गाया जाता है। इसके सम्पादक डॉ० विश्वनाथ प्रसाद है। डॉ० प्रसाद ने इन गीतो की पूर्व पाठिका के रूप मे मगही भाषा और व्याकरण के तत्त्वो पर पाण्डित्यपूर्ण भूमिका लिखी है। गीतो के नीचे उपयुक्त टिप्पणिया, शब्द-व्युत्पत्तिया और अर्थ दिए गए है। गीतो मे जन-जीवन और आकाक्षाओ की सुन्दर झाकिया है।

राजनीति

सयुक्त राष्ट्रसघ की कल्पना को बलवती बनाने मे भारत का बडा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। एतदर्थ भारतीय जनसामान्य को इसकी गतिविधि का परिचय देना देश के लिए बडा लाभदायक है। सयुक्त राष्ट्रसघ का हमारे जीवन पर क्या प्रभाव पडा है यह बात स्पष्ट करते हुए श्री गिरीश श्रीवास्तव ने 'सयुक्त राष्ट्रसघ तथा हमारा जीवन' पुस्तक लिखी है। एडना ऐप्सटिन की तद्विषयक पुस्तक का 'सयुक्त राष्ट्र प्रवेशिका' शीर्षक से हिन्दी सस्करण प्रकाशित हुआ है।

अन्य प्रकाशन

उक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो रहा है कि हिन्दी मे विविध प्रकाशनो की सख्या तथा उपेक्षित और शास्त्रीय ज्ञान-क्षेत्रो पर लेखन की मात्रा उत्तरोत्तर बढती ही जा रही है । हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर आसीन करने के लिए हजारो की सख्या मे इस तरह के प्रकाशनो की आवश्यकता है । यह निस्सन्देह सत्य है कि इस तरह के साहित्य की बिक्री अभी बहुत कम है इसलिए प्रकाशक ललित साहित्य के प्रकाशन मे अधिक पैसा लगाते है । अन्तरिम काल के लिए केन्द्रीय सरकार ने प्रकाशको की सहायता के हेतु जो योजना आरम्भ की है उसके अधीन विविध, विशेष रूप से वैज्ञानिक साहित्य की पुस्तको की पर्याप्त प्रतिया खरीद कर प्रकाशन-खर्च सरकार वहन करने को तैयार है । सभवत इससे अधिकाधिक लाभ उठाकर प्रकाशक भविष्य मे विविध विषयो के अधिक ग्रथ प्रकाशित कर सके ।

प्रतिवर्ष के समान इस वर्ष भी जीवनी, सस्मरण और आत्मकथाए प्रकाशित हुई है । श्री बनारसीदास चतुर्वेदी लिखित 'रूस की साहित्यिक यात्रा', श्री गोविन्ददास की 'मेरे जीवन के विचार स्तम्भ', डॉ० बच्चन की 'नए-पुराने झरोखे', न०वि० गाडगिल की 'स्मृतिशेष', श्री पद्मकात मालवीय की 'मालवीय जी' जीवन झलकिया,' 'डॉ० सर्व-पल्ली राधाकृष्णन', 'राजाजी' आदि पुस्तके उल्लेखनीय है ।

प्रकाशन के सम्बन्ध मे व्यावहारिक दृष्टि से लिखी गई 'हिन्दी मे प्रकाशन' नामक पुस्तक ने इस वर्ष एक महत्त्वपूर्ण विषय पर प्रकाश डाला है । यह पुस्तक यूनेस्को के सहयोग से प्रकाशित की गई है । हिन्दी पुस्तक-व्यवसाय पर यह पुस्तक श्री ओम् प्रकाश ने लिखी है । इसके परिशिष्ट मे हिन्दी प्रकाशको, पुस्तक विक्रेताओ तथा व्यावसायिक चित्रकारो की सूचिया भी दी गई है ।

आलोच्य वर्ष मे हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार की विचार-गर्भित पुस्तक 'समय और हम' भी प्रकाशित हुई है । इसके लगभग ७०० पृष्ठो मे जैनेन्द्र जी ने जीवन के सभी पक्षो का सागोपाग विश्लेषण और विवेचन किया है । प्रधानत अध्यात्म और विज्ञान के नवीन योग और वैज्ञानिक अध्यात्म का प्रतिपादन इस ग्रथ के प्रमुख आकर्षण है । यह लेखक की जीवन निष्ठा का 'सहज, सरल एव सरस' निवेदन है । राष्ट्र, समाज, जीवन, धर्म, साहित्य आदि विभिन्न विषयो पर गम्भीर चिन्तन से ओतप्रोत उनका इस वर्ष प्रकाशित दूसरा ग्रथ 'इतस्तत' है ।

आलोच्य वर्ष मे उन्नत कृषि, धूम्रपान, प्राकृतिक चिकित्सा आदि विषयो पर भी कुछ उपयोगी पुस्तके लिखी गई है । विविध साहित्य की लगभग ५० पुस्तके बालको और प्रौढो के लिए प्रकाशित की गई है ।

कोश

भारत सरकार की आर्थिक सहायता से नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित विश्वकोश का दूसरा खड इस वर्ष बाजार मे आ गया है । इसमे इलेक्ट्रानिकी से काहिरा

तक अनेक शीर्षको के अन्तर्गत प्रामाणिक सूचना एकत्र की गई है। हिन्दी विश्वकोश का प्रकाशन हिन्दी मे उच्चकोटि के सदर्भ-ग्रथो की कमी को पूरा करने के लिए एक महत्त्वपूण योजना है। इसके लेख उच्चकोटि के विशेषज्ञो के द्वारा लिखे जा रहे है। द्वितीय खड उपयुक्त रगीन और रेखा चित्रो से सुसज्जित है। इसी वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'मानक हिन्दी कोश' का प्रथम खण्ड प्रकाशित किया है। इसमे अ से क तक शब्द सम्मिलित किए गए है। इस कोश का सम्पादन सुप्रसिद्ध कोशकार श्री रामचन्द्र वर्मा श्री बदरीनाथ कपूर, श्री तारणीश झा, श्री गुरुनारायण पाण्डे तथा श्री जयशकर त्रिपाठी के सहयोग से कर रहे है। इस कोश की विशेषता यह है कि प्रत्येक शब्द के स्थानीय रूपो का समावेश करते हुए इसमे प्रत्येक शब्द की निरुक्ति की व्युत्पत्ति भी दी जा रही है। शब्दो के अर्थो का विस्तृत रूप से विवेचन किया जा रहा है। अर्थो का सूक्ष्म अन्तर भी प्रामाणिकता से स्पष्ट किया जा रहा है।

विविध साहित्य का यह सर्वेक्षण बहुत अपर्याप्त है। जानकारी और साधनो के अभाव मे यदि किन्ही महत्त्वपूर्ण प्रकाशनो का उल्लेख रह गया हो तो उसके लिए मै क्षमा-प्रार्थना करता हू।

———

श्रेष्ठ प्रकाशन

वृत्र-संहार

श्री भवानी प्रसाद मिश्र

इस महाकाव्य के अनुवाद की भूमिका, जिसे दद्दा ने अपने स्वभाव की नम्रता के अनुसार 'निवेदन' कहा है, यह विदित होता है कि आज से लगभग चालीस वर्ष पहले उन्होंने स्वर्गीय हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय के इस महाकाव्य का अनुवाद शुरू किया था। 'मेघनाद-वध' और पलाशिर-युद्ध' का अनुवाद वे हिन्दी जगत् का दे ही चुके थे और उनके इस कृतित्व की सभी ने सराहना की थी। किन्तु तब वह शुरू होकर ही रह गया और अब इतने वर्षों बाद उन्होंने इसे एकदम नए सिरे से अनूदित करके प्रस्तुत कर दिया है।

हेमचन्द्र का यह महाकाव्य मैंने मूल में नहीं पढ़ा था और इसीलिए अनुवाद का पूरा आनन्द लेने के खयाल से मैंने जब यहां मूल की खोज की तो बंगाली-साहित्यिक मित्रों से लेकर बंगला के पुस्तक विक्रेता और पुस्तकालयों तक ने मुझे निराश कर दिया। एक मित्र ने यहां तक कहा कि "मैं तुमको बहुत नया कवि तो नहीं मानता, मगर इतना पुराना भी नहीं मानता कि तुम 'वृत्र-संहार' पढ़ने लगो। अब तो बंगला में माइकेल मधुसूदन दत्त या हेमचन्द्र की तो बात ही छोड़ो रवीन्द्रनाथ भी फैशन में नहीं हैं। यहां तक कि जीवनानन्द, बुद्ध देव बसु विष्णु दे, हेमचन्द मित्र वगैरह भी काफी नए नहीं रहे। अगर तुम्हें बंगला कविता पढ़नी हो तो ठीक नए कवियों को पढ़ो।" बहस बेकार थी इसीलिए मैंने इतना ही कहा, 'आनन्द के लिए नहीं एक काम के सिलसिले में 'वृत्र-संहार' पढ़ने की जरूरत पड़ गई है। श्री मैथिलीशरण ने हिन्दी में इसका अनुवाद किया है, और उसकी समीक्षा करनी है।" उन्होंने हंसकर कहा--"प्रति भी उन्हीं के पास मिल जाएगी।" मैंने दद्दा से कहा, और उन्होंने महाकाव्य की मूल प्रति चिरगांव से मंगाकर मेरे हवाले कर दी।

कवि हेमचन्द्र ने काव्य का प्रारम्भ रसातल के वर्णन से किया है जहां देवता-गण भगवान् शंकर के भक्त वृत्र से हारकर जा छिपे हैं। इन्द्र सुमेरु पर्वत पर नियति

मूल लेखक	हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय
छायानुवादक	मैथिलीशरण गुप्त
प्रकाशक	साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी

को प्रसन्न करने के लिए तपस्या कर रहा है शची अपनी सखी चपला के साथ नैमिषारण्य मे दिन काट रही है, वृत्रासुर स्वर्ग का उपभोग कर रहा है, किन्तु उसकी पत्नी ऐंद्रिला इतने से ही सन्तुष्ट नही है। वह चाहती है कि किसी-न-किसी प्रकार शची को नैमिषारण्य से उसकी सेवा के लिए पकडकर मगवाया जाए। वृत्रासुर इस काम के लिए भीषण नामक एक दानव को भेजता है।

नैमिषारण्य मे शची को मन्मथ के द्वारा यह समाचार मिलता है —

"भीषण को आज्ञा हुई आपको ले आने की
अतिबली दैत्य, कौन रक्षक है आपका ?"

और शची कहती है—

"इन्द्र तपोरत तो कहा हैं देव दूसरे ?"

माता की यह मनोध्वनि जयत को रसातल मे सुनाई दी और वह नैमिषारण्य मे जा पहुचा। इधर देवताओ ने स्वर्ग को घेर लिया। उधर अवसर पर पहुचकर जयत ने भीषण को मार डाला और उसके साथी ने भागकर यह समाचार वृत्र को दिया।

"नैमिष में निर्भय जयन्त-सह है शची
दैत्येश्वर कैसे कहू, भीषण निहत है!"

देवसेना से वृत्रासुर का पुत्र रुद्रशीड युद्ध कर ही रहा था। पिता ने उससे कहा कि वह यहा का युद्ध छोडकर नैमिषारण्य जाए और शची को ऐन्द्रिला की सेवा मे उपस्थित करे।

इस बीच सुमेरु पर सुरपति-शक्र की तपस्या से प्रसन्न होकर—

"प्रकटी नियति, शिला-मूर्ति, क्रूर लोचना।
बोली रुक्षवाणी एक बार देख इन्द्र को
सम्भव नहीं है, शक्र, साधना असाध्य की।"

इन्द्र ने नियति से प्रार्थना की कि मै भाग्यलिपि काटने के लिए नही कहता, केवल यही जानना चाहता हू कि वृत्र का नाश कब होगा। नियति ने बताया—

"वृत्र का विनाश होगा ब्रह्मा के दिनान्त में,
जाओ शिव निकट विशेष वे बतलाएगे।"

इन्द्र ने देवताओ के पास यह समाचार भेजा कि ब्रह्मा के दिनात मे वृत्र का नाश निश्चित

है, इतना नियति से ज्ञात हुआ। और अधिक जानने के लिए मैं शिव के पास जा रहा हू। देव इस समाचार को पाकर दुगुने उत्साह से युद्ध की तैयारी करने लगे।

रुद्रवीड की पत्नी इन्दुबाला, रति से, जो इन दिनो उसकी सेवा मे है, पूछती है—

"कब तक स्वर्ग आना सम्भव है मर्त्य से ?

× × ×

रोकती हू कितना न जाने रण-पण क्या,
और यश स्वाद कैसा तृष्णा नहीं मिटती।"

जब रति से मालूम होता कि रुद्रवीड मर्त्य लोक मे इसीलिए भेजे गए है कि वे इन्द्राणी को ऐन्द्रिला की किंकरी बनाने के लिए पकड़कर ले आए तब उसे बड़ा दुख हुआ और उसने कहा—

"वे ही वीर युद्ध प्रिय, और उन्हे आने दो,
मेटूगी शची की व्यथा वेदना मै आप ही।

× × ×

महिषी की दासी उन्हे होने नही दू गी मै।

अन्त मे जयन्त और रुद्रवीड के युद्ध मे जयन्त मूर्च्छित हो गया और रुद्रवीड ने निकषर नामक दैत्य को आज्ञा दी कि वह उसे बलपूर्वक उठाकर स्वर्ग ले चले। शची के विलाप से ब्रह्मापुरी, विष्णुधाम और शम्भुगिरि सिहर उठे। शकर की जटाए काप उठी, पार्वती के आसू झरने लगे और आकाशवाणी हुई—

"सुमिर रही है नाथ, इन्द्राणी विपत्ति मे
नैमिष से दैत्य हरे ले जा रहा उसको।"

नियति के आदेश पर उस समय तक सुरराज भी कैलाश पर पहुच चुके थे। उन्होने अपना धनुष उठा लिया और वह स्वर्ग की ओर दौड़े। शम्भु ने उन्हे रोक लिया और स्वय क्रोध मे आकर दैत्यो के विनाश के लिए तत्पर हो गए। किन्तु अन्त मे पार्वती के कहने से शात हुए और उन्होने इन्द्र को वृत्र के विनाश की विधि बतला दी। उन्होने कहा कि तुम दधीचि के पास जाओ।

"उनकी पुनीत अस्थिया ले विश्वकर्मा जो
आयुध बनायेगा, अमोघ होगा विश्व में।"

इधर स्वर्ग मे ऐन्द्रिला शची की राह देख रही है कि रुद्रपीड उसे लेकर वहा पहुचता है। सहसा शकर के कोप-चिह्न प्रकट होते है। ऐन्द्रिला का ककण खसक जाता है, रुद्रपीड को रोमाच हो उठता है और वृत्रासुर के पलक झप जाते है। वह बोल उठता है 'यह रुद्र का रोषानल है'।

कथा की दृष्टि से यह काव्य का मध्य भाग हुआ, किन्तु वास्तविक काव्य यही से शुरू होता है। महाकाव्य के मुख्य पात्रो का चरित्र इसी बारहवे सर्ग के बाद विकसित होता है। कदाचित् इसीलिए कवि ने इसी सर्ग के आरम्भ मे सरस्वती की वन्दना की है। इसके बाद स्वर्ग मे क्या कुछ हुआ, शिव के कोप से भयभीत होकर वृत्र ने क्या किया, ऐन्द्रिला ने क्या विचारा, इन्द्राणी ने शत्रुओ के बीच अपना समय किस प्रकार काटा, वासव को दधीचि की अस्थिया किस प्रकार मिली, विश्वकर्मा ने किस प्रकार वज्र बनाया और इन्द्र ने वृत्र का वध करके पुन स्वर्ग का राज्य किस प्रकार पाया इसकी अत्यन्त काव्यमय कथा चलती है।

इस कथा के माध्यम से स्वर्गीय हेमचन्द्र ने आत्म-बलिदान ओर निरन्तर कर्म-निरत रहने का सन्देश दिया है। जिस समय यह काव्य लिखा था उस समय अग्रेज शासक हमारे देश मे जमकर बैठे थे, राजनीति उन दिनो की गूगी थी। महाप्राण व्यक्ति भी इस लज्जा की ओर से मानो आखे मूँदे थे। तब सिवा काव्य के पराधीनता की याद दिलाने का काम कौन करता। इसीलिए कवि ने काव्य के प्रारम्भ मे असुरो से हारकर रसातल मे छिपे हुए देवताओ के मन की ग्लानि, घृणा, क्षोभ आदि को चित्रित करने के बहाने एक विजित और पराधीन जाति के मनोभाव उभारे है और फिर अनन्त कष्टो के बीच निरन्तर प्रयास की कठिन राह से उसे मुक्ति तक पहुचा दिया है।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति उन दिनो का यक्ष-प्रश्न था और आज जब राष्ट्रकवि ने उसका अनुवाद किया तब स्वतन्त्रता की रक्षा हमारा यक्ष-प्रश्न बना हुआ है। अनेक लोगो की तरह सीधी-सीधी चीन-विरोधी या पाकिस्तान-विरोधी कविताए लिखना राष्ट्रकवि की वाणी की गरिमा से समजस नही है। कदाचित् इसीलिए उन्होंने अपने मन की बात अपने चिर-परिचित माध्यम से करनी चाही होगी और मुझे लगता है कि 'शारीरिक और मानसिक स्थिति अब उतनी अनुकूल नही' है इसी-लिए उन्होने देवासुर-सग्राम को चित्रित करने वाले इस सशक्त महाकाव्य के अनुवाद के द्वारा अपनी वही इच्छा प्रकारान्तर से पूरी की है। गुप्तजी की दृष्टि से इस महा-काव्य को लिखने मे कवि का मुख्य उद्देश्य देश-प्रेम और जाति उद्बोधन ही था और हमारी समझ मे उसका अनुवाद करने मे गुप्त जी का भी उद्देश्य यही रहा है।

अनुवाद सर्वाङ्ग सुन्दर हुआ है। बंगला से हिन्दी में अनुवाद करना साधारणतया कोई कठिन काम नहीं माना जा सकता, क्योंकि बंगला कुल मिलाकर एक स्थूल भाषा है। उसके शब्दों में जिन्हें हम अंग्रेजी में 'शेड्स' कहते हैं, हिन्दी की अपेक्षा कुछ अधिक सूक्ष्मता नहीं होती। शब्दों में निहित उसके अर्थ को लगभग आसानी के साथ हिन्दी में अभिव्यक्त किया जा सकता है और सो भी कई बार अपेक्षाकृत कम शब्दों का उपयोग करके। इसीलिए हम देखते हैं कि जो मूल बंगला-काव्य अपेक्षाकृत छोटे टाइप में ३७३ पृष्ठों में समाप्त हुआ है वही अनूदित होकर अपेक्षाकृत बड़े टाइप में ३१८ पृष्ठों में समाप्त हो गया है। अवश्य ही अनुवाद करते हुए कहीं-कहीं गुप्तजी ने अनावश्यक विस्तार को थोड़ा काट-छाट दिया है, विशेषतः काव्य में सर्वत्र बिखरे युद्ध-वर्णन के अंश में।

गुप्तजी ने 'काट-छाट ही नहीं की, यदा-कदा आवश्यक अथवा प्रसंगानुकूल समझकर कुछ जोड़ भी दिया है, जैसे जब शची का विलाप सुनकर भगवान् शंकर क्रोधित होकर शृंगनाद करते हैं तब वृत्र उन्मन हो जाता है। ऐन्द्रिला उसे बहलाने का प्रयत्न करती है, किन्तु वृत्र उसे तीक्ष्णतर दृष्टि से देखते हुए कहता है—

"वह तप मेरा और वर वह शूली का,
व्यर्थ हुआ सब कुछ तेरे क्रूर कर्म से।"

मूल काव्य में ऐन्द्रिला का यह तिरस्कार उसी के तिरस्कार पर समाप्त हो जाता है, किन्तु गुप्तजी ने उसके बाद एक पंक्ति जोड़ दी है—

"किन्तु तुझे दोष दूं क्या भूल हुई मेरी भी"

और इस एक जोड़ी हुई पंक्ति ने वृत्र के अन्यथा उदात्त चरित्र को अविचार के कलंक से बचा लिया है।

मूल काव्य के सभी सर्ग विभिन्न छन्दों में लिखे गए हैं और उनमें से अधिकतर छन्द सानुप्रास हैं। गुप्तजी ने सारा महाकाव्य एक ही अनुप्रासहीन छन्द में लिखा है, किन्तु हमारी समझ में इससे कोई हानि नहीं हुई है, वरन् जल्दी-जल्दी बदलने वाले छन्दों के कारण रस-परिपाक में जो बाधा पड़ती थी एक सीमा तक उससे त्राण ही मिला है। अनुवाद-सौन्दर्य के विचार से कुछ पंक्तियां देकर हम यह समीक्षा समाप्त करेंगे—

बलिते बलिते आस्ये हइल प्रकाश
अपूर्व गरिमाच्छटा किरन-आभास
नयन-ललाट-गण्ड हइल ज्योतिर्मय
सृष्टिर सृजने येन नवसूर्योदय।

(मूल पृ० ४७)

सहसा शची का मुख उद्भासित हो उठा
फूट फैली चारो ओर गरिमा की किरणें।
नयन, कपोल, भाल ज्योतिर्मय हो उठे,
सृष्टि रचना में नया सूर्योदय जैसे हो।

(अनुवाद पृ० ४५)

त्रिदश-आलये हेन अमर-दानवे
ज्वलिछे समरवह्नि नित्य अहरह,
वेष्टित अमरावती देव-सैन्यदले।
सुदृढ सकल्प उभ देवता-दनुजे।
अर्णवेर उर्मिराशि यथा प्रवाहित
अहर्निशि, अनुक्षण, विरति-विश्राम,
स्रोतस्वती विधावित नियत यद्रूप
धारा प्रसारिया गति सिन्धु अभिमुखे।

(मूल पृ० ६०–६१)

युद्धानल जलता है देव और दैत्यो का
अविरल रात-दिन अस्त्र-वृष्टि होती है।
गिरती बिजलियाँ है. पडती शिलाएँ है
आकुल अनन्त और व्याकुल दिगन्त है।
दोनो दृढ निश्चयी हैं। सिन्धु के प्रवाह ज्यो
थमते नहीं है गतिशील दल दोनो के।
स्रोतस्विनी धारा-सी प्रवृत्तियाँ हैं दोनो की
जाती लक्ष्य-सागर की ओर अविराम हैं।

(अनुवाद पृ० ५९)

येन कल-कल करि गह्वर सलिले भरि
पर्वत निर्झर भ्रमे वेष्टित प्रस्वरे।

(मूल पृ० १२०)

जैसे गिरि निर्झर, पडा उपल खडो मे
कल-कल करता हो, निकल न पाता हो।

(अनुवाद पृ० १०१)

ऐसे अंशों को अशेष रूप से उद्धृत किया जा सकता है जिनमें अनुवाद मूल से अगर एकाध बात में कुछ कम-सा लगता है, तो दो-चार बातों में स्पष्ट ही बढ़ा हुआ जान पड़ता है। शरीर की लगभग नाजुक स्थिति में जितने मनोयोगपूर्वक यह अनुवाद सम्पन्न किया गया है, वह आज के इस जैसे-तैसे निपटाऊ-गाऊ-अनुवादों के युग में अत्यधिक द्रष्टव्य है। यह अलग बहस है कि इसका अनुवाद किया जाना था या नहीं, इस अनुवाद को पढ़ा जाना चाहिए या नहीं। अलग-अलग रुचियाँ हैं और अलग-अलग मनों की अलग-अलग जरूरतें हैं। आज हिन्दी में जिस प्रकार नए-से-नए लेखन की आवश्यकता है उसी प्रकार पुराने-से-पुराने अमर ग्रन्थों के अच्छे अनुवादों की आवश्यकता है। बंगला के दो श्रेष्ठ महाकाव्यों की हद तक दत्त ने हमारी यह जरूरत खूब अच्छी तरह पूरी कर दी है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

———

रंगों से मोह

डॉ० हरिवशराय बच्चन

आज का पाठक वर्ग भगवतीचरण वर्मा को कवि से अधिक उपन्यासकार के रूप मे जानता है। पर आज से तीन दशक पूर्व हिन्दी के आधा दर्जन चोटी के कवियो मे उनकी गणना होती थी—बृहत्रयी मे प्रसाद, निराला, पन्त का नाम लिया जाता था, लघुत्रयी मे महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा और भगवतीचरण वर्मा का, कभी-कभी लघुत्रयी को लघुता की हीन भावना से बचाने के लिए वर्मात्रयी भी कहा जाता था। बृहत्रयी नाम, जहा तक मुझे स्मरण है, नन्ददुलारे वाजपेयी ने दिया था—लघुत्रयी या वर्मात्रयी किस की खोज थी, मुझे पता नही। धीरे-धीरे महादेवी वर्मा का नाम बृहत्रयी मे जुड गया, रामकुमार वर्मा का कवि एकाकीकार, समालोचक, अध्यापक से दब गया ओर भगवतीचरण वर्मा ने विशेषकर निबन्ध, कहानी और उपन्यास का गद्य-क्षेत्र अपनाया। फिर भी उनका कवि उपेक्षित होकर भी लगभग १० वर्ष सक्रिय रहा। उनका प्रथम सग्रह 'मधुकण' १९३२ मे निकला था, 'प्रेम सगीत' १९३७ मे, 'मानव' १९४० मे निकला। अब २२ वर्षो के बाद उनका प्रस्तुत सग्रह 'रगो से मोह' निकला है। अपने कवि को बिल्कुल मौन कर देना वर्मा जी के लिए सम्भव नही हुआ—२२ वर्षो मे उनकी लेखनी से ४१ कविताएँ निकल ही गई।

छायावादी काव्य का जहाँ एक आध्यात्मिक पक्ष था वहाँ उसका एक लौकिक पक्ष भी था जो जीवन की स्वाभाविक माँगो पर बल देता था और मध्ययुगीन निवृत्ति-मुखी बन्धनो से निकलकर प्रवृत्ति-मुखी होने के लिए मचल रहा था। उसका प्रथम सशक्त स्वर बालकृष्ण शर्मा नवीन की रचनाओ मे सुना गया था, पर एक दीर्घ काल तक अपने प्रकाशन की ओर से उदासीन रहने के कारण, न उस प्रवृत्ति को महत्त्व दिया गया और न आलोचको द्वारा उसकी चर्चा की गई।

भगवतीचरण वर्मा नवीन के अधिक निकट थे। वे छायावादी कला से प्रभावित अवश्य हुए थे पर छायावादी अध्यात्म से अभिभूत नही थे। रामकुमार वर्मा मे उसकी बौद्धिक स्वीकृति थी, महादेवी वर्मा मे हार्दिक। भगवतीचरण वर्मा का अह अधिक

लेखक	भगवती चरण वर्मा
प्रकाशक	भारती भडार, इलाहाबाद
मूल्य	५ रु०

जाग्रत था , वे मानव के ऊपर किसी पराशक्ति की चेतना तो रखते थे, पर उसमे मिलने अथवा उसे पूर्णतया समर्पित हो जाने की क्षमता उनमे नही थी। इस चेतना का परिणाम यह था कि मानव की लघुता, सीमा, असमर्थता, विवशता उन्हे बराबर खलती थी , पराशक्ति अपनी महानता मे या तो मानव के प्रति उदासीन थी अथवा नियति के समान निर्मम। फिर भी यह अह का उपासक मानव की लघुता एव नगण्यता से समझौता करने को तैयार न था। वह मानव को चिर-अभिलाषी, महत्त्वाकाक्षी, चुनौती को स्वीकार करने वाले विद्रोही के रूप मे ही देखता था।

एक, एक के बाद दूसरी
तृप्ति प्रलय पर्यन्त नही ,
अभिलाषा के इस जीवन का
आदि नही है, अन्त नहीं। (मधुकण)

छायावादी काल मे भी वर्मा जी की यह विशेषता देख ली गई थी। ऐसे ओजपूर्ण स्वरो मे अह का ऐसा प्रस्थापन उनके किसी समकक्षी मे नही था—न बृहत्रयी मे, न लघुत्रयी मे। 'प्रेम सगीत' मे प्रेम की पीर अथवा गहराई से अधिक उसकी उद्दामता ही अधिक व्यक्त हुई थी।

ढक ले पृथ्वी, ढक ले अम्बर
जीवन का मुक्त प्रवाह प्रिये,
तुम अक्षय छवि, मै अमिट साध
यह अन्धकार है चाह प्रिये। (प्रेम-सगीत)

स्वाभाविक है कि ऐसे आवेग को दुनिया की वास्तविकता की टक्कर लगनी थी। कुछ प्रगतिवादी प्रभाव ने भी कवि को असम्भव स्वप्नो से वास्तविकता की धरती पर उतारा होगा।

कवि लिखने बैठा—मधु ऋतु है
मधु से मतवाला है मधुवन
× × ×
कवि सहसा सिहरा काँप उठा
सुन भूखे बच्चो का रोदन। (मानव)

उस काल और उस मन स्थिति की प्रतिनिधि कविता है भैमागा ी', जो एक व त समय प्रसिद्ध हो गई थी और प्रगतिवाद की उपलब्धियो मे गिनी जाएगी।

इस काल के पश्चात्, वर्मा जी की स्वय स्वीकृति है, कि उनकी कविताएँ आन्तरिक प्रेरणा अथवा अनिवार्यता से नही लिखी गई —विशेष अवसरो पर उन्हे लिखनी पडी। फिर भी उन्होने जो कवित्व-क्षमता अपने दस वर्षों के काल मे सचित की थी, वह बराबर इन रचनाओ मे अपनी अक्षुण्णता सिद्ध करती रही। अभिव्यक्ति मे कला की दृष्टि से किसी प्रकार के विकास की आशा इन कविताओ मे न की जानी चाहिए। अनुभव और वय से प्राप्त परिपक्वता और बात है। वर्मा जी प्राय अभिधा के कवि रहे है। उनकी बात सीधी, सुलझी और तर्कसगत होती है। बौद्धिक विदग्धता उनमे है, पर भावुकता की अतिशयता से वे बचते हे। उनकी कविता के ये पूर्व गुण इन कविताओ मे भी मिलेगे।

विशेष आकर्षित करने वाली इस सग्रह की वे लगभग एक दर्जन कविताएँ है जो किसी अवसर से सम्बद्ध न होकर कवि के चिनन-मनन के क्षणो की उपज है। मानव की समस्याएँ हल नही हुई, उसका सघष भी समाप्त नही हुआ, कुछ ऐसा परिवर्तन भी नही हुआ जिसे सन्तोषजनक कहा जा सके और कुछ ऐसी उपलब्धियाँ भी नही हुई जिन पर गर्व किया जाए, पर अनुभव से भीगकर भारी हो जाने का भाव अवश्य उसमे आ गया है। और, इस भारी होने मे एक झुकाव, एक विनम्रता आ गई है जो सम्भवत सभी प्रकार के सघर्षो की अन्तिम परिणति है।

अर्पित मेरा अस्तित्व इसे स्वीकार करो।

× × ×

मा तू जाने, तुझ को अर्पित मेरा सारा जीवन है।

× × ×

शत-शत असफलताओ से है
अभिशापित मेरा मस्तक नत।

× × ×

अपना सर नीचा कर मानव

× × ×

आत्म समर्पण आज कर रहा है यह अपना दीवाना,
मैंने जीवन को कब समझा ? कब अपने को पहचाना ?

निश्चय ही यह सघर्षशील मानव का समर्पण उस छायावादी भावाकुल समर्पण से भिन्न है जिसमे उच्छ्वसित होकर यह कहा गया था कि

तेरा अधर विचुंबित प्याला,
तेरी ही स्मिति-मिश्रित हाला,
तेरी ही मादक मधुशाला,
फिर पूछू क्यो मेरे साकी देते हो विषमय-मधुमय क्या !

(नीरजा--महादेवी वर्मा)

भगवतीचरण वर्मा के समर्पण मे मानवता के अनिवार्य भाग्य की एक ऐसी त्रासदी (ट्रेजेडी) है जिसका कटु अनुभव आज के युग मे पूर्व-पश्चिम सब ओर किया जा रहा है। उसके समक्ष छायावादी समर्पण--कम-से-कम आज के यथार्थवादी युग मे--पलायन और प्रवचन ही प्रतीत होगा।

वर्मा जी ने सकलन के आरम्भ मे कविता के सम्बन्ध मे कई स्थापनाए की है कि यह कविता के ह्रास का युग है, कि कविता मात्र भावना का व्यक्तीकरण है, कि कविता को छन्द-तुक मे बद्ध होना ही चाहिए। इसके विपरीत मतो से भी लोग परिचित है। यह सर्वविदित है कि विभिन्न देश-कालो मे कविता के सम्बन्ध मे विभिन्न, यहा तक कि परस्पर विरोधी स्थापनाए की गई है फिर भी कविता कविता होने के कारण ही पहचानी जाती और मान पाती है। और, कविता का एक मात्र गुण जो उसे कवित्व प्रदान करता है शायद आज भी रहस्य है।

वर्मा जी की स्थापनाओ से असहमत होने वाले भी इन कविताओ मे कवित्व पा सकेगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

चार खेमे और चौंसठ खूंटे

डॉ० शिवमगलसिह 'सुमन'

'चार खेमे और चौसठ खूटे' की भूमिका मे 'त्रिभगिमा' का उल्लेख करते हुए बच्चन ने सकेत किया है कि "यह मेरी पचास की उम्र के बाद तीन वर्षो मे लिखी गई सतहत्तर कविताओ का सग्रह थी। बाह्य दृष्टि से तीन प्रकार की रचनाओ की—लोकधुनो पर आधारित, छन्दोबद्ध और मुक्तछन्द की। आन्तरिक दृष्टि से शायद उसमे अधिक विविधता थी।" यह परिचय कुछ कुछ अपेक्षाविक-सा है, जिससे पाठक को कवि के मानस मे प्रवेश पाने की कोई अन्तर्दृष्टि नही मिलती। अन्तिम वाक्य अवश्य बचाव का है। वस्तुत त्रिभगिमा-काल मे कवि की विचारधारा और भावनाधारा मे नया मोड आया है, जाने या अनजाने। त्रिभगिमा को तीन प्रकार की शैलियो के अर्थ मे न लेकर यदि प्रसाद के त्रिदिक्—इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समाहार रूप मे स्वीकार कर सके तो भी असगत न होगा, यद्यपि दोनो की भावभूमि मे पर्याप्त अन्तर है। पर जैसे अति पर पहुची हुई आध्यात्मिकता भौतिकता को ही उदात्त बनाती है और अति भौतिकता की सीमा आध्यात्मिकता के शिखरो को छू आती है, उसी प्रकार दोनो का पारस्परिक पर्यवसान असम्भाव्य नही। ध्यान से देखे तो 'चार खेमे चौसठ खूटे' मे इन्ही आयामो का प्रसार वितान का रूप धारण करने लगा है, रही चार की बात तो जैसे चार बने वैसे पाच भी बन सकते थे। व्याख्या के विस्तार की तो सीमा नही, पचभूतो से लेकर पचदेवो तक, कवि को भी अनायास स्मार्तवैष्णवो का विरद सुलभ हो जाता, आगे का भवितव्य कौन जाने? केवल मचगान जुट जाने से तो चौथा खेमा तैयार नही होता। हो भी जाय तो उसके खूटे बजाय गडने के उछले उछले ही फिरेगे, क्योकि इसकी जमानत कौन देगा कि मचगान के साथ नृत्य का समावेश अप्रयास ही न हो जाएगा—'गीत, वाद्य च नृत्य च त्रय सगीतमुच्यते'। मच को रगमच न कहना चाहे तो भी कोई फर्क नही पडता। यो षण्मुख, सप्तद्वीप, अष्टग्रही, नवखण्ड, दशावतार, एकादशरुद्र और द्वादशअक्षर मत्र तक और आगे भी नामकरण की सार्थकता का विस्तृत क्षेत्र है। चार के साथ चौसठ की सगति भी कवि ने बिठाई है—'एक

लेखक	श्री बच्चन
प्रकाशक	राजपाल एड सस, दिल्ली
मूल्य	३ रु०

तो तुक के बन्धुत्व के कारण दूसरे चौसठ कलाओ और चौसठ योगिनियो के साथ।' यह तात्रिक सिलसिला दूर तक भी खीचा जा सकता है, वज्रयानियो से लेकर काल और कापालिको तक ।

चार खेमे और चोसठ खूंटे तक पहुचने का पथ बच्चन ने स्वय प्रशस्त कर दिया है 'धार के इधर उधर' छपवा कर। ये धार के इस पार की रचनाए है, जिसका नया अध्याय 'बुद्ध और नाचघर' की यवनिका उठने के साथ-साथ उद्घाटित हो उठता है। 'बगाल का काल' मुक्त छन्द की रचना होते हुए भी उसी पार की है। क्योकि उसकी ग्लानि और भत्सना के स्वर पारम्परिक प्रतीको से ही बधे हुए है और तब तक अगल-बगल की बजर धरती को भी जोत डालने की जिज्ञासा कवि मे जाग्रत नही हुई थी, अभी तक वह राष्ट्र और समाज की ज्वलन्त समस्याओ को काव्य का विषय बनाने की ओर उन्मुख नही हुआ था। इस लम्बी रचना मे सर्वप्रथम बच्चन के ओजस्वी स्वरो की बानगी देखने को मिली ओर हिन्दी ससार आश्वस्त हो सका कि अवसर आने पर मधुशाला और मधुबाला का मदमस्त कवि शख-नाद भी कर सकता है।

यह तो छाती ठोककर नही कहा जा सकता कि बच्चन की विदेश-यात्रा उनके काव्य के लिए हितकर हुई या अहितकर पर इतना निश्चित है कि इस यात्रा ने बच्चन के चितन ओर अनुभूति के आयामो मे आमूल परिवर्तन कर दिया। फ्रायड और जुग की दुहाई दिए बिना भी ये अन्तश्चेतन परिवर्तन आकस्मिक न थे। इतिहास को कभी काव्य से भी अधिक उनकी ईमानदारी की दाद देनी होगी।

बच्चन प्रधानत लय और छन्द के ही कवि है, मूल मे प्रगीतात्मक। छायावाद काल प्रगीत-प्रधान युग रहा है। बच्चन छायावाद काल के उत्तरार्द्ध (१९३०–४०) के समानान्तर लौकिक-भावभूमि पर विचरे ओर छा गए। प्रगीतो का रस सौकर्य अपेक्षाकृत लौकिक भावभूमि पर ही अधिक खिलता है। कबीर ने भी अव्यक्त ओर अलख को लखाने के लिए दैनदिन जीवन के चिरपरिचित व्यापारो को ही रूपको और समासोक्तियो मे लपेटकर हृदयगम कराने का प्रयत्न किया था। दुलहिन की डोली और झीनी-बीनी चदरिया के रूपक इसी भावोद्बोधन के परिचायक है। बच्चन की अभूतपूर्व सफलता का भी यही रहस्य था, प्रेम-विरह की अनुभूति का सामान्यीकरण। सफल कवि की कसोटी यही है कि वह साधारण मे असाधारण ओर असाधारण मे साधारण की भावना को सहृदय-सवेद्य बना सके। इसीलिए बच्चन ने कल्पना का उतना ही उपयोग किया जितना अनुभूति को तीव्र करने के लिए आवश्यक था, दूर की कौडी लाने के पीछे वे कभी नही भटके। उसकी कमी उन्होने सूक्ष्मनिरीक्षण और मार्मिक उक्तियो के चुनाव से पूरी की। 'चार खेमे चौसठ खूंटे तक आते-आते तो अनुभव की परिपक्वता 'चौथेपन पायो सुत वारी' के रूप मे प्रतिफलित हो उठी है। पहले कहा जा चुका है कि इस मनोदशा का सूत्रपात १९५२ मे

उनकी कैम्ब्रिज यात्रा से होता है, जब वे डब्ल्यू० बी० ईट्स पर अनुसधान करने इगलैण्ड गए थे। 'बुद्ध और नाचघर' की भूमिका मे उन्होने स्वय स्वीकार किया है कि —"इगलैण्ड मे स्वाध्याय से मुझ पर यह बात और दृढ हुई कि कुछ विषय, कुछ उद्भावनाए, कुछ विचार करने की प्रक्रियाए ऐसी है जो मुक्तछन्द मे ही प्रभावपूर्ण ढग से व्यक्त की जा सकती है।" सन् १९४४ से १९५७ के बीच लिखित इन अट्ठाइस कविताओ मे बच्चन के नए भाव-परिवेश की प्रक्रिया स्पष्ट परिलक्षित की जा सकती है। मनोवृत्ति का पारम्परिक सूत्र खोजने के लिए प्रारम्भ मे ही मधु-कलश (१९३५–३६) की ओर इसी आशय से सकेत किया जा चुका है जिससे भावप्रवण और तर्क-कुशल बच्चन की छन्दबद्ध और छन्दमुक्त व्यजनाओ का तुलनात्मक आकलन किया जा सके। उम्र के चढाव-उतार के साथ उनके जीवन का वैविध्य भावानुभूति के जिन तापक्रमो को छूता रहा है, उसका इस ग्राफ मे बहुत कुछ पता चल सकता है।

तो यह युग के उद्बुद्ध सवेदनशील कवि के पैरो की विवशता ही है कि वह यहा तक आ पहुचा। त्रिभगिमा मे कवि की भावना और विचारो का अन्तर्द्वन्द्व एक विशेष परिणति पर पहुच गया है। लोकधुनो पर लिखित मर्ममधुर गीत कवि की ताजगी के साक्षी है, उसकी सतत गतिशीलता के परिचायक। जब-जब उसके जीवन मे एकरसता आने लगी है उसने कोई नया रास्ता खोज निकाला है। इन धुनो मे लोककठ की लोच, लय और लोकमानस-सवेद्य सरलता तो है ही, लोक-जीवन के प्रतीको, विश्वासो और आस्थाओ से भी उसके प्रगाढ परिचय का पता लग जाता है। बिना देश की मिट्टी से आत्मसात् हुए, लोकगीतो की जड़े जमीन नही पकड सकती। जब तक उनमे मिट्टी का रस और गध न बस जाय तब तक केवल धुनो से कुछ नही आता जाता। इन लोकगीतो के भविष्य के सम्बन्ध मे तो अभी से कुछ कह सकना कठिन है, पर यह निश्चित है कि बच्चन के इन साहसी प्रयोगो ने नयी पीढी के लेखको के खण्डित व्यक्तित्व को परम्परा का भावसूत्र पकडा दिया है जिससे वे चाहे तो त्रिशकु बनने से बच सकते है। ऊपर से तो ग्रामीण लोकधुनो पर गीत लिखना बडा सरल काम मालूम पडता है, और कुछ लोगो ने देखा-देखी बचकानी प्रयोग किए भी है। पर जिसने सस्कृति का पेय मा के दूध के साथ नही पिया है और जो लोकजीवन की परम्पराओ के भीतर से नही पनपा है, वह यह देन नही दे सकता। या तो लोक-जीवन इन्हें अपनाएगा, पचाएगा, गाएगा या इन्हे घिस-घिसा कर अपने अनुकूल बना लेगा। जो भी हो ऐसे साहसी और बेलौस प्रयोगो के लिए बच्चन बधाई के पात्र है। यदि इनमे कही शिथिलता है तो कही इनके अनगढ स्वरो मे एक गठीलापन भी है, मटमैले, रसीले और गरबीले भूमिपुत्रो की झाकी, सुसस्कृत साहित्य की वेदी पर।

धरती धोखा कभी न देगी माता हूँ
तन में आता तनय कि तन के वर आते
करुणा के ममता के मधुघट भर जाते

उफन पड़ें ये, उमड़ पड़े, रस ढरकाए
शिशु को कोई यों ही नहीं रुलाता है
माता है।

यह लोक-गीत नहीं है, पर बच्चन की वह भूमिका है जिसने लोक-धुनों को जन्म दिया है। जो धरती का बेटा कभी नहीं रहा वह साहित्य में मिट्टी गोड़ने और खेत जोतने की भावना को अवतरित नहीं कर सकता। एक बार इसकी सोंधी सुगन्ध से परिचय हो गया तो ऋतुओं के रंग-बिरंगे परिवर्तन अपने आप समझ में आने लगते हैं। 'हरियाने की लली' और 'बीकानेर की मालिन' तो मिट्टी के उद्दाम यौवन की ही प्रतिकृतियां है, कोमल, आकर्षक, रंगीन परन्तु सृष्टि का सत्व धारण कर सकने में समर्थ। कवि के मानस में ओत-प्रोत यही जन-जीवन का संघर्ष और उल्लास अपने सहज विकास में 'वर्षामंगल' और भूपुत्रों को चुनौती के मचगान के रूप में मूर्तिमान हो उठा है। बड़े जीवट की रचनाएं है ये, सदियों से शोषित जन-जीवन का मेरुदण्ड प्रदान करने वाली। इन्हें केवल वही समझ पाएंगे, जिन्होंने गावों की चौपालों में ढोलक की थाप के साथ आल्हा के ओजस्वी गान सुने होंगे या महावीर जी के मेले में रात-रात भर तमक तमक कर अमरसिंह राठौर की नौटंकी देखी होगी। सवेरे तो पहचानना भी मुश्किल हो जाता है कि रात का यही काले कलूटे, अस्थिशेष, जर्जर ग्रामीण अपनी हुंकारों से सत्ताधारी सिंहासनों को हिलाने की हाम हुलसा रहे थे। संस्कृति की इसी अन्त सलिला ने सदियों की दरिद्रता और पीड़न से त्रस्त जन-जीवन को जीने की शक्ति दी है।

"हाथ न हटने पाए हल के हत्थे से !"

इस एक ही पंक्ति में आत्मविश्वास, संघर्ष और उत्सर्ग की जो व्यंजना अन्तर्निहित है, उसके लिए आनन्दवर्धनाचार्य क्या कहते ?

यह संग्रह संकलन-मात्र नहीं है। प्रत्येक राही पहचान लेगा कि यहां से रास्ता बदल गया है, बच्चन की नई यात्रा का नया पाथेय।

घर तो पीठ पर है
चार खूंटे गाड़ कर खेमा लगाया,
मिल गया जो,
पिया खाया, धुआं छोड़ा
और जी में आ गया तो
गीत कोई गुनगुनाया
या कि यों ही बुड़बुड़ाया

P. H3965

पीठ सीधी की
उठा सामान बाधा
चल पडा कहता हुआ
श्री राम दण्डक बन बिहारी ।

जन-जीवन की आस्था के प्रतीक खूटे की आत्मस्थ शक्ति का मर्म उद्‌घाटित करते हुए कवि कहता है कि —

तब तलक अक्षुण्ण है सत्ता तुम्हारी
जब तलक तुम भूमि को पकडे हुए हो
भूमि से जकडे हुए हो ।

गाधीयुग के अप्रतिहत सघर्ष की भूमिका इन्ही उपकरणो से सवारी गई थी। इसी को रवीन्द्रनाथ ने अपेक्षाकृत सूक्ष्म धरातल प्रदान किया—"वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय।" वैराग्य-साधन द्वारा मुक्ति प्राप्त करू, ऐसा मेरा रास्ता नही है। बच्चन ने अपरिग्रह के उसी सन्देश को अपने यायावरी बाने मे घटित करना चाहा है—

क्योकि बजारे जिएगे
तो कही पर हो
खडे खेमे करेगे ।

वैसे बजारे का रूपक तो सन्त कवियो की देन है, पर इसका मूल स्रोत उपनिषदो मे ही हे। ये सब कुछ त्याग कर भोगने वाले (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा—ईशावास्योपनिषद्) बजारे न कभी मिटे है, न मिटेगे। 'चरैवेति चरैवेति' की अमोघ वाणी मे इसी चिरन्तन सन्देश की प्रतिध्वनि हे।

अपनी साहित्यिक यात्रा मे कवि यहा तक कैसे आ पहुचा, इसका उत्तर उसने कुछ-कुछ फक्कडी लहजे मे देने का प्रयत्न किया है। गोस्वामी जी की भाषा मे कि 'उसे जगत्-गति व्यापती है।' इसमे और काम-अध्यात्म के बीच की दार्शनिक व्याख्या मे सगति बिठाना कभी-कभी कठिन हो जाता है। जगत्-गति से यकायक अध्यात्म के आकाश मे छलाग लगा जाना अच्छी खासी बाजीगरी की अपेक्षा रखता है—

और जिस दिन गड गईं,
कीलें सभी आकाश मे
यात्रा खतम हो जायगी
बध जायगा आकाश ही भुजपाश में ।

यह तो वही महाशून्य मे लय होने की, निर्वाण प्राप्त करने की, साधना की अन्तिम परिणति की ही प्रतिध्वनि है। बच्चन की नई ऊर्जस्वित आस्था के साथ परम्परागत कथ्यो की खिचडी यदि बेमेल नही तो बासी अवश्य मालूम पडती है।

अब तो केवल उम्र घटाते
साझ-सकारे ।

ऋग्वेद की ऋचाओ मे सहस्रो वर्ष पूर्व अभिव्यजित यही भावानुभूति कही अधिक सशक्त और स्फूर्तिप्रद सिद्ध हो चुकी है। उषा का स्तवन करता हुआ द्रष्टा ऋषि कहता है कि--

पुनर्पुनर्जायमाना पुराणी, समान वरण अभिशुम्भमाना ।
श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आमिनाना मर्तस्य देवी जर्यन्त्यायु ।।

(ऋग्वेद १-९२-१०)

हे उषस् ! तुम इतनी पुरानी होने पर भी नित्य नया नया जन्म लेती हो। (आज तक तुम बुड्ढी नही हुई, झुर्रिया नही पडी जैसी की तैसी बनी हुई हो) वही स्वर्ण वर्ण, वही चमकदमक। जैसे बहेलिए की स्त्री पक्षियो के पखो को बारी बारी से काटती जाती है वैसे ही हे देवी ! तुम भी मनुष्यो की आयु एक एक दिन कम करती जाती हो या जीर्ण करती जाती हो।

लगता है अभी कवि गतानुगत के सस्कारो से स्वय को मुक्त नही कर पाया। कामायनी काल की बुद्धि और विज्ञान के विरुद्ध जेहाद बोलने की रोमाटिक प्रवृत्ति भी अभी किसी-न-किसी रूप मे साथ लगी हुई है--

क्या मालिक इसान बनेगा
भूमडल का तारो का
अविरत क्रम से आने जाने
वाले, साझ-सकारो का
अह अह स्वर छाया है ।

अध्यात्म के आयाम के प्रतीक रूप मे आकाश का आधार ग्रहण किया गया है। उसकी गहन नीलिमा, शून्यता, विस्तार, सूक्ष्म वायवी स्पदन मे धरती के ऊबड खाबड, ठोस यथार्थ से मुक्ति का सन्देशा है।

नभमडल भयत्राता है।

उर्दू साहित्य की परम्परा मे आकाश को कहर बरपा करने वाला कहा गया है। तुलसी के चातक को भी उसका कुछ अच्छा अनुभव नही था —

उपल बरसि गरजत तरजि, डारत कुलिश कठोर,
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहु दूसरी ओर ।

धरती और अम्बर की तुलना मे एक को भला दूसरे को बुरा कहना, बहुत सगत नही प्रतीत होता। जैसे धरती से आकाश समतल, नीली लहरो वाला और स्वर्ण किरण-मय दिखाई पडता है वैसे ही आकाशवासी को धरती का वैविध्य ओर रगबिरगी आभा कम लुभावनी न लगती होगी। द्यावा और पृथ्वी का पारस्परिक सम्मोहन ही भूमा का मधुमयदान है—

बाप झिडक दे मा पुचकारे
मारे मा तो बाप दुलारे
इस घर से मनु के बेटे का
सुन्दर सुखकर नाता है।

स्पष्ट है कि कवि 'लहरो के निमत्रण' से चलकर अब 'नभ के निमत्रण' तक आ पहुचा है। परम्परा का पल्लू बिल्कुल ही छोड देना अच्छा भी नही, वही तो धरती की शक्ति है । हर कृति मे नयापन ही खोजते फिरना मानसिक पलायन का भी परि-चायक हो सकता है। इसीलिए प्रारम्भ मे ही विभिन्न शैलियो पर आधारित चार खेमे चौसठ खूटे नामकरण पर मुझे कुछ आपत्ति हुई थी। खूटो की गिनती से कुछ लेना-देना नही पर खेमे चार से अधिक है। एक खेमा वैष्णवभक्त कवियो के अनन्य आत्म-निवेदन का भी है, उत्सर्ग और आत्मसमर्पण की भावविह्वल अर्चनाओ से समुज्ज्वलित —जैसे 'निवेदन' या 'प्रभुमन्दिर यह देहरी'। दूसरा खेमा सन्तो की फक्कडी बानी का है निचाट, निभाक, विद्रोही—

अगड खगड मोह सभी से
क्या बाधू क्या छोडं रे
क्या लादू क्या छोडू रे।
जिसका सारा माल मता है
उसमे नाता जोड़ रे ।

इस सग्रह मे कवि की व्यग्य शक्ति, साकेतिकता और विदग्धता पूर्ण निखार पर है। सत्य की हत्या, शहीद की मा, राष्ट्रपिता के समक्ष, आजादी के चोदह स्वाध्याय कक्ष मे वसत, पुस्तक-पलायनी आदि इस यात्रा की सर्वोत्तम उपलब्धिया है।

कवि का काम केवल मनोरजन करना ही नही, वरन् गाफिलो को झकझोरना और अन्धेरी रात मे जागते रहो, जागते रहो की अभया वाणी का उद्घोष करना भी है। अच्छा हुआ कवि को जगत्-गति व्यापी, अभी तक तो स्वगति ही व्यापती थी। बाह्य समस्याओ पर कवि की अन्तर्दृष्टि गहरी तो पैठी ही है, उसकी व्यजना भी बडी निर्भीक और सशक्त हुई है। एक बार सवेदना के उद्बुद्ध हो जाने पर लय, छन्द आदि कलात्मकता के उपकरण तो पीछे-पीछे दौडते है। निश्चय ही इन रचनाओ के स्वस्थ और साहसी प्रयोगो ने राष्ट्रभाषा का मेरुदण्ड सवारा है।

चलते चलते अग पिराते

अथवा

कुछ किस्मत के साड जगत् में होते हैं

तुक का पुराना आग्रह कही-कही मन खट्टा अवश्य कर देता है--

कुछ आखों के आर खजाना।
कुछ आखो के पार खजाना।

मुक्त छन्द वाली रचनाए, जिन्हे बच्चन विषम लय की रचनाए कहना अधिक पसन्द करते है, मात्रिक छन्दो की लय पर ही ढली है। पर बीच-बीच मे वर्णिक छन्द ऐसे फाट पडते है जैसे सवैया और घनाक्षरी के टुकडे तोड-तोड कर जोड दिए गए हो। भुजग-प्रयात के प्रयोग मे तो बच्चन बेजोड है। निराला के मृत चित्र पर लिखी हुई कविता ओज और उदात्तता मे अपना सानी नही रखती।

बच्चन की मौलिकता और शक्ति इसी मे है कि वे नयी कविता के नएपन के पीछे नही दौडे, साथ ही उसका समुचित स्वागत भी किया। आज भी उन्हे अपने फावडे और कुदाली पर ही अधिक भरोसा है। अपनी सबल भुजाओ मे दो पीढियो का आयाम घेर लेने वाले इस महाबाहु कवि से साहित्य को अब भी बडी आशाए है, विशेषकर वसुन्धरा से आत्मसात् होने की उसकी व्यग्रता देखकर। मालूम पडता है वह अब सुअजन आज कर सैल वन भूतल के भूरि निधान का कौतुक सहज हो देखने लगा है। आकाश को दुहने की वृत्ति भी कौतूहलजनक तो है ही, कुछ मिल गया तो छप्पर फटने मे कितनी देर लगती है। विज्ञान ने दिक् को बाधना चाहा है तो कवि उसके मर्म को व्यर्थ कैसे जाने देगा? इस सग्रह की भूमिका स्वय मे एक साहित्यिक वसीयतनामा है। ऐसा सुगठित, प्रजल और साकेतिक गद्य बहुत दिनो मे देखने को मिला। अपनी व्यग्यात्मक शैली मे कवि ने समकालीन साहित्यिक समस्याओ पर बडी गम्भीरता से विचार किया है, पर भाषा मे ऐसा मार्दव और अर्थलाघव है कि निबन्ध पढने का मजा आ जाता है। बधाई।

संशय की एक रात

डॉ० कैलाश वाजपेयी

बनपाखी सुनो' के पश्चात् श्री नरेश मेहता की दो काव्यकृतिया 'बोलने दो चीड को' तथा 'सशय की एक रात' एक साथ प्रकाशित हुई है, जिनमे 'सशय की एक रात' एक लम्बी कविता के रूप मे है।

किसी भी विस्तृत काव्य कृति के लिए सामान्यतया एक कथानक अपेक्षित होता है। 'सशय की एक रात' भी यद्यपि पोराणिक चरित्र राम के जीवन से ही सम्बद्ध है किन्तु प्रस्तुत कृति मे श्री नरेश मेहता ने कथा को महत्त्व न देकर समस्या को अधिक महत्त्व दिया है। कवि ने राम के जीवन का एक घटनाहीन स्थल चुनकर उसे सृजन की मनोभूमि के उपयुक्त बनाया है। और यह घटनाहीन स्थल शत्रु पर आक्रमण करने से पूव उस सामान्य व्यक्ति के जीवन का है, जो द्वन्द्व और सशयग्रस्त है। जो कार्य करने से पूर्व कारण को सोच-परख लेना अपना धर्म समझता है, जो युद्ध की अनिवार्यता और उसके दुष्परिणामो पर पूरी तरह विचार कर लेना चाहता है।

कृति चार सर्गों मे विभक्त है —

साझ का विस्तार और बालतट।
वर्षा भीगे अन्धकार का आगमन।
मध्यरात्रि की मत्रणा और निर्णय।
सन्दिग्ध मन का सकल्प और सवेरा।

प्रारम्भ मे विरही राम का चित्र अकित करने का प्रयत्न किया गया है। रेत पर सीता की रेखाकृति बनाते उस व्याकुल युवा का चित्र जो धीरे-धीरे सशयग्रस्त हो चला है और जिसे अनिश्चय 'नारिकेलो पर टिके शव की पुतलियो जैसे आकाश' की

लेखक	श्री नरेश मेहता
प्रकाशक	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई
मूल्य	३ रु०

तरह मटकाता रहा है। यह चित्र पश्चात्तापग्रस्त है, ग्लानि और भयकर आत्मदाह से घिरा हुआ है जिसे लक्ष्मण–जैसा भाई भी सान्त्वना नही दे पाता।

दूसरे सर्ग मे राम का विषादान्त रूप अधिक तीव्रता से उभरकर सामने आता है।

हैमलेट वाली शैली मे राम, जब वे स्वगत कथन द्वारा अपने भीतर खोलती भावनाओ का उद्घाटन कर रहे होते है तभी किसी ज्योतिर्पिण्ड को आकाश मे राक्षसो की माया समझकर राम के अनुचर इसकी सूचना राम तक लाते है। राम द्वारा आह्वान किए जाने पर छाया उतरकर धरती पर आती है। यह पिता दशरथ की आत्मा है, मृत जटायु की आत्मा भी उसके साथ है। छाया के साथ राम का सलाप सम्भवत इस कृति का सबसे महत्त्वपूर्ण अश है। यह अश अपने ढग का अकेला और एकदम नवीन है।

तृतीय सर्ग युद्ध की अनिवार्यता और उसकी ऐतिहासिकता का स्पष्टीकरण करता है तथा चतुर्थ सर्ग राम की युद्ध सकल्प करने के बाद की मन स्थिति को व्यक्त करता है।

श्री नरेश मेहता की कथनभगिमा सबसे अलग है। एक विशेष ढग से स्वय को व्यक्त करने का यह ढग आयासलब्ध होने के बावजूद उपहासनीय नही, जैसाकि उनकी रचनाओ मे हुए इस शैलीगत प्रयोग के विषय मे अक्सर आलोचकगण कहा करते है। अछूती उपमाए तथा एकदम नवीन लाक्षणिक कथन जितना नरेश जी की कविताओ मे मिलते है, इधर के अन्य कवियो मे नही। सशय की रात मे भी ऐसे उदाहरणो की कमी नही है।

युद्ध और द्वन्द्वग्रस्त मानव—आज के युग का यही प्रमुख स्वर है। इन दोनो समस्याओ को कवि ने पकडा है ओर उसे बहुत स्पष्टता के साथ प्रस्तुत भी किया है। जब वह

दो सत्य
दो सकल्प
दो दो आस्थाए—
अप्रमाणित व्यक्ति पैदा हो रहा है।

लिखता है तो साफ झलक जाता है कि उसकी काव्यचेतना वर्तमान से असपृक्त नही है।

वर्तमान युग की सब से बडी समस्या युद्ध है। यह एक ऐसा भय है जो प्रत्येक देश के प्रत्येक जागरूक मस्तिष्क को निरन्तर चूस रहा है। प्रस्तुत कृति मे भी युद्ध के सम्बन्ध मे कुछ कथन मिलते है, किन्तु यहा एक अलग दृष्टिकोण अपनाया गया है—

युद्ध
मन्त्रणा नहीं
एक दर्शन है राम।
अन्तिम मार्ग है स्वत्व और अधिकार अर्जन का
किसी किसी युग में
युद्ध ही
अन्तिम सत्य, दर्शन हुआ करता मित्र।
शेष
शोभा-वचना।

किन्तु तथ्य इस कथन से थोडा अलग हटकर घटित होता है। वस्तुत 'किसी किसी युग' नही, हर युग का अन्तिम सत्य युद्ध ही होता है। विस्तारभय के कारण यद्यपि यहा युद्ध का ऐतिहासिक विवेचन सम्भव नही, किन्तु यहा इतना भर कहना अलम् होगा कि सभ्यता की चक्राकार गति के सिद्धान्तानुसार हर व्यवस्था की अन्तिम परिणति दुर्घटना ही होती है। चाहे वह आकस्मिक रूप मे घटित हो चाहे क्रमिक रूप मे।

भाषा की दृष्टि से, जैसा कि पहले कहा गया है, श्री नरेश मेहता ने बडी स्वतन्त्रता ली है और इस प्रयोग-वैचित्र्य के कारण उनकी तीव्र आलोचना भी हुई है। यदि इसे भाषा की प्रगति का लक्षण मान भी लिया जाए तो भी

सब शिखर की नीव मे सोया अधेरा है—पृ० १४
हम साधारण जन **युद्धप्रियी** थे कभी नही—पृ० ७८
उडती हुई टिटहरी, चीखा **करी**—पृ० ४
वो देखे प्रभु ! **वो**ऽऽ उन मेघो के पीछे—पृ० ४७
अनेकों लका **अनेको** रावणो का जन्म हो—पृ० ८०

जैसे प्रयोग बहुत खटकते है।

सात प्रहसन

डा० दशरथ ओझा

इस सग्रह मे भट्ट जी के सात एकाकी नाटको को रचना-काल के क्रम मे सकलित किया गया है। नाटको का क्रम इस प्रकार है—बीमार का इलाज, दो अतिथि, नए मेहमान, बडे आदमी की मृत्यु, मुशी अनोखेलाल, दम हजार और नया नाटक। १२८ पृष्ठो की इस पुस्तक मे विद्यार्थियो के उपयुक्त अभिनेय नाटको को एक स्थान पर रखने का उद्देश्य झलकता है। हिन्दी साहित्य मे हास्य रस की सामग्री का अभाव आलोचको और सामान्य पाठको को खटकता रहा है। काव्य हो या कहानी, सर्वत्र हास्यरस की उपस्थिति पाठक को वाछनीय रहती है। नाटक मे तो दर्शक इसके लिए अत्यन्त उत्सुक रहता है। इसी कारण गम्भीर-से-गम्भीर नाटक मे भी कुशल नाट्यकार हास्य की छटा दिखाने का प्रयत्न करता है। आधुनिक नाट्य साहित्य मे अन्य रसो के भले ही अनुभाव विभाव मिल जाए, पर हास्य रस अपेक्षाकृत अविद्यमान रह जाता है। इसलिए यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि इस पुस्तक का सन् १९६२ के नाट्य प्रकाशन मे एक विशेष स्थान है।

इस सकलन के प्रथम प्रहसन 'बीमार का इलाज' मे आगरे के एक रईस महोदय चन्द्रकान्त के मित्र विनोद का रोगोपचार विविध पद्धतियो से होता है। होमियोपैथ, एलोपैथ, डाक्टर तथा वैद्यराज अपनी-अपनी उपचार-विधि का प्रयोग करते है पर रोगी का ज्वर नही उतरता। मन्दिर के पुजारी भी दूर्वा से पूजाजल का मार्जन करते है। विनोद तो भयकर ज्वर मे पडा है और प० जी शीतल जल से उसके शरीर पर मार्जन करते जाते है। लोगो को भय है कि कही रोग बढ न जाए, पर मार्जन के उपरान्त ताप का वेग घटने लगता है।

बूढा नौकर सुखिया ओझा को झाड फूक के लिए आमत्रित करता है। इस प्रकार उपचार पद्धति के अग्रिम चुनाव के विषय मे एक विवाद खडा हो जाता है। रईस चन्द्रकान्त एलोपैथी के पक्ष मे है, पर उनकी स्त्री सरस्वती वैद्य के उपचार की प्रशसा करती है। विनोद अग्रेजी ओर देशी किसी प्रकार की दवा नही पीना चाहता। वह बाहर

नाट्यकार	उदयशकर भट्ट
प्रकाशक	आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली
मूल्य	तीन रुपये

सैर करने निकल जाता है और लौटने पर रोगमुक्त हो जाता है। इसमे रईसो के अव्यवस्थित एव अप्राकृतिक जीवन की झाकी दिखाने का प्रयास किया गया है।

'दो अतिथि' नामक प्रहसन मे दो आर्यसमाजी भजनीक स्टेशन मास्टर के यहा बलात् अतिथि बनकर उसकी रसोई का समस्त भोजन स्वय चट कर जाते है। घर का सारा उपलब्ध दूध पीते और चीनी फाक जाते है। पत्नी सहित स्टेशन मास्टर निराहार रात-भर जागरण करते है और दोनो अतिथि खर्राटे लेते है । आज के अतिथियो की मनोवृत्ति पर कटाक्ष किया गया है पर इसमे हास्य की छटा और भी रमणीय बन सकती थी।

'नए मेहमान'—विश्वनाथ की पत्नी रेवती रुग्णावस्था मे पडी है। अपरिचित दो व्यक्ति द्वार पर अतिथि बन कर डट जाते है। विश्वनाथ के प्रश्नो का वे सन्तोषप्रद उत्तर नही दे पाते। अन्त मे किसी प्रकार एक अन्य व्यक्ति को उनका सम्बन्धी बताकर और उसके घर का पता बताने पर पति-पत्नी का पिड छूटता है। इतने ही मे रेवती के भ्राता आते है और उनका आदर-सत्कार विधिवत् होता है।

'बडे आदमी की मृत्यु'—राय बहादुर सेठ मधुसूदन मृत्युशैया पर पडे है। उनके सभी सम्बन्धी, मित्र, नौकर चाकर उनका अन्तिम सन्देश लेने को उत्सुक है। भाई गणेशगज की सम्पत्ति के आवश्यक कागजो के लिए व्यग्र है और भतीजा राजकिशोर विलायत जाने की अनुमति के लिए उत्सुक। मरणासन्न राय बहादुर प० जी को बुलाकर गीता पाठ सुनना चाहते है पर पत्नी, भ्राता, भतीजा तथा अन्य जन अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए प्रयत्नशील है। रायबहादुर सहसा स्वर्ग-प्रयाण करते है और घर वाले समाचार-पत्रो मे खबर प्रकाशित करने को दौडते भागते है।

राय बहादुर के कनिष्ठ भ्राता बिहारी लाल और भ्रातृज राजकिशोर तथा सम्बन्धी राजाराम को शव के सस्कार से अधिक चिन्ता उस घर के साज शृगार की है जहा नागरिक समाचार-पत्रो मे खबर के प्रकाशित होने पर एकत्र होगे। बिहारीलाल अपने स्कूल के अध्यापक एव छात्रो को, मिल के कर्मचारियो को, सभी कार्य छोडकर एकत्र होने का आदेश देते है। फोटोग्राफर, पत्र-सम्पादक, पुलिस कर्मचारी आमत्रित होते है ।

कई रायबहादुर, प्रोफेसर-प्रिसिपल, गवर्नर के प्राइवेट सेक्रेटरी, फिलास्फर, वकील, डाक्टर, स्वर्गीय रायबहादुर के सस्मरण सुनाकर उनकी प्रशसा करते है। बिहारीलाल तथा अन्य सम्बन्धी अर्थी के साथ बडी-से-बडी भीड ले चलने का प्रयत्न करते है। इस प्रकार बाह्याडम्बर के प्रदर्शन के साथ नाटक समाप्त होता है। इस नाटक को प्रहसन कैसे मान लिया गया यह मेरी समझ मे नही आता।

'मुशी अनोखेलाल'--मिडल पास करने पर मुख्तार हो गए थे पर मुख्तारी चली नही तो अर्जीनवीस हो जाते है। आधे पागल से रहते है और उलटी-पुलटी अर्जी लिखा करते है। एक दिन दो नागरिक हरिहर और जानकीप्रसाद एक पत्र लाकर मुशी अनोखेलाल को देते हुए मुह रुआसा-सा बना लेते है। पत्र पढकर मुशी जी के साथ सभी रोने लगते है कि मुशी जी की स्त्री विधवा हो गई। एक वृद्ध के समझाने पर मुशी जी की समझ मे आता है कि ऐसा सम्भव हो नही सकता।

यह प्रहसन शेष प्रहसनो की अपेक्षा अधिक सफल है।

'दस हजार'—एक कृपण सेठ की धनतृष्णा का चित्र खीचा गया है। सेठ जी के पुत्र सुन्दरलाल को पठान पकड ले गए है और दस सहस्र रुपए पर छोडने को तैयार है। लखपती सेठ रुपया देना नही चाहता पर मुनीम रुपया देकर सुन्दरलाल को मुक्त कराता है। सेठ रुपए का दुरुपयोग समझ कर मूर्च्छित हो जाते है।

'नया नाटक'—भट्ट जी का नया नाटक नई समस्याएँ लेकर आया। स्वतन्त्रता के उपरान्त देश मे राशन की समस्या, मकान की समस्या, बेकारी की समस्या के अतिरिक्त शासन मे रिश्वत की समस्या समाज को जर्जर बना रही है। इस नाटक मे नाटककार स्वय एक पात्र बन गया है। उसका मित्र त्रिभुवन नाटककार से अपने व्यापार की वृद्धि के लिए ऐसा कार्य कराना चाहता है जो उसे---नाटककार—सर्वथा अवाछनीय है। त्रिभुवन सरकारी अफसरो पर अनुचित दबाव डालकर व्यापार से लाभ उठाना चाहता है। नाटककार की पत्नी भी पति की भर्त्सना करती है कि अनुचित मार्ग पर चलकर अन्य जन मालामाल बन रहे है, तो एक व्यक्ति के धर्मपालन से क्या काम बनेगा।

'नया नाटक' अपेक्षाकृत नवीन है। यह समस्यामूलक नाटक भले ही हो पर प्रहसन की कोटि मे इसे किस तर्क के आधार पर रखा गया है, समझ मे नही आता।

प्रहसन मे किसी-न-किसी व्यक्ति के मिथ्याचरण, बाह्याडम्बर तथा किसी-न-किसी दुर्गुण के माध्यम से नायक को उपहासास्पद बनाना अभीष्ट होता है। नाट्य शास्त्रियो ने नाटक मे भगवद्भुक्त, तापस, भिक्षु श्रोत्रिय के पाखण्डी होने पर उसे शुद्ध प्रहसन की सज्ञा दी, और वेश्या, चेट, नपुसक, धूर्त्त, विट, दुराचारिणी के पाखण्डमय व्यवहार के द्वारा हास्य उत्पन्न करने वाले नाटको को सकीर्ण प्रहसन माना। तीसरा प्रकार सकर नामक प्रहसन का होता है जिसमे नायक प्राय छली एव प्रपची होता है। तीसरी कोटि के प्रहसन ही आज अधिक प्रचलित है। 'नया नाटक' प्रहसन की किसी भी कोटि मे नही आता। ऐसा प्रतीत होता है कि भूल से इसे इस सग्रह मे सकलित कर दिया गया है। शेष नाटक सफल प्रहसन है और रगमचो पर प्राय सबका सफल अभिनय भी हो चुका है।

———

रातरानी

डा० सुरेश अवस्थी

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल हिन्दी के उन इने-गिने नाटककारो मे है जिनको रगमच और नाट्य-प्रदर्शन की कला का ज्ञान ही नही है, बल्कि जो उससे सक्रिय रूप से सम्बद्ध है। नाटककार का अपने समय के रगमच के साथ निकट सम्बन्ध होना वाछित ही नही, अनिवार्य होता है, क्योकि उसे अपनी नाटकीय कथा का सगठन और सयोजन रगमच ओर नाट्य-प्रदर्शन की परिस्थितियो के ही अनुकूल करना पडता है। डॉ० लाल अपने नाटको का प्रदर्शन प्राय प्रकाशित होने के पहले ही अपने ही नाट्य-दल द्वारा करते है, और इस प्रकार उनके नाटको को रगमच पर परीक्षित होने का अवसर मिल जाता है। नाटक के लिए यह कसौटी खरी ही नही, उपयोगी भी है, क्योकि रगमच ही किसी भी नाटक की पुनरभिव्यक्ति और उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति का सच्चा माध्यम है।

डॉ० लाल बडी ही निष्ठा के साथ नियमित रूप से नाटको की रचना कर रहे है, और अब तक उनके छ-सात बडे नाटक प्रकाशित हो चुके है। इन नाटको मे यह बात स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है कि वे नाटकीय कथा की विभिन्न स्थितियो की अनुभूति ओर अभिव्यक्ति नाटकीय ढग से करना चाहते है, और वे अपने नाटको के लिए एक ऐसे रूप-विधान की खोज कर रहे है जिसमे कथा और पात्र सशक्त नाटकीय चेतना के साथ प्रस्तुत किए जा सके।

रातरानी नाटक मे डॉ० लाल ने एक विशिष्ट सामाजिक सन्दर्भ मे नारी ओर पुरुष के सम्बन्ध को एक नयी दृष्टि से प्रस्तुत किया है। कुतल और उसके पति जयदेव के आदर्श और जीवन-मूल्य भिन्न-भिन्न है और उनके सम्बन्धो मे कुछ ऐसा अन्तर्विरोध है, और ऐसी दरार है कि वे बाहर से भरे और सम्पन्न दीख कर भी भीतर से खोखले और विपन्न है। कुतल का जीवन कुठा और करुणा से भरा हुआ है। जयदेव निरा रिक्त है। यही नाटक का वस्तु-बीज है। इसी को विविध घटनाओ और प्रसगो का

लेखक	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल
प्रकाशक	राजपाल एण्ड सस, दिल्ली
मूल्य	२ रुपए ५० नए पैसे

परिवेश देकर विस्तार दिया गया है। कुतल और जयदेव के सम्बन्धो की करुणा को उद्-घाटित करने के लिए कथावस्तु का जो ढाचा बनाया गया है उसमे कही कुछ बहुत बडी कमी रह गई है, क्योकि नाटकीय कथा के इस मूल भाव मे तीव्रता और गहनता नही आ पाती। वास्तव मे, जिन गौण और प्रासगिक कथाओ को समेटा गया है, वे किसी तरह से भी मूल कथा के साथ भावात्मक स्तर पर सम्बद्ध नही होती और न उसे कोई योग ही देती है। मूल कथा-भाव मे नाटकीय गहनता न आ सकने का प्रधान कारण यह है कि नाटक मे कोई केन्द्र बिन्दु नही है, और पात्र अपनी परिस्थितियो मे, परिवेश से और अपने सम्बन्धो के अन्तर्विरोधो से जूझते-लडते हुए, और टूटते-बिखरते हुए नही दिखाई देते। रातरानी मे यह स्थिति इस कारण से और भी खटकती है कि उसके चरित्रो मे द्वन्द्व और अन्तर्विरोध के बीज निहित है।

नाटक के पहले अक मे हमको नाटक के प्राय सभी पात्रो का परिचय मिल जाता है। अक के अन्त मे उन खतो की चर्चा होती है जो कुतल ने निरजन को लिखे थे, जब निरजन के साथ उसकी शादी होने वाली थी। दूसरे अक के पहले दृश्य मे जय-देव के जुआ खेलने का प्रसग है, और दृश्य के अन्त मे कुतल जयदेव को वह पत्र पढ कर सुनाती है जो उसने निरजन से वापस लिए है। नाटक मे यह खतो का प्रसग कोई निश्चित प्रयोजन नही रखता। दूसरे ही अक के दूसरे दृश्य मे निरजन और कुतल की सहेली सुन्दरम् की शादी हो जाती है। सुन्दरम् कहती है "कुतल लो ये पुष्प। तुम्हारी फुलवारी मे जो सब से उत्तम फूल थे सब तोड लाई हूँ। बोलो कहा चढाऊ ?" कुतल निरजन की ओर सकेत करके कहती है "इन चरणो मे।" यह विवाह का प्रसग बहुत ही भावनात्मक है और इसका मुख्य नाटकीय कथा ओर भाव से कोई सम्बन्ध नही जुड पाता। तीसरे अक के पहले दृश्य मे कुछ भी सार्थक नही घटता। केवल सुन्दरम् यूनिवर्सिटी की नोकरी छोड कर महिला विद्यालय की नौकरी कर लेती है, क्योकि यूनिवर्सिटी की नौकरी उसे निरजन ने दिलवाई थी। इसी दृश्य मे वह पहली बार अपने खोखले और भटके हुए जीवन की बात करती है। इसी अक के दूसरे दृश्य मे जो कि नाटक का अन्तिम दृश्य है, जयदेव के प्रेस के हडताली उसका घर घेर लेते है और बोनस की माग करते है। कुतल उनकी आवाज सुनकर अपने सारे गहने लेकर उन्हे देने के लिए दौडती है। उसके पीछे-पीछे जयदेव भी दौडता है और कहता है "रुको कुतल आज मेरी भी परीक्षा का दिन आ गया।"--और फिर कहता है "यह लो मेरी पासबुक।" कुतल पासबुक देखती है और वह उसके हाथ से फर्श पर गिर जाती है। कुतल कहती है --"पचहत्तर हजार का बैंक बैलेस सब खत्म।" जयदेव कहता है "हा, मै धीरे-धीरे सब हार गया।" कुतल कहती है-"माली बाबा मेरे आचल मे केसर का वह पुष्प डालो।" और कुतल आचल मे पुष्प लेकर जयदेव का चरण स्पर्श करती है। हडताली लोग पत्थर चलाना शुरू कर देते है तो कुतल के माथे पर चोट लग जाती है।

वह चोट की पीडा मे लेटी हुई जयदेव के गले मे हाथ डाल देती है, और यही नाटक समाप्त हो जाता है।

कथानक के इस विश्लेषण से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि नाटक मे एक प्रकार का बिखराव है और उसमे असम्बद्ध अथवा ऐसी घटनाओ का समावेश किया गया है जो मूल कथा को किसी प्रकार से भी कोई योग नही देती। कुतल की करुणा न तो गहन हो पाती है न हमारी सहानुभूति जगा पाती है, और न उस करुणा की प्रकृति और उसकी परिस्थितिया ही स्पष्ट हो पाती है। यदि उसकी यह करुणा निरजन को न पा सकने मे है तो यह बात किसी तरह से भी नाटकीय भगिमा और शक्ति के साथ व्यक्त नही हो सकी—पत्रो का प्रसग और यूनिवर्सिटी की नोकरी छोड देने की घटना—दोनो ही नितान्त सामान्य और कमजोर बल्कि कुछ हद तक बचकानी घटनाए है। और यदि उसकी यह करुणा इस कारण से है कि जयदेव के जीवन-मूल्य और आदर्श उससे भिन्न है, तो दो विभिन्न और परस्पर-विरोधी जीवन-मूल्यो और आदर्शों मे जो टकराहट होनी चाहिए और जो गहरा द्वन्द्व होना चाहिए, वह नाटक मे व्यक्त नही हो सका। और नाटक का अन्त जिस रूप मे होता है—आहत पक्षी की तरह कुतल जयदेव की गोद मे गिर जाती है—उसमे एक खडित और विघटित जीवन की समस्या का बडा ही स्थूल और अनाटकीय समाधान दिया जाता है।

प्रेस की स्ट्राइक का प्रसग भी पूरी तरह से नाटकीय कथा के साथ जुडता नही है, समेकित नही होता, और वह पूरे कथानक मे इस तरह से व्याप्त नही है कि पात्रो के जीवन की घटनाओ और उनके चरित्रो के विकास को घेरे हुए हो, यद्यपि नाटक का अन्त स्ट्राइक की घटना के साथ ही होता है, और तब वह घटना नितान्त कृत्रिम ओर आरोपित लगती है।

डॉ० लाल को यह सुविधा है कि वे सुन्दर, सुगठित और लयबद्ध नाटकीय सवाद लिख सके जो कि रगमच पर अभिनेताओ द्वारा जब बोले जाये तो उनमे एक नई शक्ति आ जाय। यही कारण है कि उनके अधिकाश सवादो मे नाटकोचित लय और पैनापन है। किन्तु डॉ० लाल प्राय एक स्थिति विशेष मे आवश्यकता से अधिक सवाद रखते है, कथापकथन मे मितव्ययिता नही है। यह दोष हिन्दी के अधिकाश नाटको मे रहता है। 'रातरानी' मे नाटकीय सवादो मे काव्यो के कुछ उद्धरणो का बहुत सुन्दर प्रयोग पहली बार हिन्दी नाटक मे हुआ है।

शुभदा

डा० शान्तिस्वरूप गुप्त

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारो का ऐतिहासिक-उपन्यास-सम्बन्धी दृष्टि-कोण इतना वैविध्यपूर्ण तथा उनकी रचनाओ मे ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग इतने भिन्न-भिन्न रूप मे हुआ है कि हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यास की कोई एक सर्वसम्मत परिभाषा देना कठिन है। किशोरीलाल गोस्वामी को, जिन्होने कहने को तो कही कही पर "इतिहास को दूर से ही नमस्कार कर दिया है", छाड भी दे, तो भी अन्य उपन्यास-कारो ने इतिहास को स्वतन्त्र रूप मे अपनी रचनाओ का उपजीव्य बनाया है। महापडित राहुल साकृत्यायन ने अपने विशाल अध्ययन और अगाध पाडित्य के आधार पर जो ऐतिहासिक उपन्यास लिखे, उनमे बडी ईमानदारी से ऐतिहासिक तथ्यो को कला का रूप दिया। शिलालेखो तथा प्राचीन ग्रन्थो आदि से सचित तथ्यो के आधार पर लिखे गए उनके उपन्याम ऐतिहासिक उपन्यास से अधिक औपन्यासिक-इतिहास हो गए है। इसके विपरीत चतुरसेन शास्त्री का मत है "इतिहास की विशिष्ट सत्य घटनाओ का उसे (उपन्यासकार) पूरा ज्ञान नही होता। होने पर भी वह जानबूझ कर उनकी उपेक्षा कर सकता है।" स्पष्ट है कि उन्होने अपनी कृतियो मे युग की ऐतिहासिकता को भुला दिया है और उन्हे ऐतिहासिक उपन्यास नाम न देकर इतिहास-रस की रचना कहना अधिक सगत समझा है। यद्यपि अपनी प्रसिद्ध कृति 'वैशाली की नगरवधू' और 'वय रक्षाम' मे उन्होने काल का आवरण हटाकर क्रमश बौद्धकालीन एव वेद-पूर्व कालीन भारत पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है, तथापि उनमे कपोलकल्पित स्थापनाओ को इतिहास की सीमाओ मे बाधने का इतना अधिक परिश्रम किया गया है कि तथ्य और कल्पना को भिन्न करना कठिन है।

शास्त्री जी का प्रस्तुत ऐतिहासिक उपन्यास 'शुभदा' उनके पहले उपन्यासो से इस दृष्टि से भिन्न है। उसमे कल्पना-विलास की अपेक्षा तथ्यो का सकलन अधिक है। कदाचित् इसका कारण यह है कि साधारणत सुदूर अतीत से सम्बन्धित तथ्यो की जानकारी परिश्रमसाध्य व कम होती है और निकट अतीत की अपेक्षाकृत अधिक। 'शुभदा' १८वी-१९वी शताब्दी के भारत की स्थिति का चित्र प्रस्तुत करता है जिससे

लेखक	आचार्य चतुरसेन शास्त्री
प्रकाशक	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
मूल्य	४ रु० ५० पै०

सम्बन्धित सामग्री सरकारी रिपोर्टो, दस्तावेजो, पत्र-व्यवहार तथा इतिहास-पुस्तको मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है।

सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार तथ्यो को साधन बनाकर उन्हे रसमय बनाता है। न तो वह उन्हे साख्यिकी के निर्जीव अको की तरह प्रस्तुत करता है ओर न उसकी रचना मे सामग्री कबाडी की दूकान की तरह एकत्र मात्र कर दी जाती है। 'शुभदा' इस दृष्टि से सफल नही कहा जा सकता। कतिपय स्थलो को छोडकर जहा कथोपकथन तथा कथा-प्रवाह के द्वारा तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति के कुशल सकेत दिए गए है, जैसे गौरीपुर के ब्राह्मणो की पचायत या राममोहन राय तथा पादरी के कथोपकथन, अन्यत्र लेखक ने इतिवृत्तात्मक शैली का ही अधिक आश्रय लिया है। ऐसे स्थल जहा पाठक को इतिहास की जानकारी कराना उद्देश्य रहा है, नीरस इतिवृत्त मात्र बनकर रह गए है और पाठक को लगता है जैसे वह उपन्यास न पढकर कोई रिपोर्ट पढ रहा है। ये अश उपन्यास से एकजीव न हो सकने के कारण वातावरण निर्माण मे असमर्थ रहे है जो ऐतिहासिक उपन्यास का प्राण है। उपन्यास का बारहवा परिच्छेद, जिसमे उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ के साहित्य, भाषा, शिक्षा, ईसाई धर्म-प्रचार तथा यूरोप मे भारतीय साहित्य के प्रति सम्मान-भाव का चित्र प्रस्तुत किया गया है, सोलहवा परिच्छेद जिसमे भारतीय सैनिको की मन स्थिति, उनके असन्तोष, ३४ तथा ६६ नम्बर पल्टनो के विद्रोह का वर्णन है, और चौबीसवा परिच्छेद जिसका विषय है डलहौजी की नीति, उसका प्रशासन और उस सब का दुष्परिणाम—इसी प्रकार के शुष्क इतिवृत्त है। यह शुष्क तथ्य-सकलन कही-कही तो बीस पृष्ठो तक चला गया है और ऊब उत्पन्न करने लगता है। इस एकरसता के खलने का एक कारण यह भी है कि उन तथ्यो से काल की निकटता के कारण लगभग सभी विज्ञ पाठक परिचित है।

हिन्दू समाज मे नारी की दयनीय स्थिति ने शास्त्री जी के हृदय को सदा स्पर्श किया है। अत न केवल उनके सामाजिक उपन्यासो 'हृदय की प्यास,' 'हृदय की परख' और 'अपराजिता' मे ही, अपितु ऐतिहासिक उपन्यासो मे भी उसके करुण चित्र अकित कर पाठक की सवेदना जाग्रत करने की चेष्टा की गई है। प्रस्तुत उपन्यास मे भी सती-प्रथा तथा सम्मिलित परिवार मे नारी की दुर्दशा के करुणार्द्र चित्र प्रस्तुत कर एक ओर तत्कालीन सामाजिक स्थिति की जानकारी कराई गई है और दूसरी ओर पाठक के मन मे नारी के प्रति अनुकम्पा भाव जाग्रत किया गया हे। 'शुभदा' मे झण्डशाह की पत्नी की पति की मृत्यु के उपरान्त वही दुर्दशा होती है जो प्रेमचन्द के 'गबन' मे रतन की। तत्कालीन धार्मिक स्थिति का चित्र भी बडा सजीव बन पडा है। एक ओर ईसाई धर्म-प्रचारको की मिशनरी लगन, उनके प्रलोभन तथा धमकी भरे हथकडो, धार्मिक असहिष्णुता के गम्भीर और व्यगपूर्ण चित्रो तथा दूसरी

ओर भारतीय धर्म के ठेकेदारो की अदूरदर्शिता, कट्टरपथी दुराग्रह, ढोग, छुआछूत आदि के अकन द्वारा यह कार्य बडी सफलतापूर्वक किया गया है।

चतुरसेन शास्त्री ने उस समय लेखनी चलाना आरम्भ किया था जब ऐतिहासिक उपन्यास मे एक ओर सामाजिक समस्याओ का समावेश किया जाता था तथा दूसरी ओर उसे रोचक बनाने के लिए रहस्यो, कुचक्रो, षड्यन्त्रो आदि का आश्रय लिया जाता था। यद्यपि उन्होने 'वैशाली की नगरवधू' से पूर्व के अपने उपन्यासो को अस्वीकार किया पर स्वय उसमे भी रोमाचकारी प्रसगो की कमी नही है। प्रस्तुत उपन्यास मे झण्डूशाह-मण्डूशाह तथा डाकुओ से सम्बन्धित प्रसग इसी प्रकार का है, जिसकी एक मात्र सार्थकता उसके मनोरजन-तत्त्व मे है।

शास्त्री जी के अधिकाश उपन्यास शिथिल और असम्बद्ध कथानक वाले है। 'वैशाली की नगरवधू' मे एक व्यक्ति द्वारा तथा 'सोमनाथ' मे एक कथा द्वारा दृढता लाने का जो प्रयत्न किया गया था, वह असम्बद्ध घटनाओ की रेगती गति के कारण विफल हो गया हे। पर प्रस्तुत उपन्यास इस दोष से मुक्त है। उसमे चार कथानक है। मुख्य कथानक है शुभदा-मैकडानल्ड का। उसके अतिरिक्त तीन और कथानक है—(१) राममोहनराय का (२) गोपाल पाडे, मगल पाडे का (३) नैनीताल के गोरे सन्त का। मुख्य कथानक के साथ प्रथम दो कथानको को पात्रो, उनके परस्पर सम्बन्धो तथा कार्य-व्यापार द्वारा कुशलतापूर्वक जोडा गया है। अन्तिम कथानक को भी उपसहार द्वारा, जिसमे मैकडानल्ड-शुभदा को गोरे सन्त के यहा जाने का निर्णय करते हुए दिखाया गया है, मुख्य कथानक से सम्बद्ध कर दिया गया है। अत उपन्यास मे गठन-शैथिल्य का कारण विविध कथानको मे असम्बद्धता न होकर वे ऐतिहासिक इतिवृत्त है जो साख्यिकी की तरह तथ्यो को निर्जीव शैली मे प्रस्तुत करते है।

शास्त्री जी विवरण शैली के प्रति सदा से विश्वस्त रहे है। इस शैली द्वारा उन्होने पात्रो के रूप, क्रियाकलाप तथा उपन्यास के वातावरण को मूर्त करने मे पूर्ण सफलता प्राप्त की है। इस दृष्टि से उनकी तुलना T S Eliot के 'Adam Bede', Henry James के 'Ambassador' तथा Hardy के 'Tess' से की जा सकती है। परन्तु 'शुभदा' के सम्बन्ध मे यह सत्य नही। इस उपन्यास के वे परिच्छेद जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया है, न तो कथानक को गति प्रदान करते है और न पात्रो का मूर्तीकरण। उसके सब से शक्तिशाली अश है उसके कथोपकथन। वे कथानक को गति प्रदान करने, पात्रो को सजीव बनाने के साथ-साथ वातावरण को भी मूर्त करते है। मगल तथा गोपाल पाडे, शुभदा तथा गोपाल पाडे और लेफ्टनैण्ट एव याकूब नामक सिपाही के बीच होने वाले सवाद इसी प्रकार के है।

शास्त्री जी की गणना यद्यपि प्रकृतिवादी लेखको मे की जाती है तथापि उनका प्रकृतिवाद केवल शैली के खुलेपन तक ही सीमित है, न तो उनका अध्ययन

ही वैज्ञानिक है और न वे प्रवृत्ति तथा सस्कारो से ही प्रकृतिवादी है। यही कारण है कि वे आदर्शवादियो के समान अनीति या अत्याचार को देखते ही चिल्ला पडते है। 'शुभदा' मे उनकी आदर्शवादिता अस्वाभाविकता तक पहुच गई है। शुभदा के श्वसुर राधामोहन मजूमदार का चरित्र और मैकडानल्ड का व्यक्तित्व आदर्शवादी तत्त्वो से ही निर्मित हुआ है। झण्डूशाह की पत्नी का घरबार छोडकर गोरे सन्त के साथ रहने का आग्रह तो बिल्कुल अस्वाभाविक प्रतीत होता है, जो १९वी शताब्दी मे तो क्या आज भी असम्भावित घटना है।

पुस्तक मे वैसे तो अनेक मुद्रण दोष है पर यह दोष मण्डू शाह ओर झण्डूशाह के नामो मे चरम सीमा को पहुच गया है क्योकि वह पाठक को उलझन मे डाल देता है। हम इसे मुद्रण दोप ही समझते है, क्योकि शास्त्री जी जैसे कलाकार से ऐसी असवाधानी होना तो सम्भव नही।

कुल मिलाकर उपन्यास विषय तथा शिल्प दोनो ही दृष्टि से साधारण है। व्यक्तित्व की व्यजना के लिए जिन सूक्ष्म रेखाओ की आवश्यकता है, मानवता की चिरन्तन अनुभूतियो को अभिव्यजित करने के लिए जो उदात्त दर्शन वाछनीय है, उसका इस रचना मे नितान्त अभाव है। उसका एकमात्र गुण यह है कि वह अठारहवी-उन्नीसवी सदी की भारतीय स्थिति की झाकी प्रस्तुत करता है, यद्यपि वह भी कुछ अधिक सजीव नही है।

सामर्थ्य और सीमा

श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

'सामर्थ्य और सीमा' हिन्दी के मूर्धन्य उपन्यासकार, अकादेमी-पुरस्कार-विजेता भगवतीचरण वर्मा की नवीनतम औपन्यासिक कृति है।

अकादेमी पुरस्कार-विजय का उल्लेख मैंने सचेष्ट भाव से किया है। पुरस्कृत कृति थी 'भूले-बिसरे चित्र'। 'भूले-बिसरे चित्र' स्वतन्त्रता-आन्दोलन के आरम्भिक अवस्थान तक भारतीय समाज के जीवन का एक विशद इतिहास प्रस्तुत करता है। इस बीच इतिहास के जो कदम उठे उन्होंने भारतीय समाज की काया पलट कर रख दी। घटना-चक्र बड़े वेग से घूमता चला गया और भारतीय समाज सामन्ती व्यवस्था के दौर से लोकतन्त्र की भूमि तक आ पहुचा है। 'भूले-बिसरे चित्र' मे समाज की काया-पलट का प्रतीक था। नवल—जो मानो पुराने सस्कारो का विसर्जन कर नए सस्कारो के अर्जन के लिए भारतीय युवक का आह्वान करता है, जो मूल्यो की सक्राति का जीवन्त प्रतीक है। 'सामर्थ्य और सीमा' की कथा-भूमि पर आते-आते लेखक एक सघर्षमय अन्तराल पार कर उस भूमि पर आ गया है जिसके सपने सजो कर किसी समय भारतीय नागरिक ने सशस्त्र साम्राज्यवादी सत्ता से सघर्ष किया था। 'सामर्थ्य और सीमा' की कथा स्वतन्त्रता के बाद भारतीय नेताओ के पुनर्निर्माण के प्रयत्नो की कथा है और इस सामयिक कथा के साथ ही जुड़ी हुई है मानव के चिरन्तन अहकार की कहानी—और उस अहकार की चरम परिणति घोर असफलता, दर्प-दलन की दयनीय कथा।

'सामर्थ्य और सीमा' मनुष्य के बनकर मिट जाने की कहानी है। स्वय लेखक के शब्दो मे—

> **"वैसे तुम चेतन हो तुम प्रबुद्ध ज्ञानी हो,**
> **तुम समर्थ, तुम कर्त्ता, अतिशय अभिमानी हो,**
> **·· बनकर मिट जाने की एक तुम कहानी हो।"**

लेखक	श्री भगवतीचरण वर्मा
प्रकाशक	राजकमल प्रकाशन
मूल्य	७ रु० ५० पै०

आरम्भ मे मच पर पाच पात्र आते है—मनुष्य की विविध मानसिक-भावात्मक एव बौद्धिक शक्तियो के प्रतिनिधि। सभी अपनी अजेय शक्ति और सामर्थ्य के प्रति अत्यन्त जागरूक है। **रतनचन्द्र मकोला** पूजीपति है आज के सामाजिक जीवन की सब से बडी शक्ति और सत्ता—पूजी— के प्रतिनिधि। वे अत्यन्त परिश्रमी और सयमी है। अपने साध्य के प्रति एकान्तत एकनिष्ठ। आज की बदलती हुई परिस्थितियो से सामजस्य करके उन्होने निरन्तर अपनी शक्ति का विस्तार किया है। वे जानते है कि 'हरेक भावना कही न कही चल कर धन से शासित होने लगती है।' (पृ० २३५) धन के देवता की उपासना वे वैयक्तिक उपासना के रूप मे नही, सामाजिक उपासना के रूप मे करते है ओर इसीलिए उनके साम्राज्य का निरन्तर विस्तार हो रहा है। **देवलकार** सघर्ष-प्रिय, प्रकृति-विजय की दुर्दम आकाक्षा से पूर्ण, विज्ञान की अपराजेय शक्ति के प्रतीक है निर्भीक, नि स्पृह और कटु स्पष्टवक्ता। भावना-रहित जीवन की प्रताडनाओ से जनित कुठा, घुटन और उनके साथ हठी अह के योग से उनका जीवन अत्यन्त प्रखर बन गया है। बौद्धिकता ने उनके वलिष्ठ अह पर सान चढाई है। उनके जीवन की मानसिकता केवल कर्म के प्रति ममत्व और सामर्थ्य के प्रति मोह तक सीमित है। **ज्ञानेश्वर राव** आधुनिक बौद्धिक जीवन के सबल अस्त्र—समाचारपत्र— का प्रतिनिधित्व करते है। देश-विदेश के विविध अनुभवो और परिस्थितियो के प्रभाव ने जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण को पूर्वाग्रहो और मान्यताओ के एक विशेष साचे मे ढाला है। अपनी लेखनी के चमत्कार और अपार शक्ति के दर्प मे ग्रस्त उनका मन भारतीय सस्कारो और मूल्यो के प्रति तिरस्कार-भावना से युक्त है। उनकी पत्नी वालिया उन्हे अमेरिका तथा ब्रिटेन का मानसिक गुलाम समझती थी। आज के अनेक राजनीतिज्ञो की भाति ज्ञानेश्वर राव की दृष्टि भी अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर अधिक तत्पर है—राष्ट्रीय समस्याओ की ओर उतनी नही। वे विविध शासन-पद्धतियो के बीच समन्वय को ही भारत की अनेकविध समस्याओ के लिए रामबाण मानते है।

ये तीनो ही अपने-अपने ढग से मानव की बौद्धिक शक्ति एव सामर्थ्य के प्रतीक, औद्योगिक सभ्यता के प्रतिनिधि है। मानव-व्यक्तित्व के दूसरे पक्ष—उसकी भावात्मकता के प्रतिनिधि पडित शिवानन्द शर्मा और एलबर्ट किशन मसूर है। पडित शिवानन्द शर्मा कवि और उपन्यासकार है। उनका जीवन भयानक सघर्ष का जीवन रहा है। अनेक प्रकार के प्रतिकूल अनुभवो ने उनके व्यक्तित्व को निखारा है। राजनीति के घोर वस्तुवादी जगत् मे आ फसने वाले सहज भावना-प्रवण व्यक्ति की भाति शर्मा जी असफलताओ का विष-पान करके आशुतोष भी बन गए है और आशुरोष भी। एलबर्ट किशन मसूर कलाकार है—कला-साधना के लिए अनिवार्य रुचि-सस्कारो से युक्त, स्वय किसी अदृश्य शक्ति की कलाकृति की भाति सुन्दर सुडौल व्यक्तित्व के धनी। मसूर की कलात्मक प्रवृत्ति मे वस्तुवादी सभ्यता के योग्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समन्वय

भी है । उनका व्यक्तित्व कला और विज्ञान का एक अजीब सम्मिश्रण प्रस्तुत करता है ।

ये पाचो ही पात्र अपने-अपने वैशिष्ट्य से युक्त है । सभी को अपनी सामर्थ्य, अपनी शक्ति और महत्ता का गर्व है, अपनी सिद्धियो के प्रति सभी सजग है । मनुष्य की सामर्थ्य मे सभी का अटूट विश्वास है—उसे ही वे शक्ति का एकमात्र स्रोत मानते है । नियति की अदृश्य शक्तिया इन सब को एक स्थान पर लाकर एकत्रित कर देती है । इनके साथ ही मत्री जोखनलाल है—जिन्होने महत्ता की सिद्धि नही की हे वरन् जिन पर परिस्थितियो ने महत्ता का आरोप कर दिया है । स्वातन्त्र्योत्तरयुगीन शासनिक प्रतिनिधियो का उनके माध्यम से एक अच्छा खाका लेखक ने प्रस्तुत किया है ।

इन सबके पुरुष-सुलभ अहकार को चुनौती मिलती है दो दिशाओ मे । पहली चुनौती है यशनगर की रानी मानकुमारी के व्यक्तित्व की । रानी मानकुमारी का सौन्दर्य अद्वितीय है—आर्य और मगोल रक्त का सम्मिश्रण, चम्पई रग, स्वस्थ-सुडौल शरीर । नियति की विडम्बना ने उन्हे सौभाग्य से वचित कर दिया है । उनके पति राजा शमशेर-बहादुर सिह उनके लिए केवल प्रेम-पात्र ही न थे, वे उनके प्रति पूर्णत समर्पित थी । इस अभाव के बावजूद रानी की प्रखर जिजीविषा ने उन्हे जीवित रखा था शायद पुरुष के अहकार-दलन के इस दयनीय नाटक मे केन्द्रीय पात्र के रूप मे अवतरित होने के लिए । यो रानी का जीवन प्राय निरुद्देश्य है—अथवा कहे कि वह नही जानती उनके जीवन का उद्देश्य क्या है ? 'मेरी इस सुन्दरता की सार्थकता क्या है' ? (पृ० १३५) यह अन्तर्द्वन्द्व उनकी चेतना का अग है । उसका विश्लेषण उन्हे केवल इतना बताता है कि "सौन्दर्य का उद्देश्य है प्रदर्शन और अपने सौन्दर्य के प्रदर्शन से लोगो मे जो प्रसन्नता होती है उससे मुझे प्रसन्न होना चाहिए । दूसरो को प्रसन्न करके प्रसन्न होना कितनी बडी विडम्बना है । यह प्रसन्नता मानसिक होने के नाते केवल काल्पनिक है और इस-लिए निरर्थक है, नि सार है ।" रानी के सौन्दर्य के प्रति, 'चेतना के इस उज्ज्वल वरदान' के प्रति क्रमश वे सभी नतमस्तक होते है । रानी के लिए उपर्युक्त पाचो ही पात्रो के पास अपने-अपने उपहार है —वे सभी रानी को अपना बनाने के लिए प्रयत्नशील दीख पडते है । उनकी सारी बौद्धिक शक्तिया और कलात्मक सस्कार, उनका सारा दर्प और अहकार सौन्दर्य की इस देवी के एक कृपा कटाक्ष के सम्मुख शतखड होकर बिखर जाता है । प्रकृति की इस चेतनामय शक्ति की चुनौती के आगे पुरुष का अहकार बरबस झुका हुआ दीखता है । और उधर आज के जीवन की जटिलताओ और मानव की आदिम बर्बरता के कारण नारी अपने सौन्दर्य को अभिशाप समझती है । (पृ० १३६)

दूसरी चुनौती प्रकृति की जड शक्ति की ओर से है—उसकी प्रतीक है रोहिणी नदी । रोहिणी पर बाव बनाकर सुमनपुर और उसके आस-पास के सम्पूर्ण प्रदेश को

धन-धान्य और सम्पदा से परिपूर्ण बना देने का उद्देश्य लेकर मत्री जोखनलाल ने मकोरा जैसे अग्रगी उद्योगपति तथा देवलकार जैसे मूर्धन्य इजीनियर को आमत्रित किया है और राहिणी पुरुष के इस अत्याचार का बडा भीषण उत्तर देती है। वह पहले सिमट कर फिर ऐसा भयकर प्रहार करती है कि सम्पूर्ण प्रदेश और उसके साथ विकास की सारी योजनाए ध्वस्त हो जाती हे, 'नियति के हाथ की कठपुतलियो' का अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है। इस सब नाटक मे एक ही व्यक्ति ऐसा है जो अपनी अन्त शक्तियो के बल पर कुछ थोडा-बहुत भविष्य का आभास पा जाता है, जो नियति-चक्र की गति से, भवितव्यता से कुछ थोडा-बहुत परिचय पा लेता है—पर दृप्त मानव ने कब किसके भविष्य-सकेतो को महत्त्व दिया है। मेजर नाहरसिह की निरन्तर यही चेतावनी ह 'कठपुतलिया का नाच हो रहा है, डोर किसी दूसरे के हाथ मे है, जिसे हम देख नही पाते।' 'नियति का चक्र चल रहा है ओर इस नियति के चक्र की गति बदलने मे मै असमर्थ हूँ, तुम असमर्थ हो, हरेक आदमी असमर्थ है। बनाने और मिटाने वाला कोई दूसरा ही है। हम तो स्वय बनाए मिटाए जाते है।' वस्तुत शेष सभी पात्र पौरुष के, बल के, स्वामित्व के प्रतीक है ओर मेजर नाहरसिह मे जहा अपने पौरुप, बल और स्वामित्व का बोध क्षीण हो चला है, वही अदृश्य शक्ति की परन्ता का बोध गहरा और तीव्र होता गया है। इसीलिए उनके समूचे व्यक्तित्व मे करुणा की अन्तर्धारा प्रवाहित होती दीखती है जिसका उद्भव अपनी परम असमर्थता, विवशता और सीमाओ के बोध से होता है।

इन सब के द्वारा जहा जीवन के चिरन्तन पक्षो का उद्घाटन हुआ है, वहा गाधी जी के नाम पर गाधीवादी मूल्यो के विपर्यय के साधक जोखनलाल, राष्ट्रीयता की भेड की खाल मे साम्प्रदायिकता के भेडिये मौलाना रियाजुलहक, लाल क्राति के उन्नायक रघुराज सिह आदि का समावेश कर सामयिक जीवन के कुछ पक्षो का भी अनावरण कथाकार ने किया है। स्वतन्त्रता के बाद से हमारे सामाजिक जीवन मे जो घुन लग गया है, मूल्यो की जो अव्यवस्था व्याप्त हो गई है उसका आनुपगिक निरूपण 'सामर्थ्य और सीमा' मे हुआ है किन्तु वह 'आनुपगिक' ही है—यद्यपि सशक्त और रोचक वह अवश्य है।

वस्तुत जैसा मैंने आरम्भ मे कहा है 'सामर्थ्य ओर सीमा' मनुष्य के बनकर मिटने की कहानी है। वह 'सामर्थ्य' पर 'सीमा' की विजय का निरूपण है, जीवन पर मृत्यु के हावी हो जाने की कहानी है। मृत्यु का विकट सम्मोहन मानो सभी पात्रो को जकड लेता है और अन्त मे, मानो जीवन पर मृत्यु की विजय का निर्घोष करते हुए कथाकार के दर्शन के प्रवक्ता, मेजर नाहरसिह के ये वचन अपने आप मे अत्यन्त सार-गर्भित है 'मृत्यु जीवन से अधिक प्रबल है।'

आधुनिक समाज के कुछ विशिष्ट प्रतिनिधियो को लेकर युगीन जीवन के विघटन के सशक्त सकेत लेखक ने दिए है और साथ ही सामान्य जीवन के कुछ सबल

चित्र उपस्थित किए है--ये सब भगवती बाबू की कलात्मक सिद्धि के प्रतीक है, किन्तु इन चित्रो की समष्टि के पीछे पराजय, निराशा और मानवीय विवशता का जो स्वर है वह अपने आप मे कोई बहुत मनोहारी नही है, और निराशा के इस दर्शन का प्रतिपादन कोई बहुत बडी सिद्धि नही मानी जा सकती। परन्तु लेखक अपनी दार्शनिक मान्यताओ से विवश है--'टेढे-मेढे रास्ते' की मूल भावना ने कदाचित् उसे फिर आक्रान्त कर लिया है।

प्रस्तुत उपन्यास की 'सामर्थ्य' उसकी कलात्मक आयोजना मे और चरित्रो के विश्लेषण मे है--यद्यपि चरित्र-विकास जैसी चीज यहा नही मिलेगी, क्योकि पात्र जैसे कुछ है साचे मे ढले-ढलाए हमारे सामने आते है और १५ दिन के अल्प अवकाश मे उनके लिए कोई गुजाइश भी नही, किन्तु 'सीमा' है उसके द्वारा निराशा और मृत्यु के दर्शन की स्थापना, विषादवादी मान्यताओ का प्रचार।

अन्त मे, भाषा के कतिपय असाधारण (अशुद्ध ?) प्रयोगो और असावधानियो की ओर सकेत करने की भी धृष्टता कर रहा हू

'स्वप्न-**लोक की दुनिया मे**' (पृ० २२७) "विनाश-**काल के समय**' (पृ० २५६), यूरोप मे एक लडका हुआ था **इन्हें**' (पृ० २६१), '**मुख पर वाला** उल्लास (पृ० २६९), 'जल-प्रलय आ **जाएगा**' (पृ० २७४) '**नगर वधुए**' (रूढ से भिन्न अर्थ मे प्रयोग) (पृ० २८१), पृ० २२५ पर 'मकोला की पत्नी अवस्था मे मकोला से **दो वर्ष** बडी थी' परन्तु पृ० २३४ पर 'मकोला की पत्नी मकोला से **तीन वर्ष** बडी थी', पृ० १६७ पर एक ही उपन्यास का नाम एक स्थान पर 'केवल एक रास्ता' और दूसरे पर 'एक ही रास्ता' बताया गया है। इस प्रकार की असावधानिया एक सुप्रसिद्ध उपन्यास प्रकाशक-लेखक के गौरव के अनुकूल नही है।

———

'दूखन लागे नैन' और 'टूटा टी-सेट'

डॉ० श्रीनारायण अग्निहोत्री

कलाकार जीवन को देखता है। वह उसके सुख-दु ख का अनुभव करता है और उसकी समस्याओ मे उलझता है। वह जीवन के सघर्षो को पार करता है और अनुभव सग्रह करता जाता है। कालान्तर मे वह अपने को जीवन की उपलब्धियो के धनी के रूप मे पाता है। तब वह यह बतलाने के लिए लिखता है कि उसे जीवन कैसा लगा।

भगवतीप्रसाद जी वाजपेयी के ये दोनो उपन्यास जीवन के कथ्य एव वास्तविक रूप को प्रस्तुत करते है। 'वर्तमान के सन्दभ मे जीवन कैसा होना चाहिए ?'' दूखन लागे नैन' मे इस प्रश्न का समाधान लेखक यथार्थ मे पगे आदर्श के माध्यम से प्रस्तुत करता है। जीवन का वर्तमान क्रियात्मक रूप वास्तविकता के धूमिल प्रकाश मे कैसा है—इसे वह 'टूटा टी-सेट' के पात्रो मे ढालकर पाठको के सामने लाता है।

एक अवस्था-विशेष मे मनुष्य प्रेम करना आरम्भ करता है और उसके सम्बन्ध से सपने सजोने लगता है। इस प्रेम का प्रकार एव वेग सम्बन्धित व्यक्ति की प्रकृति के प्रभाव एव वातावरण की रगीनी मे बदलता रहता है। वीणा एक उच्च मध्य-वर्ग की आधुनिका के रूप मे सहशिक्षा वाले कालेज की छात्रा है। वह स्पष्टवादिनी, व्यग्य-हास-प्रिय तथा मन मे कुछ भी छिपाकर न रखने वाली अल्हड बालिका के स्वभाव वाली युवती है। माता-पिता के दुलार ने उसकी वृत्तियो को उच्छृङ्खल-सा बना दिया है। अपनी वय-प्राप्त माता के युवक शिक्षक प्रभाकर के आकर्षक सम्पर्क मे आकर उसे अपना आराध्य बना लेती है। प्रभाकर सामान्य आर्थिक स्थिति वाले परिवार का कुलदीपक है। जीवन की निर्माण तथा उत्थान-प्रेरक परिकल्पनाओ मे उसका मन रमता है। उसके घर के आसपास के सब लोग उसके चरित्र से प्रभावित है। "चिडिया तक उसे पहचानती है" (पृष्ठ ५)। उसके सहपाठी उसको 'तथागत' कहकर सम्बोधित

लेखक		प० भगवतीप्रसाद वाजपेयी
प्रकाशक		भारतीय ग्रन्थ निकेतन, दिल्ली–६
मूल्य	:	४ ५० तथा ४ ०० रु०

करते है। जो उसे सुनता है उसकी प्रतिभा का कायल हो जाता है (पृष्ठ १५२)। बौद्धिक श्रेष्ठता तथा चरित्र-बल के कारण वीणा के (मलहोत्रा) परिवार मे छोटे-बडे सब 'भाई जी' का सम्मान करते है। पर उसके प्रति सबसे अधिक सम्मान का भाव वीणा की मौसेरी बहन उर्मिला के हृदय मे है। वह दूर से उसकी पूजा करती है पर मन ही मन उसे गले लगा लेने को आतुर है।

प्रभाकर वीणा की उद्दाम प्रेम-भावना से परिचित है पर साथ ही अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग भी है। मलहात्रा-दम्पति का उस पर पूर्ण विश्वास है। प्रभाकर की प्रतिभा एव नैतिक उच्चता के कायल होते हुए भी वह सामाजिक विवशता से वीणा की इच्छा के प्रतिकूल उसका विवाह सम्बन्ध अपने परिचित इजीनियर साहब के 'पी० सी० एस०' पास पुत्र के साथ स्थिर कर प्रभाकर के ऊपर ही वीणा को उसके लिए प्रस्तुत करवाने का भार डाल देते है। प्रभाकर एक ओर तो गरीबी से सघर्ष करते हुए अपनी पढाई और समाज-सेवा के काम को परिस्थितियो की सहायता से आगे बढाता है और दूसरी ओर वीणा को केवल तर्क एव परिस्थिति के कटु यथार्थ के बल से ही नही वरन् अपने प्रति उसकी श्रद्धा और प्रेम का पूरा मूल्य उगाहते हुए माता-पिता द्वारा निश्चित किए गए सम्बन्ध को स्वीकार कर लेने के लिए प्रस्तुत कर लेता है।

कथानक के ऊपरी प्रवाह की अन्तर्धारा के समान प्रभाकर तथा उर्मिला का परस्पर आकर्षण प्रच्छन्न रूप से आगे बढता जाता है। जहा वीणा के स्पष्ट बोलो की हथोडे की चोटे 'पत्थर ओर इस्पात' (पृष्ठ १६०) पर ऊपरी सिहरन की चिटकन ही पैदा कर पाती है वहा स्वप्ननिवेदिता उर्मिला की मूक साधना कवि की वाणी की भाति उसे द्रवित करने मे सफल होती है। पर प्रभाकर के लिए वह आकाश-कुसुम ही बनी रहती है।

वीणा ओर प्रभात का सामाजिक दृष्टि से सफल दाम्पत्य-जीवन मानो लेखक के आदर्श-अकन का चरम बिन्दु है। लेखक मानो जीवन को समझौते के रूप मे लेता है। आदर्श ओर स्वाभाविकता मे बैर होने से पग-पग पर लेखक सयोग का सहारा लेता है, और वीणा के पिता की बलि देकर आकस्मिक रूप से प्रभाकर ओर उर्मिला तथा वीणा के भाई उमानाथ एव प्रभाकर से प्रभावित शमी के रोमाटिक मिलन की योजना भी प्रस्तुत कर देता है।

कथानक बिल्कुल नया नही है। इसके प्रसिद्ध रूप 'गुनाहो के देवता' तथा 'चढती धूप' मे देखे जा सकते है, पर वाजपेयी जी ने इस कथानक को आदर्श कथा का सुखान्त रूप देकर साधारण पाठक के लिए आकर्षक बना दिया है। साथ ही वीणा के नववधू के रूप मे परिवर्तित चरित्र को 'बहूरानी को सीख' के वातावरण के दृष्टान्त रूप

मे प्रस्तुत कर जनसाधार मे सर्वप्रियता प्राप्त करने की चेष्टा की है।

'टूटा टी-सेट' इस दृष्टि से जीवन का वास्तविक रूप प्रस्तुत करता है। यहा लेखक कुछ अधिक खुला है। नीलकमल के जन्म का रहस्य उसके मन का भूत है और उसके सम्बन्ध की उडती हुई दूसरी झूठी खबर उसे पति से पहली ही भेट मे परित्यक्ता बना देती है। शराबी पिता ओर कभी की बदनाम मा के साथ परिवार के पोषण का प्रबन्ध अपने सर लाद कर उसे 'समाजभोग्या' की सी भूमिका अदा करनी पडती है। तभी वह पडोस की प्रियवदा चाची के पति फिल्मी कलाकार अरुण से बुरी तरह प्रभावित होती है। अरुण के सबल सगीतात्मक व्यक्तित्व के प्रति प्रबल आकर्षण नीलकमल के लिए प्रलोभन मात्र नही है (द्रष्टव्य—नीलकमल द्वारा चिन्ता देवी के पति की लम्पटता को फटकार—पृष्ठ ८०)। परिस्थितिया मानो गला दबा कर उसको अरुण के आकर्षण की परिधि मे घसीट लाती है। अपने से सघर्ष करती हुई और अपनो के लिए सघर्ष करती हुई (बहन सुशीला की पढाई एव परिवार के पोषण के पूरक व्यय के लिए) वह कलाकार अरुण की सहानुभूति से परास्त होकर अपने को खोकर शराबी की भाति गम गर्क करने को मानवीय कमजोरी से झुक जाती है। पर तभी परिस्थितिया और लेखक की सयोग-योजना नीलकमल को फिर से जीवन को आरम्भ करने का सुयोग उपस्थित कर देती है। नीलकमल तो अभिभूत-सी हृदय खोल कर पति के चरणो मे समर्पित हो जाना चाहती है पर अरुण की सजगता और नीलकमल के प्रति उसके भीतर के कलाकार की सहानुभूति उसका पथ-प्रदर्शन करते है और वह हाथ मे आई हुई दूसरे की निधि को उसके स्वामी को सजोए हुए रूप मे सौप कर अपनी ग्लानि को दूर करने की चेष्टा करता है।

लेखक की दृष्टि मे मूलरूप से नीलकमल पवित्र है। उसके पति सयोगरजन के चरित्र मे, प्रतिक्रिया के रूप मे ही सही, खुल कर खेलने की, नीचे जाने की वृत्ति को चरितार्थ कर वह समाज की वास्तविक दशा का ही चित्रण करता है। इस प्रकार 'वर्तमान के प्रति विद्रोह' की भूमिका से आरम्भ होकर यह उपन्यास अतीत के प्रति सम्मान तथा भविष्य मे आस्था की पृष्ठभूमि मे समाप्त होता है।

लेखक ने तटस्थ दृष्टि से बम्बई के फिल्मी जीवन को पूरा का पूरा देखा है। नीलकमल के पडोसियो के जीवन के व्यौरो, 'लोकल ट्रेनो' और 'रेस्तरा' के अनुभव तथा फिल्म जगत् के व्यापारो के ताने-बाने मे उपन्यास का कथानक स्वाभाविकता से बुन दिया गया है। लेखक को नीलकमल तथा मृगलोचनी तलवार के सदृश अनेक भूली भटकी युवतियो के जीवनक्रम को परखने का अवसर निश्चय ही मिला है।

आदर्श पर आग्रह के कारण विशेषकर ' दूखन लागे नैन' मे कथानक की जिस स्वाभाविकता की हानि हुई है, उसे वाजपेयी जी के पात्रो के सवादो के सयोजन

ने पूरा कर दिया है। दोनो ही उपन्यासो मे पात्रो को अपने को प्रकट करने का जितना अवसर बाहरी रगमच पर है, उससे भी अधिक अवसर उनके मन के भीतर के रग-मच पर भी है। सभी के मन की गाठे मन के भीतर के विचारो मे खुलती है। प्रभाकर ('दूखन लागे नैन') तो मानो बात करते-करते अपने मे बार-बार खो जाता है। उर्मिला की सुकुमार भावनाए तो मानो बाह्य अभिव्यक्ति के प्रकाश को झेल ही नही सकती (वही)। अरुण और नीलकमल तो रात के नीरव प्रहरो मे भी अपने ही से उलझते हुए दिखाई पडते है ('टूटा टी-सेट')। अभिव्यक्ति के प्रकट रूप मे तो पात्रोचित भाषा (देहाती नोकर), समयोचित भाषा (अग्रेजी शब्दो की भरमार) और प्रत्येक पात्र का विशिष्ट लहजा (स्वराघात) वाजपेयी जी के पात्रो की विशेषता है। एक ही बिल्डिंग मे रहने वाले लोगो की अपनी-अपनी भाषा मे बाते—नीलकमल की सखियो की बाते, शौचालय के पास लगे हुए 'क्यू' के लोगो की बाते—इसके अच्छे उदाहरण है। (टूटा-टी-सेट)। प्रगल्भ, रुचिकर एव व्यग्य-हास्यपूर्ण सवाद वाजपेयी जी की अपनी विशेषता है।

कभी-कभी उपन्यास का प्रमुख पात्र लेखक के व्यक्तित्व का प्रक्षेपण होता है। 'दूखन लागे नैन' का प्रभाकर ऐसा ही पात्र है। इसके माध्यम से लेखक अपना कथ्य प्रस्तुत करता है। नीलकमल (टूटा टी-सेट) के साथ भी लेखक का अधिक तादात्म्य स्थापित होता हुआ दिखाई पडता है। पर अपने सभी प्रयत्नो के बावजूद भी पुरुष लेखक स्त्री के मन मे पैठ सकता है इसमे सन्देह है—हा जब खुली डायरी-सी वह स्वय अपने को कलाकार के माडल की भाति प्रस्तुत कर दे तो शायद उसका कुछ वास्तविक चित्रण सम्भव हो जाए। इसीलिए वाजपेयी जी के पुरुष पात्र स्त्रीपात्र की महत्ता को न प्राप्त करते हुए भी सबल है—सजीव है।

वाजपेयी जी पुराने लेखक है। उन्होने उपन्यास के विकास के कई रूप देखे है। फलत वाजपेयी जी की इन कृतियो मे एक कसाव है और परिच्छेद के अन्तर्गत अन्त परिच्छेद रखने का क्रम शैली को बिल्कुल आपसी बातचीत की स्वाभाविकता के स्तर पर ला देता है। अनावश्यक विस्तार से बचते हुए वाजपेयी जी ने दोनो उपन्यासो के प्रमुख प्रसगो की अवतारणा एक सगीतज्ञ की-सी साधना की सिद्धि के रूप मे की है। 'टूटा टी-सेट' के (पृष्ठ ५७–६५, ७५–८२, १०४–११४, १५९–१६६) प्रसग मर्मस्पर्शी ढग से प्रस्तुत किए गए है। ('दूखन लागे नैन') के परिच्छेदो और अन्तर्परिच्छेदो (पृष्ठ १५८–१६७, १९५–२००, २०७–२१६, २२९–२३७) मे इसी कुशलता का परिचय मिलता है। प्रभाकर के पढने के क्रम को बताने वाले अरोचक विषय को भी अन्तर्परिच्छेद के रूप मे रोचकता से सिक्त करके ही प्रस्तुत किया है। कोई-कोई स्थल तो सिनेमा के रजट-पट की-सी आकस्मिकता एव क्षिप्रता से परिवर्तित होते है (पृ० १२४, १५४, २२१)।

दूखन लागे नैन' की परिणति प्रभाकर (अथवा प्रकारान्तर से लेखक) के इन शब्दो मे होती है—"मनुष्य की सभी कामनाए पूर्ण नही होती वीणा ! इसके सिवा दुराग्रही व्यक्ति कभी पूर्ण सन्तुष्ट भी नही हो सकता। ससार की कोई भी शक्ति उसे पूर्ण नही बना सकती" (पृ० २३०)। "यही तुम्हारा भ्रम है वीणा, बडा भ्रम। एक तुम्हारा नही, सम्पूर्ण मनुष्य जाति का कि जो कुछ उसे प्राप्त होता है उससे उसका मन कभी भरता नही।"

इसके अतिरिक्त प्रासगिक आलोचना के रूप मे जनता के प्रतिनिधि-रूप नेताओ की (१२३) और अग्रेजो के बजाय समाज के शत्रुओ से लडने की (१३१–१३२) तथा औद्योगिक निर्माताओ की गुलामी (२०५) पर तीव्र कटाक्ष है।

'टूटा टी-सेट' का केन्द्रबिन्दु वर्तमान मे विद्रोह के रूप मे है। अन्तर्विरोध मानो इस उपन्यास की रागिनी की लय है। अरुण सिद्ध करना है कि समाज की परम्पराए तोडने वाले व्यक्ति ही अभिनन्दनीय है। वह सोचता है—"मै अगर प्रारम्भ से ही ऐसा उच्छृङ्खल व्यक्ति न होता, तो कही उच्चतर माध्यमिक विद्यालय मे एक सामान्य शिक्षक मात्र होता। मैने पथ से विपथ हो-हो कर ही तो इन प्रशस्त पथो पर आना सीखा है। मैने अनुभव किया है कि जीवन भर फूक-फूक कर कदम रखने और पाप से निरन्तर भयभीत रहने वाला व्यक्ति साधु भले ही बन जाय, पर समाज को आगे बढाने वाला क्रातिकारी विचारक या कलाकार वह कभी हो नही सकता, बन नही सकता।"

पर यह क्राति जब उपन्यास के 'सेक्स' सम्बन्धी खुली चर्चाओ के रूप मे की जाती है तब कही-कही तो आज के सिनेमा के प्रेम-प्रदर्शन करने वाले अशो की तरह उपन्यास के ये स्थल पाठक को चिहुकाए बिना नही रहते ('दूखन लागे नैन')। 'टूटा टी-सेट' मे अनेक स्थलो पर प्रेम-प्रदर्शन के एकान्त व्यवहार का अनावृत रूप प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने शिष्टता की रक्षा करने का प्रयत्न किया है, पर कदाचित् यथार्थ-चित्रण का आग्रह उसके प्रयत्न पर भी रोक लगाता हुआ प्रतीत होता है।

———

आखिरी आवाज़

श्री सत्यपाल चुघ

'आखिरी आवाज' स्वर्गीय रागेय राघव के अन्तिम उपन्यासो मे से है। रागेय राघव के ऐतिहासिक और सामाजिक दोनो प्रकार के उपन्यास मिलते है। 'आखिरी आवाज' सन् १९५५ के आस-पास के ग्राम-जीवन पर आश्रित सामाजिक उपन्यास है। इसका आरम्भ एक घटना-प्रधान उपन्यास के समान एक लडकी पर बलात्कार और खून से हुआ है किन्तु एक चरित्र-प्रधान उपन्यास की तरह इसका विकास प्रमुख पात्रो के अन्तर्द्वन्द्वो तथा अन्य चरित्र-वैचित्र्य से जनित चौकाने वाले परिणाम से हुआ है। स्वय लेखक ने, भूमिका मे, उपन्यास की विधि और विधेय दोनो को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"आज भी समाज मे हत्या होती है और पुराने और नए सस्कारो का सघर्ष होता है। मैने इसे देखा तो मुझे लगा कि उपन्यास किसी क्षेत्र मे जाकर केवल कथा-मात्र नही रह जाता, कथा से परे वातावरण हो जाता है और व्यक्ति उसमे सजीव होकर उतरता है। मेरा नारायन सघर्ष का जीवन्त स्वरूप है। मैने युग के साथ सस्कारो के द्वन्द्वो को भी देखा, मानव का सर्वाङ्गीण रूप देखा। इस (उपन्यास) मे मै समझता हूँ कि मैने एक नई बात स्थापित की है—वह यह है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व युग से समन्वित होकर भी आदर्श के विजन (vision) मे सीमित नही हो जाता और तब कथा अपनी सृष्टि अन्तर्द्वन्द्वो मे करती है और भाव सगीत बन जाता है, और नाद का प्रवाह सबसे ऊपर सार्वभौम हो जाता है।"

इस उपन्यास का समग्र विधान इस बात को लेकर है कि एक अपराध को छिपाने के लिए और अनेक अपराध करने पडते है। गाव के सरपच का लडका नारायन और पच का लडका माधो गाव की एक विवाहिता निहाल नामक लडकी से व्यभिचार करते है और इस पाप-काण्ड को दूर से देखती हुई अपनी चरित्रवान् पडोसिन सखी से बचने के लिए व्यभिचारिणी निहाल, नारायन और माधो को उससे भी व्यभिचार करने के लिए प्रेरित करती है। परिणामस्वरूप उससे बलात्कार किया

लेखक	डा० रागेय राघव
प्रकाशक	राजपाल एण्ड सस, दिल्ली
मूल्य	सात रुपए

जाता है और पाप के प्रकट हो जाने के भय से उसकी हत्या कर दी जाती है। सरपच और पच काग्रेसी है, उनका ग्रामीणो पर दबदबा है, अधिकारियो से मेल-मिलाप है, और सबसे बडी बात कि उनके पास रुपया है। अतएव अपने विद्यार्थी लडको को फासी से बचाने के लिए वे काग्रेसी एम० एल० ए० के माध्यम से मुसिफ को रिश्वत देते है, पुलिस के छोटे-बडे अफसरो को चादी से नरम करते है, कुछ ग्रामीणो को झूठा गवाह बनाते है, अपने अननुकूल गवाही देने वाले हैडमास्टर के विरुद्ध किन्ही मास्टरो-लडको से विद्रोह कराते है और हत्या की गई बाला के सरल निश्छल किसान-पिता के घर को बरबाद करने पर तुल जाते है, उसको व्यर्थ के मुकदमो मे बुरी तरह उलझा देते है। इससे रिश्वत, विद्यार्थियो की अनुशासनहीनता, ग्रामीणो की अशिक्षा, अज्ञान-जन्य दुरवस्था, व्यक्ति और समाज-विधान की विषमता आदि की समस्याए सामने आती है। लेखक ने इनका समाधान नही दिया, किन्तु इनका पर्याप्त यथार्थ चित्रण अवश्य किया है। उदाहरणार्थ, विभिन्न प्रसगो से रिश्वत के प्रभूत प्रचलन के निम्नस्थ कारण सामने आए है —(१) पुलिस पटवारी आदि सरकारी कर्मचारियो की कम तनख्वाह, (२) अपराध छिपाने के लिए धनवानो का गैर-कानूनी काम कराना, (३) अशिक्षित ग्रामीण समाज की कानून से अनभिज्ञता अतएव व्यर्थ के भय से बचने के लिए रिश्वतो से काम चलाने का प्रयत्न, (४) समग्र दूषित समाज-विधान का प्रभाव। इसी तरह विद्यार्थियो की अनुशासनहीनता (पृ० २८९, ३१६–३१७)। शिक्षा-क्षेत्र मे दुरवस्था के कारण भी व्यजित हुए है, वे ये है —(१) मास्टरो की कम तनख्वाह और फिर भी ट्यूशन न कर सकने का प्रतिबन्ध, (२) उन्हे एक शिक्षक का समुचित समादर न मिलना—अफसरो का मास्टर को नौकर समझना और वैसा ही व्यवहार करना, (३) मास्टरो का सात-सात घटे पढाना, (४) विद्यार्थियो के सख्याधिक्य के कारण शिक्षको-विद्यार्थियो मे सीधे सम्पर्क की न्यूनता, (५) राजनीतिक नेताओ तथा धनी लटको के माता-पिता का विद्यालयो मे हस्तक्षेप, (६) सरकारी स्कूलो मे मास्टरो के बार-बार के तबादले और मास्टरो की किसी एक ही स्कूल मे रुचि लेने की असमर्थता, (७) समाज के चतुर्दिक् भ्रष्टाचार का प्रभाव।

लेखक ने एक लडकी के खून की घटना को ऐसी व्यापकता दी है कि उसमे आज का 'कलुषित' 'राजनीतिपरक जीवन' भी प्रत्यक्ष हो उठा है। सरपच अपने लडके को फासी से बचाने का ही प्रयत्न नही करता, वह वध की गई बाला के पिता हिरदयराम को भी बरबाद करना चाहता है, क्योकि उसे बरबाद करना अपने गिरोह को पक्का करना है जिसके बल पर उसे आगामी चुनाव जीतना है। उसकी मनोवृत्ति उसके इस कथन से स्पष्ट है —"हकूमत करने के लिए दिल की बहुत-सी मिठास को खटास मे बदल देना पडता है जिस दिन मैने काग्रेस मे अपना नाम लिखाया था, उस दिन मै यह समझा था कि मुझे गाधीजी के नाम पर अपनी जिन्दगी को ऊचा करने का मौका

मिलेगा लेकिन जब मै इस चकाबू के किले मे फस गया तो मुझे मालूम पडा कि हिरदे की लडकी का मरना गाधी के मरने के बराबर है और जिस तरह कोई मकडा अपने मुह से जाला उगलकर उसके बीच मे बैठ जाता है, उसी तरह मै भी बैठ गया हू। मै अब जाले मे फस गया हू।" (पृ० २९७) दूसरी ओर निश्छल-निर्धन किसान हिरदय-राम है जिसे न्याय की माग अपनी बरबादी से चुकानी पडती है, क्योकि "छोटे दर्द को कोन देखता है। दर्द उसके देखे जाते है जिसमे सामर्थ्य होती है। दर्द उसके रग लाते है जो अपने दर्दो से दूसरो को रगना जानता है। गरीब की आह आसमान मे बादल पैदा नही करती।" (पृ० २९०)

लेखक ने हिरदयराम-जैसे एक सरल अशिक्षित ग्रामीण की बरबादी के प्रति-निधि चित्रण के माध्यम से ग्रामीण दुर्दशा का मूर्तीकरण भी किया है और आधुनिक न्याय-व्यवस्था का पोल-प्रकाशन भी, गाव की पच-व्यवस्था की गिरावट भी सकेतित हुई है। यो हिरदय की सहायता कोई नही करता, किन्तु काग्रेस के आपसी चुनाव सरपच के प्रतिद्वन्द्वी रामसिह तिवाडी को हिरदय का सहायक बना देते है। इस तरह सहानुभूति की सस्कृति नही, स्वार्थ की विकृति बडो को छोटो की सहायता करने के लिए प्रेरित करती है। लेखक ने स्पष्ट किया है कि बडे चुनावो की तो बात ही नही काग्रेस के घरेलू चुनाव भी किन्ही आदर्शो के आधार पर नही, जात-बिरादरी, रुपए, भ्रष्टा-चार तथा धाधली से लडे-जीते जाते है।

कत्ल की घटना के साथ जहा उपर्युक्त सामाजिक समस्याए तथा उद्देश्य सम्बद्ध है, वहा वधको तथा वध छिपाने वालो की आत्मग्लानि से जनित अन्तस्सघर्ष की नैतिक समस्या को सर्वाधिक प्रामुख्य मिला है। इसी दृष्टि से 'आखिरी आवाज' बहुत कुछ चरित्र-प्रधान बहिरन्तर्मुखी उपन्यास बन गया है। लेखक ने चरित्राकन की तुलनात्मक व्यतिरेक पद्धति का आश्रय लेते हुए एक-समान कार्यो मे भागीदार दो पात्र-युग्मो—नारायन और माधो, एव चचलसिह और कजोरीसिह— के चरित्र-वैषम्य के द्वारा (पृ० २९७–९९, ३७०, ४००) युग के साथ सस्कारो के द्वन्द्व को उभार कर प्रस्तुत किया है। नारायन और उसके पिता के सस्कार माधो और उसके पिता के सस्कारो से भिन्न है, अतएव नारायन अपने अनेक अन्तर्द्वन्द्वो मे कही चितन करता और कही माधो से प्रत्यक्ष कहता है कि "कानून की नजर से हम बच सकते है, माधो, लेकिन दिल मे चुभा हुआ काटा कैसे निकलेगा कि हम खूनी है इस दुनिया के नियम बदल सकते है, माधो, लेकिन उस दुनिया के नही बदल सकते, जो दिखाई नही देती" (पृ० ३६९) उपन्यास का अन्त नारायन के अनेक दीर्घ तथा उत्तरोत्तर तीव्र होने वाले अन्तर्द्वन्द्वो—'मन की मार' (पृ० २९१)— का परिणाम है। नारायन की विवेक-बुद्धि उतनी ही सजग होती गई है जितनी उसको फासी से बचाने के लिए उसके

पिता चचलसिह की भोली मानवता पर अन्याय करने की तत्परता बढ़ती गई है। अन्त मे नारायन माधो को मार डालता है और स्वय आत्महत्या कर लेता है। यह घटना अप्रत्याशित-चामत्कारिक होते हुए भी नारायन के दीर्घ अन्तर्द्वन्द्वो (पृ० २८९–२९१, ३५२–५६, ३६६–६९, ४००–४०२) तथा पूर्वाभासमय वचनो (पृ० ३५८, ३६९–३७०) के प्रकाश मे मनोविज्ञान-सम्मत बन गई है। इस घटना के आघात से चचलसिह भी चुनाव से विरत हो जाता है। चचलसिह के दीर्घ अन्तर्द्वन्द्वो के आलाक मे यह उचित ही दिखाई देता है। उपन्यासात मे एक साथ और भी चमत्कारपूण घटनाए आई है। हिरदय का भीतर के किसी आघात मे मरना, तिवाडी का निहाल पर बलात्कार, निहाल का पागल हो जाना आदि घटनाए ऐसी ही है। निहाल मे भी लेखक ने अन्तर-सघर्षो का कुछ परिचय दिया है किन्तु उसके समग्र चरित्र को देखते हुए उसका अन्तिम परिणाम विश्वास्य नही लगता—उसकी विवेकबुद्धि का समुचित परिचय पहले नही दिया जा सका।

नारायन के कथन मे लेखक ने मानो अपनी आखिरी आवाज (अन्तिम सन्देश) दी है—"जब घडा पूरा भर जाता है, तभी वह उस को फोडता है। इस दुनिया मे हर बात की एक सीमा होती है। पाप की भी।" (पृ० ४१२) स्यात् इसीलिए लेखक ने भूमिका मे लिखा है—"मनुष्य की पीडा मे से उठता है कल्याण का पथ, यदि वह पथ जीवन को सामरस्य नही दे सकता, तो मेरे लिए कुछ भी स्तुत्य नही रह गया।" उपन्यास के अन्तिम परिणाम तथा लेखक के इस कथन मे सगति दिखाई नही देती। उपन्यास के किसी पात्र के जीवन मे भी न तो यह सामरस्य-साधना दृष्टिगत होती है, न इसकी सिद्धि ही किसी को मिलती है। उपन्यास के अन्त मे एक ओर हत्यारो को दण्ड मिला है और यही उपन्यास का आदर्शवादी स्वरूप है, औद्र दूसरी ओर हिरदय की मत्यु, उसके घर की बरबादी, तथा रामसिह तिवाडी जैसे व्यभिचारी तथा गाविन्द-जैसे कमीने—तिकडमी की विजय मे यथार्थवादिता दिखाई देती है। उपन्यासात मे दीनता पर फलने-फूलने वाली खलता तथा समाज के चतुर्दिक् भ्रष्टाचार के प्रति यत्किचित् रोष तो उत्पन्न होता है, किन्तु सामरस्य की प्रेरणा नही मिलती। हमने ऊपर यत्किचित् शब्द का प्रयोग किया है, क्योकि उपन्यास का अन्त अभीष्ट प्रभावपूण नही हो सका। इसका कारण एक तो यह है कि लेखक प्रमुख पात्रो के अन्तर्द्वन्द्वो को समुचित मार्मिक नही बना सका। दूसरे, नारायन का सघर्ष प्रधानतया व्यक्तिगत है और उपन्यास का विधान प्राय सामाजिक समस्याओ से सम्बद्ध है और इन दोनो मे अन्त मे सामजस्य की क्षीणता है। तीसरे, समग्र उपन्यास मे लेखक यथार्थवादी आग्रह से साधारण वर्णन-विवरणो मे आवश्यकता से अधिक उलझ गया है जिससे उजागरीय अश उभर कर सामने नही आ सके। चौथे, उपन्यास के समाहार मे लेखक कुछ त्वराकुल हो गया है। यहा हिरदय के अन्तर्द्वन्द्वो को मार्मिक बनाया जा सकता था। वस्तुत लेखक

ने नारायन के अन्तर्द्वन्द्वो पर जितनी दृष्टि दी है उतनी हिरदय की पीड़ा के अकन पर नही जिससे उपन्यास का सामाजिक पक्ष कुछ अवहेलित हो गया है और उपन्यास के मार्मिक प्रभाव को क्षति पहुची है ।

लेखक ने कही तो पात्रो के अन्तर्द्वन्द्वात्मक चिंतन के माध्यम से अपने विचार दिए है और कोष्ठकबद्ध अवतरणो का आश्रय लिया है। इसमे कला की दृष्टि से पहली पद्धति अधिक प्रभावी हो सकी है। विचारो को कोष्ठक मे इसलिए रखा गया है ताकि कथा प्रवाह मे बाधा न पहुचे।

उपन्यास के वस्तु-गठन का केन्द्र एक ही घटना है। यहा कानून से बचने और फसाने की चालो का वर्णन है। 'पलटना पासा, उखड़ती-चौपड, पिटती गोटे' ही कथा का स्वरूप है अतएव उपन्यास के पढने मे पाठक की सामान्य उत्सुकता स्थिर रहती है। फिर भी, विवरणो के आधिक्य तथा दृश्य-विधान की कमी के कारण कथानक समुचित प्रभावशील नही हो सका ।

यहा विषय तथा ग्राम-जीवन के अनुकूल अभिव्यजना की स्वाभाविकता तथा सौन्दर्य सामान्य रूप मे सुरक्षित रहा है।

समग्रत 'आखिरी आवाज' मे स्वर्गीय रागेय राघव को सामान्य सफलता ही मिल सकी है और इसे उनकी दूसरी श्रेणी के उपन्यासो मे स्थान दिया जा सकता है।

———

सच बोलने की भूल

श्री अजितकुमार

'सच बोलने की भूल' यशपालजी की बारह कहानियो का नवीनतम सग्रह है। पिछले चौबीस वर्षो मे, अन्य रचनाओ के अतिरिक्त वे तेरह कहानी-सग्रह ओर भी प्रकाशित कर चुके है, लेकिन 'पिजडे की उडान' से लेकर अब तक, कहानी के सम्बन्ध मे उनकी धारणा यही रही हे कि कहानी की कला दृष्टात द्वारा विचारो की अभिव्यक्ति है। इस बीच वे हिन्दी कहानी के विकास के साथ कदम मिलाए रखने का यत्न करते रहे है, लेकिन उनका मूल दृष्टिकोण यही हे कि कहानी का मेरुदण्ड दृष्टात होता है, चाहे उसका प्रयोग बहुत सक्षेप अथवा सकेत-मात्र से ही क्यो न हो।

प्रस्तुत सग्रह की कहानिया भी यशपालजी की उपर्युक्त धारणा की पुष्टि करती है, लेकिन उन पर विचार करने से पूर्व यह समझना जरूरी है कि 'दृष्टान' से उनका अभिप्राय क्या है ? यो तो, अज्ञात वस्तुओ या व्यापारो के धर्म आदि को समझाने के लिए, समान धर्म वाली किसी प्रसिद्ध अथवा ज्ञात वस्तु या व्यापार के कथन को दृष्टात कहते है, और इसके अनुरूप, यदि दृष्टात का अर्थ यह है कि किसी विचार को व्यक्त करने के लिए उसे पात्र, परिस्थिति और कथानक का जामा पहना दिया जाए, और इस प्रकार, कहानी केवल उदाहरण या मिसाल के रूप मे पाठको के सम्मुख आए, तो यह बहुत एकागी दृष्टिकोण कहा जाएगा। कहानी मे से सिद्धान्त उभरे, यह बात दूसरी है, किन्तु कहानी पर सिद्धान्त का आरोप न सिर्फ कहानी को कमजोर बनाता है, बल्कि सिद्धान्त की धार को भी गोठिल कर देता है। आज पाठको की रुचि कहानी के निजी व्यक्तित्व मे अधिक है ओर वे कहानी का वास्तविक मूल्य उसी निजता के आधार पर आकते है, न कि उससे इतर किसी विचार या सिद्धान्त के आधार पर। यही वह रेखा है, जो यशपाल की कहानी ओर समकालीन नयी कहानी को अलग करती है।

यहा एक रोचक घटना का उल्लेख प्रासगिक होगा। सुना जाता है कि कुछ समय पूर्व, लखनऊ की एक साहित्यिक गोष्ठी मे, कहानी-चर्चा के प्रसग मे, यशपालजी अथवा उनके समवयस्क किन्ही कहानीकार ने कहा "नयी और पुरानी कहानी मे कोई

लेखक	श्री यशपाल
प्रकाशक	विप्लव कार्यालय, लखनऊ
मूल्य,	तीन रुपया

मूलभूत अन्तर नही है। यह सिर्फ नामो का झगडा है। मै अपनी किसी कहानी पर अपना नाम न देकर, किसी अन्य व्यक्ति का नाम दे दू तो सब लोग उसे नयी कहानी मान लेगे।" उत्तर मे, तपाक से, एक अन्य लेखक ने कहा "जी हा, नाम की ही बात है। आपकी कहानी पर आपका नाम न हो तो कोई भी पत्रिका उसे न छापेगी, तुरन्त लोटा देगी। आपकी कहानी छपती ही आपके नाम के कारण है।"

बात सुनने मे सटीक मालूम होती है, लेकिन यशपाल की कहानियो पर खरी नही उतरती। नयी न हो, यशपाल की कहानिया अच्छी जरूर है, मजेदार और अकसर चटपटी भी होती है, इसलिए उन पर यशपाल का नाम न हो तो भी उनके प्रकाशन मे कोई कठिनाई न होगी। जैनेन्द्र की भाति कुशल शिल्पी न होने हुए भी यशपाल विषय-वस्तु पर अनगढ किन्तु सीधी चोट करने मे दक्ष है, और इस नाते पाठको को सदा प्रिय रहे है। अस्तु, यशपाल की कहानियो को अच्छी, प्रकाशनीय, पठनीय आदि विशेषणो से विभूषित करना ही पडेगा, 'दृष्टात' का आग्रह ध्यान मे रखकर उन्हे महत्त्वपूर्ण भी मानना होगा।

तब, प्रश्न यह है कि इतना सब मान लेने के बाद, शेष क्या रह जाता है? कहानी मे हम और किस चीज की आशा करते है, जो यशपाल मे नही मिलती? शायद वह चीज है कहानीपन या कहानी का अपनापन, जिसका यशपाल मे एक हद तक अभाव है। इसी कारण, यशपाल की कहानिया रोचक होकर भी अकसर चुटकुला, विवाद, वार्तालाप, विचार या सिद्धान्त बनकर रह जाती है, उस सघटित धरातल पर नही उठ पाती, जो सचमुच कहानी का धरातल है, जहा कहानी अपने मे विशिष्ट और अद्वितीय इकाई है, जहा पात्र और परिस्थितियो का सयोजन कथा को कलात्मक रूप देने के लिए किया जाता है, न कि इतर उद्देश्यो की पूर्ति के लिए। यशपाल की शेष कहानियो की तरह, इस सकलन की कहानिया भी इसका अपवाद नही है।

प्रस्तुत सग्रह की बारह कहानियो मे से तीन--आत्मज्ञान', 'नारद-परशुराम सवाद' और 'नारी की ना'--पौराणिक आख्यानो या पात्रो से सम्बद्ध है। चार कहानिया ऐसी है, जिनका सम्बन्ध धार्मिक सस्कारो, रूढियो या अन्धविश्वासो से है। इनके शीर्षक है--'खुदा का खौफ', 'चौरासी लाख जोनि', 'खुदा और खुदा की लडाई', तथा 'फलित ज्योतिष'। शेष पाच कहानियो मे से तीन--'सच बोलने की भूल', 'एक हाथ की उगलिया,' और 'अपमान की लज्जा'--आज के मनुष्य के अन्तर्विरोध पर प्रकाश डालती है, तथा दो--'होली का मजाक' और 'लखनऊ वाले' --हलकी-फुलकी, हास्य कहानिया है।

इस प्रकार, यह यशपाल की कहानियो का एक प्रतिनिधि सग्रह है, क्योकि इसमे उनकी लेखनी का बहुरगी स्वरूप एकत्र देखने को मिल जाता है। यशपाल के

अपने गुण—तीखापन, भरपूर व्यग्य और पर्दाफाश करने की व्याकुलता—भी यह-सग्रहीत कहानियो मे प्रकट है, चाहे इन कहानियो का विषय पौराणिक हो या आधुनिक। धर्मचर्चा से लेकर हसी-मजाक तक, कुछ भी यशपाल के लिए वर्जित नही है, वे सब पर निर्मम और ठोस प्रहार करते है। सोचने पर ज्ञात होगा कि ठीक करते है। धर्म, परम्परा, मान्यता, आचार, सस्कार आदि शब्दो का हौवा खडा करने वाला समाज वास्तव मे कितना ढोगी, पाखण्डी और खोखला है, यह तथ्य यशपाल की रचनाओ मे जितना अधिक स्पष्ट होता है, उतना आज के किसी भी अन्य साहित्यकार की कृतियो से नही। उनकी कहानिया पढकर अकसर हमारे सहज-विश्वासी, अभ्यस्त मन को ठेस लगती है और हम उक्त धर्म-परम्परा आदि पर अविश्वास करने की जगह स्वय यशपाल पर अविश्वास करने लगते है, यहा तक कि उन्हे विकृत एव भ्रष्ट कह बैठते है। लेकिन सच तो यह है कि यशपाल का प्रयत्न शुरू से ही यही रहा है कि व्यक्तियो प्रसगो एव परिस्थितियो का जो सही रूप उन्होने, आधुनिक विचारो के प्रकाश मे, देखा है, उसे जनता के सामने रख दे। किसी मोह या झूठ का आवरण वे नही सहन कर सकते। 'नारी की ना' शीर्षक कहानी मे वे खुले शब्दो मे कहते है कि नर-नारी के काम-व्यवहार का भेद ब्रह्मा अथवा प्रकृति का रचा हुआ नही है। यह भेद मर्त्यलोक की नारी का चातुर्य है। पुरुष-प्रधान समाज मे "नारी अपनी पराधीनता मे पुरुष का विश्वास और कृपा पाने के लिए, पुरुष के अहकार को उकसाने के लिए, काम से त्रस्त और भोग्या होने का नाट्य करके, अपना प्रयोजन पूरा करने लगी।" (पृष्ठ ९७)

इसी प्रकार, 'नारद परशुराम सवाद' शीर्षक कहानी भी यशपाल की उसी दृष्टि का परिचय देती है, जो वस्तुओ को महिमा-मडित करके देखने मे विश्वास नही करती। परशुराम अपने जीवन और कर्म की जो व्याख्या इस कहानी मे करते है, वह परम्परागत पौराणिक सन्दर्भ से बिल्कुल भिन्न है, क्योकि वह लेखक की अपनी व्याख्या है। अन्त मे, जब परशुराम ने अपने कर्म को ही धर्म बताया और धर्म की शक्ति का गुण-गान किया, तो यशपालजी के अनुसार "इस बार नारदजी की मुस्कान छिप न सकी। उन्होने पूछ लिया—'ज्ञानीवर, पुराण की कथा पर विश्वास की बात जाने दीजिए! आप ही बताइए, क्या इस युग के पार्थिव ज्ञान के आधार पर तथ्यो का निरूपण करने वाले इस युग के लोग, ऐसी बातो पर विश्वास कर लेगे?"

"नारदजी की मुस्कान से परशुराम जी खिन्न हो गए थे। उन्होने झुझला कर उत्तर दे दिया—"यदि लोग विश्वास को छोडकर पार्थिव विज्ञान से तथ्य-निरूपण का ही भरोसा करने लगेगे, तो वे न आपकी और न हमारी अमरता मे विश्वास करेगे और न देवताओ की शक्ति मे ही।" (पृष्ठ ७२–७३)

ठीक यही उद्देश्य यशपाल की कहानियों का है--देवताओं पर आरोपित 'देवत्व' का भ्रम दूर करके, उन्हें मनुष्य के निकट लाना, 'अमरता' के स्थान पर, सीमाओं और परिधियों में बद्ध जीवन की प्रतिष्ठा करना, और यों मनुष्य को, उसके वास्तविक, सहज--शक्ति और दुर्बलताओं से मुक्त--स्वरूप में प्रस्तुत करना, न कि उसके लिए कोई सफाई पेश करना या उसके इर्द-गिर्द कोई आलोक-पुंज (हैलो) रचना। आप चाहें तो इसे 'सच बोलने की भूल' कह लें, हम इसे 'सच बोलने का साहस' मानना चाहेंगे, क्योंकि हमारे समाज और मन की वर्तमान स्थिति को देखते हुए, ऐसा करना, साहस, बल्कि कभी-कभी दुस्साहस से कुछ कम नहीं है। इसी पृष्ठभूमि में देखे जाने पर, यशपाल को प्राय यथार्थवादी या प्रगतिवादी कहा गया है। ये विशेषण पर्याप्त हैं, पर कोई चाहे तो, 'दृष्टांत' पर उनके अखंड विश्वास को ध्यान में रखकर, उन्हें 'दृष्टवादी' भी कह सकता है। 'दृष्टवादी' अर्थात् एक ऐसा व्यक्ति, जो रहस्यात्मकता, अलौकिकता अथवा दबे-ढके छिपे-पन को त्यागकर, केवल प्रत्यक्ष को मानता हो, दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में केवल प्रत्यक्ष को!

———

छोटे-छोटे ताजमहल

श्री मुद्राराक्षस

पाचवे दशक तक हिन्दी-कहानी मे अचानक अपने आपको प्रेमचन्द से मुक्त करने की प्रवृत्ति पैदा हुई। एक सीमा तक यह नव्य-रूमान काल कहा जा सकता है। अवधि अधिक न होते हुए भी इसमे वे तमाम लेखक शामिल थे जो एक सीमा पर प्रेमचन्द के ठेठ यथार्थवाद से मुक्त होना चाहते थे। कविता मे 'अचल' और शिवमगलसिह 'सुमन' का जो स्थान था वही इस प्रकार के कहानीकारो का था। यह प्रवृत्ति प्रेमचन्द काल से ही प्रारम्भ हो गई थी लेकिन सायास-उपलब्धिया इसने पाचवे दशक तक करनी शुरू की। भगवतीप्रसाद वाजपेयी, 'निर्गुण' और देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' की कहानिया इस प्रवृत्ति की ही परिणाम थी। इनमे एक ओर 'प्रेम' और 'कामना' के आकलन का आग्रह था तो दूसरी ओर समाज की परम्पराओ से सघर्ष का। एक तीसरा आग्रह भी था—वस्तु-विन्यास के वैचित्र्य का। इस प्रवृत्ति मे अज्ञेय, जैनेन्द्र जैसे समस्यापरक लेखको को कठिनता से ही शामिल किया जा सकता है। (वस्तुविन्यास के वैचित्र्य का जिक्र आचार्य शुक्ल ने भी किया था।)

राजेन्द्र यादव की कहानियो का विवेचन करते हुए इस बात पर आश्चर्य होता है कि भगवतीप्रसाद वाजपेयी, 'निर्गुण' और 'मस्त' आदि के प्रारम्भिक लेखन मे जो प्रवृत्तिया उभरी थी वे सातवे (अथवा छठे) दशक मे लिखी राजेन्द्र यादव तथा कुछ अन्य कथाकारो तक कैसे इतनी सप्राण रह गई।

सब से पहले हम 'वस्तु विन्यास मे वैचित्र्य' की समस्या को राजेन्द्र यादव के सन्दर्भ मे देखेगे। राजेन्द्र की कहानिया अक्सर बिना भूमिका के ही एक विचित्र 'कट के साथ शुरू हो जाती है। मस्लन—

लेखक	राजेन्द्र यादव
प्रकाशक	राजपाल एण्ड सस, दिल्ली
मूल्य	३ रु० ५० नए पैसे

"और सुना, मै उसे देखते ही मार गया कि नौकरी लेने आया है।"—नए-नए आने वाले ।

"वह बात न मीरा ने उठाई, न खुद उसने।"—छोटे छोटे ताज महल।

"विल यू प्लीज गेट्आउट!"—उस व्यक्ति ने दरवाजे की तरफ उगली उठा कर कहा—पास फेल ।

इस विषय मे प्रेमचन्द सयमवादी अथवा किसी सीमा तक रूढिवादी थे। भगवती-प्रसाद वाजपेयी, मस्त, निर्गुण से लेकर राजेन्द्र यादव तक नव्य-रूमानी कथाकारो मे इस तरह का जो वैचित्र्य मिलता है उसकी ओर अज्ञेय, जैनेन्द्र से लेकर राजकमल चौधरी तक अनेक, समस्याग्रही, व्यक्ति-वैशिष्ट्यपरक कहानिया लिखने वाले कृतिकारो का विशेष आग्रह नही रहा ।

उक्त नव्य-रूमानी लेखको की परम्परा के अनुरूप राजेन्द्र यादव मे भी जहा रचना और रचयिता के प्रति असीम निष्ठा है (कलाकारो की श्रेष्ठता और उनकी ट्रेजेडी पर सरूपातीत कहानिया उक्त प्रेमचन्दोपरान्त काल मे आई थी—स्वय राजेन्द्र यादव की कहानी "पहली कविता" भी इसी का परिणाम है!) वहा अभिव्यजना अक्सर अनगढ और सत् ही होती है।

'दोपहर की सुनसान अमराई मे कूकती कोयल की स्वर लहरी की तरह जब कविता खत्म हुई थी तब उसकी आखो मे आसू भर आए थे।"—पहली कविता राजेन्द्र यादव, कहानी की प्रथम पक्ति ।

"आखिर उससे नही रहा गया, उसने कागज पेसिल उठाई और धीरे-धीरे लिखने लगा—कविता तुम मुझे असहाय और अनाथ जीवन के इन सघर्षों मे छोडकर कहा चली गई हो? मैं क्या करू? किस पहाड मे मुझे रात भर नहर खोदनी है कि जिसके पार तुम बैठी हो? लोग कहते है कि इस यन्त्र युग मे तुम मर गई हो—सचमुच हे मानव-आत्मा की आवाज—तुम मर गई हो क्या?"

"और इसी तरह पता नही वह क्या-क्या लिखता रहा। सात बरस मे यह उसकी पहली कविता थी।—वही कहानी, वही लेखक, कहानी की अन्तिम पक्तिया।

ध्यान रहे, यह अभिव्यजना उस युग की है जिससे एक लम्बे अरसे पहले जेम्स ज्वायस और इलियट विश्व-साहित्य पर छा चुके थे। काफ्का, डायलन टामस और कमिंग्ज हो चुके थे।

इस रूमानी प्रवृत्ति का एक बडा लक्षण है वर्तमान से पलायन, अतीत-चिंता, यात्रिकता से ऊब और स्वप्नलिप्सा की प्रवृत्ति। राजेन्द्र यादव के उक्त उद्धरण मे जिस यन्त्र युग मे कविता के मर जाने का जिक्र है उसी यन्त्र युग मे मानव की यात्रिकता के प्रति दर्द भरा पश्चात्ताप भी है—देखिए प्रथम कहानी, 'नए नए आने वाले' जिसमे नायक न चाहते हुए भी एक रूमानी आदर्शों वाले युवक को छोडकर किसी और को नौकर रख लेता है। जबकि युवक का रूमानी आदर्श उसे (शायद कथा-लेखक को भी) कचोटता रहता है। (युवक चाहता है कि उसके जरिए मानवता का कुछ भला हो सके!—हैरत है कि इसके लिए वह क्लर्की का उम्मीदवार होकर किस नजर से आया!)

रूमान (या ठेठ रोमास) राजेन्द्र यादव का प्रिय विषय है। इस ओर कभी तो राजेन्द्र यादव का कवि नायक शरत् के देवदास की तरह निराशा-दग्ध जीवन बिताता है और कभी 'गोदान' के मेहता की तरह चर्म प्रार्थी होकर 'प्रश्नवाचक पेड' खडा कर देता है। खेल मे स्पर्श सकोची और प्रणयभीरु दिवाकर और अविवाहिता तथा प्रणय-तिरस्कृता लेखा अधेरे मे खडे देर तक बाते करते है और पृष्ठभूमि से खेल चलता रहता है, इसके बाद 'कुछ भी तो नही हुआ' जैसा भाव बनाकर अन्दर आ जाते है।

'समझौता' कहानी मे 'नारी मोह' की यह स्थिति और अधिक चिन्ताजनक है। इसमे दो युवक एक बगाली युवती की कुहनी अथवा उसकी चप्पल का रग देखकर आहे भरते है।

'पास फेल' मे उकताया-चिडचिडाया प्रोफेसर परीक्षा की कापिया जाचता रहता है और उसका 'अमीर' विद्यार्थी उसकी बेटी का अपहरण कर ले जाता है।

(कहना न होगा कि इन कहानियो मे इन प्रसगो ने ही अक्सर तीन-चौथाई से ज्यादा स्थान घेरा है, शेष कथा बहुत सीमित है।)

'पहली कविता' एक युवा कवि की ऐसी परिचिता कवयित्री की सफलता का परिचय देती है जिसकी तुलना मे उसका धर्म-भाई बना युवा कवि (आदर्श!) पीछे रह जाता है (शादी और कला को न समझने वाली बीवी के कारण!)। कवयित्री अपने धर्म-भाई के दर्शन करने आती है तो धर्म-भाई की बीवी उसे सौत की गाली देती है!

'प्रश्नवाचक पेड' मे 'अफेयर' 'मुहब्बत बाजी', 'फासेगी' जैसे शब्दो से लिपटता हुआ एक प्रेम प्रसग आ ही गया। इस कहानी का हीरो भी एक ऐसा 'टिपिकल' कहानीकार है जिसे लडकिया (कालेज की) आहे भर कर याद करती है।

'खुशबू' कहानी प्रेमानुभूतियो की एक शृखला ही है। एक रिक्शेवाला (जिसका अपना जीवन भी कम रूमानी नही है) अपने रिक्शे पर बैठने वाली कुछ विशिष्ट सवारियो के प्रति अपनी प्रतिक्रियाए इसमे व्यक्त करता है।

'छोटे छोटे ताजमहल' कहानी की पृष्ठभूमि इतिहास की रूमानी यादगार, ताजमहल है जहा मीरा ओर विजय (कथाकार के सहज आग्रह के अनुरूप) प्रणय-भीरु मन से मिलते है (मीरा चश्मा लगाती है !—सिर्फ इस चश्मे को हटा देने पर रूमान स्वभावत उन्नीसवी सदी मे पहुच जाता है)।

इस तरह राजेन्द्र यादव के इस सग्रह की कुल दस कहानियो मे से सात कहानिया प्रणय (अथवा प्रणय-भीरु स्पर्शलिप्सा) प्रधान है। बीसवी सदी के सातवे दशक मे राजेन्द्र यादव का यह आग्रह सिर्फ आश्चर्यजनक है।

तलवार-पचहजारी मे सामन्ती जीवन और दगो की विभीषिका के दो विषयो का आकलन हुआ है। सयोग से सामन्ती सस्कारो की अभिव्यक्ति कथाकार उस स्तर पर नही कर सका जिस स्तर पर अमृतलाल नागर अथवा भगवतीचरण वर्मा ने की है ओर दगो की विभीषिका के मण्टो के स्तर तक पहुचने की कल्पना भी नही की जा सकती।

आज जब कहानी नए प्रयोगो और कथ्य के कितने ही नए आयामो से गुजर रही है, राजेन्द्र यादव का यह सग्रह प्रेमचन्द के बाद आए नूतन परिवर्तनो का प्रमाण दे जाता है।

मीठा पेड़ कड़वा फल

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

पुस्तक के फ्लैप पर छपे सम्पादकीय नोट मे 'मीठा पेड कडवा फल' को एक ऐसी लम्बी कहानी कहा है, जिसे 'छोटा उपन्यास' भी कहा जा सकता है। इस 'लम्बी कहानी' या 'छोटे उपन्यास' की चर्चा से पहले लेखक के विषय की चर्चा आवश्यक है।

प० सुदर्शन उर्दू और हिन्दी दोनो मे लगभग प्रेमचन्दजी के साथ ही प्रकाश मे आए। उन्होने जब अपनी पहली कहानी लिखी, तब उनकी आयु सिर्फ १६ बरस की थी और वह स्यालकोट हाई स्कूल के विद्यार्थी थे। यह कहानी उर्दू के किसी पत्र मे प्रकाशित हुई तो स्कूल के हैडमास्टर ने प्रार्थना के समय समस्त विद्यार्थियो को स्वय पढकर सुनाई।

लिखने और व्याख्यान देने का शौक सुदर्शनजी को बचपन ही से था। आर्य-समाज का आन्दोलन उन दिनो जोरो पर था। सुदर्शनजी उक्त आन्दोलन से इतना प्रभावित हुए कि १९ वर्ष की आयु से वह आर्यसमाज के प्रचारक बन गए। सुदर्शन का यह प्रचारकपन उनके व्यक्तित्व और उनके लेखन मे निरन्तर कायम रहा है।

सुदर्शनजी का भाषण सुनने का प्रथम अवसर मुझे तब मिला था, जब मैं प्राइमरी स्कूल का विद्यार्थी था और मेरी उम्र सिर्फ १० वर्ष की थी। उनका भाषण एक कहानी के समान रोचक था और हम सभी विद्यार्थी उससे बहुत प्रभावित हुए थे।

प्रथम महायुद्ध के अन्त तक सुदर्शनजी ने अपना एक पत्र जारी कर दिया था, जिसमे मुख्यत कहानिया प्रकाशित होती थी। उनका विवाह छोटी उम्र मे ही हो गया था और नौकरी छोड देने के बाद उन्हे आर्थिक दिक्कतो का सामना निरन्तर करना पड रहा था। एक लेखक के रूप मे उनका आदर निरन्तर बढ रहा था, पर उनके प्रशसको को कहा मालूम था कि उनका प्रिय लेखक किन मुसीबतो मे अपना और अपने परिवार का निर्वाह कर रहा है। घर मे कितनी ही बार फाके की नौबत आती थी, बच्चे दूध और

लेखक	प० सुदर्शन
प्रकाशक	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा० लि०, बम्बई
मूल्य	२ रु० ५० पैसे

कपडो के लिए तरस जाते थे। उनकी पत्नी अपने लेखक पति का महत्त्व खूब अच्छी तरह जानती थी ओर सभी मुसीबतो का सामना बडी बहादुरी से करती थी। उस जमाने मे सब से अधिक देखभाल और चिन्ता वह अपने लेखक पति की करती थी, उसके बाद अपने बच्चो की और फिर पति के मित्रो की। अपनी चिन्ता तो वह करती ही न थी। कितने ही दिनो उसे भरपेट भोजन भी मयस्सर न होता था। उन्ही दिनो का जिक्र है, उसने एक तरह से जबरदस्ती अपने पति को पुरुषो की एक दावत मजूर करने को बाधित किया था। और उस दावत मे सुदर्शन जी की थाली मे जितनी मिठाई परोसी गई थी, वह सब की सब वे अपनी पत्नी के लिए अपने कोट की जेब मे डाल लाए थे।

१९३२ के आसपास से सुदर्शन जी का भाग्य चमका। पहले वह विज्ञापन क्षेत्र मे काम करते रहे। फिर वह फिल्म लाइन मे चले गए, जहा उन्होने असाधारण यश अर्जित किया। धन तो मिला ही। आज वह वृद्ध हो गए है। यो उनका स्वास्थ्य अच्छा रहा था, पर हृद् रोग ने उन्हे एकाएक कमजोर बना दिया है। इससे अब उनके डाक्टरो ने उन्हे जमकर लिखने से मना कर दिया है। कम-से-कम कुछ समय के लिए।

सब मिलाकर सुदर्शनजी ने लगभग २०० कहानिया लिखी है और ५ नाटक। ६ लम्बी कहानिया (इसी तरह के लघु उपन्यास) भी उन्होने लिखी है। स्कूलो के लिए पाठ्य पुस्तके भी उन्होने काफी सख्या मे लिखी है। पिछले ५ वर्षो मे उन्होने खलील जिब्रान के ढग की लगभग १०० लघु कथाए भी लिखी है। फिल्म लाइन ने उन्हें कवि भी बना दिया था। बहुत-से फिल्मी गीत उन्होने लिखे, जिनमे से कुछ बहुत लोकप्रिय भी हुए, जैसे 'तेरी गठरी मे लागा चोर, मुसाफिर जाग जरा।'

यो तो परिस्थितियो का प्रभाव प्रत्येक लेखक पर पडता है, पर सुदर्शनजी पर वह औसत से बहुत अधिक रहा है। उनके प्रचारकपन का जिक्र किया ही जा चुका है। फिल्म लाइन ने, जहा तक फॉर्म का सम्बन्ध है, उनकी कलम को पूरी तरह अपनी तरफ मोड लिया। आज भारतीय फिल्मो का जो कलात्मक स्तर है, सुदर्शनजी ने उसे ऊचा करने का भरसक प्रयत्न तो अवश्य किया, पर स्वय उनकी लेखन शैली का कला-पक्ष भारतीय फिल्मो के स्तर तथा उनके दर्शको की रुचि से स्पष्टत प्रभावित हुआ। उनके पात्र नाटकीयता और आकस्मिकता का शिकार बनने लगे। भारतीय चलचित्रो मे नाटकीयता और आकस्मिकता के आधार पर जो भारी अनर्थ किए जाते है, सुदर्शन जी ने अपने लिखे चित्रो मे उनमे स्पष्ट सुधार किया, पर इस सम्बन्ध मे अपने लेखन मे जो स्तर उन्होने कायम किया वह भी कला की दृष्टि से उच्च नही माना जा सकता।

एक जमाने मे सुदर्शनजी अत्यन्त लोकप्रिय थे। उर्दू और हिन्दी के सैकडो बल्कि हजारो पाठक उनकी रचनाओ की प्रतीक्षा किया करते थे। उस पीढी के कुछ लोग, जिनमे पजाब के अच्छे-अच्छे व्यापारी, ठेकेदार, पत्र-सचालक आदि सम्मिलित थे, प०

सुदर्शन को अपने युग का सबसे बडा लेखक मानते थे। उनकी उक्त लोकप्रियता के दो कारण थे। पहला तो यह कि कहानी कहने का बहुत अच्छा ढग उन्हे आता है। कथानक को न सिर्फ बहुत अच्छे मोड वह दे सकते है, अपितु क्लाइमैक्स को वह बडी सफलतापूर्वक छिपाए रखते है। दूसरा यह कि उनकी शैली जीवट भरी थी। आदर्श का पुट पाकर सजीव शैली मे लिखे गए उनके रोचक कथानक सर्वसाधारण पाठको को बहुत प्रभावशाली प्रतीत होते थे।

पर प० सुदर्शन एक सीमा से आगे नही जा पाए। साहित्य की नई प्रवृत्तियो ने न सिर्फ उन्हे अपनी ओर आकृष्ट नही किया, अपितु उन्होने उक्त प्रवृत्तियो का अध्ययन करना भी अनावश्यक और फालतू माना। उनकी कला का आधार भारत का प्राचीन आदर्शवाद था। पर उक्त आदर्शवाद की गहराई मे जाने का प्रयास भी उन्होने नही किया। विशाल साहित्य सरोवर से उद्पान उन्होने अवश्य किया, पर उस सरोवर मे गोता लगाने या उस जल द्वारा विचार-क्षेत्र को सिंचित करने का प्रयास उन्होने नही किया। शायद गीता का यह श्लोक अपने स्थूल अर्थों मे उनके सामने रहा —

यावदर्थ उद्पाने सर्वथा सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत॥

फिर भी एक युग मे सुदर्शनजी ने अत्यन्त प्रभावशाली कहानिया हिन्दी साहित्य को दी। हिन्दी कहानी के विकास मे उनका स्थान ऐतिहासिक महत्त्व का रहा है।

'मीठा पेड कडवा फल' नामक यह लम्बी कहानी जैसे फिल्माने के उद्देश्य से लिखी गई है। इसमे प० सुदर्शन की प्राणवान् शैली आज भी आपको पढने को मिलेगी, कहानी चाहे आपको प्रभावित करे या न करे। भारतीय फिल्मो के अधिकाश गुण और दोष इस कहानी मे भी है। सूरजनाथ कवि है, एकपत्नीव्रती, आदर्शवादी। उन्हे महान् गीतकार कहा गया है। पर यह महान् गीतकार इस ढग के गीत बनाता है —

मोपर खुले स्वर्ग के द्वार।
आज बना है, कितना मोहक यह ससार।
इस पर छा गई अजब बहार।

इक नारी ने मोपर छिड़क्यो जादू एक अपार।
पग-पग पर उग रहे है, वैसे नए-नए उद्गार।
जिन पर तन-मन-धन बलिहार।
मोपर खुले स्वर्ग के द्वार।

उनकी पत्नी है चाद रानी। चाद-सी सुन्दरी, भोली-भाली और पति का प्यार पाने को उत्सुक। उनके साथ विलेन का होना जरूरी है। वह है रूपलाल। रूपलाल चाद रानी को भगा ले जाता है। उसे भ्रष्ट करने का प्रयास करता है, पर वह पतित नही होती। चाद रानी, रूपलाल और सूरजनाथ बम्बई पहुचते हैं। पर पति-पत्नी मिल नही पाते। अन्त मे यह गुत्थी सुलझती है दो आत्महत्याओ द्वारा।

'मीठा पेड कडवा फल' की एकमात्र विशिष्टता इसी बात मे है कि यह प० सुदर्शन जैसे श्रेष्ठ और प्रसिद्ध लेखक की नवीनतम रचना है अन्यथा इस रचना मे कुछ भी विशिष्ट नही है।

———

समय के पाँव

डॉ० जगदीश गुप्त

'समय के पाव' मे सग्रहीत सभी लेख, जिनकी सख्या २५ है, 'व्यक्तियो से बधे' है। तिलक और गाधी विशेषत ऐसे महापुरुष है जिनसे कई लेख सम्बद्ध है। सम्मानीय लेखक के मत से महान् व्यक्तियो के चरित से सम्बद्ध होने के कारण ही उसके सस्मरणो का यह सग्रह अधिक 'प्रगमनशील' है। यह विशेषण न केवल कवि-कल्पना से उद्भूत है वरन् इसके पीछे भी काव्य-प्रेरणा निहित है। उन्नीसवी सदी के अमरीकी कवि लागफेलो की एक सुप्रसिद्ध कविता मे महापुरुषवादी जीवन-दृष्टि का परिचय देते हुए समय की रेत पर अकित महान् आत्माओ के उदात्त जीवन के चरण-चिह्नो को मानवता के मार्गदर्शक आदर्श के रूप मे कल्पित किया गया है। चतुर्वेदी जी ने शाश्वत गति की उस विशाल चेतना को समय पर ही आरोपित कर दिया और इस प्रकार अमूर्त मे मूर्त की धारणा करते हुए मानवीकरण की पद्धति से 'समय के पाव' की प्रगमनशीलता तक उनकी भाव-यात्रा सम्पन्न हुई। मैं इसे भाव-यात्रा ही कहूगा, क्योकि जो सस्मरण इस सग्रह मे समाविष्ट हुए हैं वे माखनलाल जी के प्रगाढ वैष्णव-भाव मे अन्तर्लीन राष्ट्रीयता की क्राति और आत्मोत्सर्ग से घनीभूत हार्दिकता से आद्यन्त आपूरित हैं। इसीलिए उन्हे **'समय के पांव' पर मस्तक रखने के सिवाय और कोई चारा नहीं दिखायी देता**। 'दो शब्द' मे **'बिस्तरे पर पड़े-पडे मैं इतना ही लिख सकता हू'** वाक्य पढते हुए मुझे लगा कि जैसे किसी ने भीतर कही कुछ सोया हुआ जगा दिया हो। मेरी आखो के आगे खडवा का सारा दृश्य घूम गया—उनका कमरा, दवाइयो की शीशियो की भाषा मे बोलती उनकी टेबुल, उनकी क्षीण काया को अपनी उज्ज्वलता मे निरन्तर सहेजने वाली उनकी शैया और प्रत्यभिज्ञान के इस क्षण के बाद मैं इसी सग्रह के एक अन्य पृष्ठ पर दूसरा वाक्य पढता हू—**'इन अनगिनत सस्मरणों को लेकर इनका बोझ ढोना भर बाकी रह गया है'** तो लगता है कि मन मे कुछ जगाया ही नही—वरन् झकझोर भी दिया गया।

लेखक	प० माखनलाल चतुर्वेदी
प्रकाशक	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
मूल्य	तीन रुपए

ऐसा प्रभाव मुझ पर ही नही हुआ, मैं समझता हू उन सभी पर होगा जो उनकी आत्मीयता के भाजन रहे है, और 'एक भारतीय आत्मा' की आत्मीयता सीमित कभी नही रही यह मैं अनुभव से जानता हू। यह सग्रह, मेरा विश्वास है, सभी को सस्मरणो मे समाविष्ट महापुरुषो के अतिरिक्त एक और महापुरुष के निकट लाएगा जो कोई और नही स्वय इसका लेखक है। पृ० ११३ पर ही पूर्वोद्धृत वाक्य के ठीक आगे 'इतने प्यारे' सस्मरणो को 'कालमो की सीमा' मे बाधने की बात सामने आती है जिससे ज्ञात होता है कि 'कर्मवीर' का सम्पादक अपने पत्र की सीमा मे सोच रहा है। यद्यपि इसका स्पष्ट निर्देश भूमिका मे नही किया गया है तथापि यह निष्कर्ष सरलता से निकल आता है कि इस सग्रह की बहुत-सी सामग्री ऐसी है, जो सम्पादकीय रूप मे 'कर्मवीर' के कालमो की शोभावृद्धि कर चुकी है। सुमित्रानन्दन पन्त और रामचन्द्र शुक्ल विषयक लेख तो टिप्पणियो के अश भर है जो एक पृष्ठ से भी कम के है। उनकी प्रकृति भी सामान्य ही है। 'हिमकिरीटिनी' भारतमाता के मुकुट रूप मे हिमालय लेखक की राष्ट्रीयचेतना के उन्नत और उदात्त रूप का प्रेरक आधार रहा है अत यह स्वाभाविक ही है कि वह अपने मान्य राष्ट्रनायको के इस सस्मरण-सग्रह को चीनी-आक्रमण से आक्रान्त हिमशिखरो पर समस्त देश का ध्यान आकर्षित करते हुए कल्पना के धनुष पर बाण की तरह रख कर लक्ष्य-वेध का उपक्रम करे। उसकी इस चेष्टा से एक बूढी काया के भीतर अबाध गति से तरगायित अदम्य तारुण्य की झलक मिलती है। इतना ही नही, इस क्रम मे जब वह लोकमान्य तिलक, राष्ट्रपिता बापू, सुभाषचन्द्र बोस और 'झासी की रानी' की गायिका सुभद्राकुमारी चौहान का नामोल्लेख करता है तो प्रकारान्तर से ही सही पाठक इन व्यक्तित्वो के प्रति लेखक की विशेष निष्ठा और आत्मीयता के गम्भीर सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। प्रस्तुत पुस्तक का पृष्ठ-पृष्ठ इसी का साक्षी है।

पहला सस्मरण है 'तुम्हारी स्मृति', जो लिखा गया है तिलक की स्मृति मे पर लेखक ने शीर्षक मे 'तिलक' शब्द का प्रयोग न करके आत्मीयतासूचक 'तुम्हारी' पद का व्यवहार किया है। 'प० मोतीलाल नेहरू' तथा 'श्रीयुत् रामचन्द्र शुक्ल' जैसे निर्वैयक्तिकता-परक शीर्षको से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि तिलक का व्यक्तित्व चतुर्वेदी जी की ममता और श्रद्धा का सबसे अधिक भागी है। उन्होने तिलक को 'परममुक्ति, पूर्ण स्वाधीनता का उपासक', 'उमगो और क्रियाओ का युवा तपस्वी' कह कर उनके 'भारतीय स्वतन्त्रता की नीव रखने वाले चरणो मे शत शत वन्दन 'अर्पित किए है। जो 'वाणेदार-पणा' (तेजस्विता) लोकमान्य तिलक राष्ट्रभाषा मे आवश्यक मानते थे उसी की प्रतिष्ठा का प्रयत्न माखनलाल जी ने अपनी जीवनव्यापी साहित्य-साधना मे किया है। तिलक की क्रातिकारी वृत्ति के साथ महात्मा गाधी की अहिसा की सगति बैठाना बहुतो के लिए कष्टकर होता है, परन्तु चतुर्वेदी जी ने अपने जीवन के समस्त अनुभव की शक्ति से लिखा है कि 'लोकमान्य और महात्मा जी मे जो लोग विरोध देखते रहे है उन्होने न लोकमान्य को पहचाना न भारतवर्ष को।' उनकी ऐसी अनुभूत उद्घोषणाए इस कृति मे

जगह-जगह उपलब्ध होती है जो भारतीयता की परख के लिए एक सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है, अत मूल्यवान और स्मरणीय है। आत्म अनुभव ही नही आत्मकथा की स्फुट छाया भी प्राय सभी प्रमुख सस्मरणो मे विद्यमान है।

भारतीय जनता मे विद्रोह न करने की वृत्ति को वे गुलामी का अभिशाप मानते है। सुभाष के विषय मे लिखते समय वे अपने [illegible] जीवन की स्मृति से विभोर होकर फिर उसी आत्मीयता की भाषा अपना लेते है जिसका सकेत तिलक के प्रसग मे किया जा चुका है—

'रहस्य सोचा अरविन्द ने, रहस्य काव्य बनाकर लिखा रवीन्द्र ने और रहस्य अवतरित हुआ तुम्हारे रूप में।' (पृ० ४८)

लेख का अन्त 'तुम', 'तुम्हारी' और 'तुम्हारे' की भावाकुल शब्द-शृखला के साथ होता है। विद्रोह की शक्ति रखने वाली सकल्पशील कर्मठ तरुणाई पर रीझ-रीझ उठना माखनलाल जी की विवशता है। फिर वही द्वन्द्व लेखक के सामने आता है। गाधी जी की सयमशील मर्यादित अहिंसा और उससे लोहा लेने वाली सुभाष की क्रातिमयी शक्ति-उपासना—किसका पक्ष ले वह। ऐसे मार्मिक स्थल पर उसका लेखन, नही लेखन के माध्यम से घटित हुआ मनोमन्थन द्रष्टव्य है—

".....न जाने कौन-कौन गांधी विरोधी तुम्हें स्वय नष्ट करने पड़े, और गाधी के आशीर्वादों से भरी हरिपुरा काग्रेस के सभापतित्व की गाडी—वह राष्ट्रपतित्व तुमने, स्वय गाधी और वल्लभभाई और गाधीवादियो के हाथो ग्रहण किया। इसमें भी कौन हारा, तुम या गांधी ?"

स्पष्ट है कि वे गाधीजी की विजय को गौरवान्वित नही करना चाहते हैं। उनके सत्याग्रह के प्रति बौद्धिक रूप से आस्थावान् होते हुए भी चतुर्वेदी जी का क्रातिचेता कविहृदय तिलक और सुभाष जैसे व्यक्तित्वो के साथ ही बिलम जाता है। गाधीजी को 'महात्मा' मानते हुए भी वे सुभाष को निस्सकोच भाव से 'महामानव' की उपाधि से विभूषित कर देते है।

इस सग्रह मे जो कुछ उन्होने गाधी और विनोबा के विषय मे लिखा है वह माखनलालजी के व्यक्तित्व के दूसरे पक्ष को प्रस्तुत करता है। इनकी सत्य-निष्ठा, त्याग-वृत्ति, सकल्प-दृढता और सब से अधिक कर्मकौशल उनके लिए वरेण्य रहा है। गाधी जी को 'महात्मा' के पूर्व एक और उपाधि भारतीय लोकचेतना ने दी थी और वह थी—'कर्मवीर'। इसमे निहित वीरता की धारणा वीर रस के अन्तर्गत आने वाले चारो प्रकारो

से भिन्न कोटि की थी और तिलक के 'गीतारहस्य' के कर्मयोग से अभिन्न होने के कारण चतुर्वेदीजी को सबसे अधिक आकर्षक प्रतीत हुई। अत यह आकस्मिक नही है कि जिस पत्र के वह सम्पादक बने वह 'कर्मवीर' ही निकला। यह सगति उनके स्वभाव, दृष्टिकोण और व्यवहार-जगत् की अन्तरग एकता की सूचक है। गाधी और विनोबा के व्यक्तित्व मे निहित वैष्णवता और सन्त-सुलभ चारित्रिक बल ने उन्हे और भी अभिभूत किया जो इनके विषय मे लिखी गयी उनकी अर्थबहुल पक्तियो से प्रमाणित होता है। निकट सम्पर्क मे आकर व्यक्तियो की महानता का बोध दैनन्दिन आचरण की सूक्ष्म और साहसपूर्ण भगिमाओ से किस प्रकार होता है, इसका आत्मचरितमूलक प्रचुर आख्यान इनसे सम्बद्ध लेखो मे मिलता है।

'महात्मा गाधी को सब से पहले मैंने लखनऊ काग्रेस मे देखा था' जैसे वाक्य से सीधे-सीधे सस्मरण का समारम्भ होता है। बीच-बीच मे भी यही विधि अपनायी गयी है—'एक बार मैं बापू के साथ वर्धा से बम्बई की यात्रा कर रहा था।' आदि। छोटे-छोटे प्रसग समय के अन्तराल से छन कर स्मृति के सहारे सचित किए गए है जिनके पीछे लेखक का निजी व्यक्तित्व पर्याप्त मुखरता के साथ प्रत्यक्ष होता चलता है। उनके विषय मे लिखी गयी जीवनी को इन लेखो के सन्दर्भ मे सशोधित-परिवर्धित करना पडेगा, ऐसा मुझे लगता है। गाधीजी ने किस-किस प्रकार से उन्हें तथा उनकी उपस्थिति मे गणेशशकर विद्यार्थी—जैसे विद्रोह-प्राण कार्यकर्त्ताओ को अभिभूत किया इसकी सजीव स्मृतिया यथेष्ट रोचकता के साथ लिखी गयी हैं। 'बापू को कौन रोक सकता है? वह तो नर्मदा की धार है।' एक ग्रामीण का यह अभिमत नर्मदा के प्रति राग-बद्ध उनके ही हृदय मे सुरक्षित रह सकता था। लेखक को सबसे अधिक आकर्षण गाधी जी के प्रति कदाचित् इसलिए हुआ कि उन्होने मुक्तकठ से लोकमान्य की आवाज को समय मे न डूब जाने की उद्घोषणा की थी जिसे उसने लेख के आरम्भ मे ही प्रस्तुत कर दिया है। यह शृखला टूटी नही। तिलक की वाणी से प्रदीप्त महात्माजी और 'गाधी-विचार रश्मियो से आलोकित आचार्य विनोबा' यह क्रम लेखक की दृष्टि से ओझल हो जाता तो सम्भवत उसकी निजी वाणी का तेज भी मन्द पड जाता। किन्तु वास्तविकता यह है कि उसके भीतर भी वही ज्योतिशिखा प्रज्वलित दिखायी देती है।

यहा मैं चाहूगा कि माखनलाल जी की महापुरुषवादी जीवन-दृष्टि की सीमा की ओर भी सकेत कर दू। विनोबा जी के सस्मरण मे ही यह प्रश्न उन्होने उठाया है कि 'समूह की अपेक्षा व्यक्ति को, युग पुरुष को, क्यो न शक्ति एव सामर्थ्य का स्रोत माना जाए?' 'वह शक्तिस्रोत जमाने का बागी होता है, अपना जमाना स्वय निर्माण करता है' जैसी धारणाए व्यक्त करते हुए जब वे रूपक को और आगे ले चलते है, तो यहा तक कह डालते है—

'विश्व को एक प्रवाह कहा जाता है। प्रवाह तो निम्नगामी ठहरा। युग-पुरुष इस चिरन्तन प्रवाह को जडत्व के पतन पथ से खीच कर चिन्मय केन्द्र की ओर मोड देता है।' (पृ० ६१)

इस विचार-पद्धति मे विश्व को सहज रूप से अधोगामी मान लिया गया है जब कि अरविन्द जैसे भारतीय मनीषी ही यह प्रतिपादित कर चुके है कि सम्पूर्ण विश्व-चेतना उच्चतर आध्यात्मिक सन्तुलन की ओर अग्रसर हो रही है। भारतीय अवतारवादी दृष्टि भी धर्म मे समय-समय पर होने वाली ग्लानि की ही कल्पना करती है, आत्यन्तिक रूप से विश्व की स्वाभाविक गति पतन या अधर्म की ओर है, ऐसी मान्यता उसको कदापि इष्ट नही है। 'जमाना लाचार होकर उसके यानी महापुरुष के पीछे चलने को बाध्य होता है।' चतुर्वेदीजी सम्भवत स्वय अपने इस अभिमत को प्रेमचन्द से कला-सम्बन्धी निजी मतभेद की बात कहते हुए विस्मृत कर देते है। वहा वे प्रेमचन्द के इस विचार का खण्डन करते है कि व्यक्ति का जीवन समाज का प्रतिनिधि है। तर्क किया जा सकता है कि यदि सामान्य व्यक्ति का जीवन समाज का स्वरूप व्यक्त नही कर सकता तो महापुरुष भी तो अन्तत व्यक्ति ही है। सारे समाज की चेतना का प्रतिनिधित्व उसके द्वारा भी कैसे सम्भव स्वीकार किया जा सकता है। वास्तव मे महापुरुषवाद एक जगह जाकर समाज-वाद के ठीक विरोध मे आ जाता है और इतिहास की आधुनिक व्याख्याए भी उसके विपरीत ही हैं। महापुरुष समाज का निर्माता है इससे कम महत्त्व इस बात का नही है कि समाज ही ऐसे व्यक्तियो के उद्भव का कारण होता है। मैं मानता ह कि व्यक्ति का निषेध करके समाज की कल्पना नही की जा सकती, किन्तु घटनाओ और व्यक्तियो की महत्ता भी समाज-निरपेक्ष दृष्टि से प्रतिपादित नही की जा सकती। चतुर्वेदी जी ने शायद भावात्मक अतिरजना मे ऐसा कहा हो। यह सोचा जा सकता है, पर मुझे ऐसा लगता नही है। महापुरुषवादी विचारधारा उनकी आस्था और जीवन-दृष्टि का अनिवार्य अग है। उनके व्यक्तित्व से उसे अलग नही किया जा सकता। यो उनमे वह अन्तर्दृष्टि है जो किसी वस्तु के प्रेरक चैतन्य रूप को सूक्ष्मता से ग्रहण करने के लिए उत्सुक रहती है तथा ऊपर से विरोधपूर्ण लगने वाली वस्तु की आन्तरिक सगति से परिचालित होती है। इसका एक उदाहरण इस बात से मिल जाता है कि मैथिलीशरण वाले लेख मे वे सुधार-वाद का पक्ष लेते है, किन्तु प्रसाद वाले लेख मे उसके विरुद्ध छायावाद के उत्कर्ष की सराहना करने मे भी सकोच नही करते। यहा उनको समय के पावो की प्रगमनशीलता ही कदाचित् लक्षित होती है। महात्मा गाधी से गम्भीर रूप से प्रभावित होते हुए भी हिन्दी के विषय मे मतभेद के स्थलो पर टडन जी को उनका समर्थन बराबर प्राप्त होता रहा। उनकी स्पष्ट उद्घोषणा थी कि 'जो हिन्दी इस देश के प्रत्येक भाषा-भाषी और निवासी का गौरव और तर्क नही बन सकती वह दरिद्री हिन्दी पुरुषोत्तमदास टण्डन की हिन्दी नही है।' यह उक्ति आज के हिन्दी-विरोधी प्राणघाती आन्दोलन की आख

खोलने का ही कार्य नही करेगी वरन् हिन्दी-प्रेमियो के भीतर छिपी हुई सकीर्णता का परदा भी उधार देगी। देशव्यापी असकीर्ण राष्ट्रीय भावना से हिन्दी का पक्ष लेने मे वे टण्डन जी के दक्षिणबाहु रहे है।

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के प्रति लिखा हुआ उनका सस्मरण आत्मीयता और स्नेह भाव के जिस भीतरी स्तर की अभिव्यक्ति करता है वह अन्यतम है। उसमे अपने से छोटे के प्रति भी आदर का वह भाव आ सका है जो अत्यन्त निकटता और परिचय की सघनता से ही सम्भव है। शीलवश स्वय लेखक ने तो नही कहा पर मैं कह सकता हू कि एक तेजस्वी कवयित्री के रूप मे सुभद्राजी की सजीव मूर्ति के निर्माण का प्रमुख श्रेय माखनलाल चतुर्वेदी जी को ही है। उन्होने लिखा है 'कलम, इस क्रातिबाला के हाथो पडी' परन्तु वह 'तृणशलाका' उन्ही की दी हुई थी इसमे सन्देह नही। यह अर्थपूर्ण है कि नर्मदा के प्रति सहज ससक्ति रखने वाला कवि जब 'झासी की रानी' की लेखिका के अभाव का रूपक की भाषा मे स्मरण करे तो उसे लगे **"मानो नर्मदा की धारा को कोई महाकौशल के अचलो में से चुराकर ले गया हो और इस निर्मल धारा के बिना तट के पुण्यतीर्थों के सारे घाट मानो अपना अर्थ और उपयोग खो बैठे हो।"** मर्म को इससे अधिक छूना उचित नही होगा।

'साहित्य देवता' के मान्य शैलीकार, साहित्य-चिंतक और कल्पनाशील भावुक कवि के दर्शन इस कृति मे सर्वत्र होते है और इसलिए भी यह सग्रहणीय है। कठोर यथार्थ की भूमि मे प्रवेश कर चुकने के कारण आज का युग इतनी भावुकता से अलग हट आया है, परन्तु उसका उचित सम्मान करने की बुद्धि उसमे है। गुप्त जी के शब्दो मे कहना होगा—"कर सकना उसका मूल्य कौन है चुकता ?" व्यग्य की भाषा भी लेखक द्वारा कही कही अपनायी गयी है। पडित रविशकर शुक्ल के सस्मरण मे, शुरू होते ही जनसामान्य को स्वभाव के अनुसार सात वर्गो मे बाट कर धारा-प्रवाह रूप मे जिस प्रकार अनुभव-सम्पन्नता के साथ प्रस्तुत किया गया है, वह असाधारण प्रतिभा का परिचायक है। कोई चाहे तो वर्गविभाजन की शास्त्रीय परीक्षा कर के ननुनच कर सकता है, पर जिस विचार-समृद्धि का और स्वानुभव को व्यक्त करने की जिस बौद्धिक विधि का प्रयोग किया गया है वह अपने मे ही एक उपलब्धि लगती है। सूक्ष्म अर्थगर्भित सूत्रवाक्यो का सृजन उनके गद्य को अतिरिक्त महिमा प्रदान करता है। चाहता था कि कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत भी करू पर विस्तार यो ही हो गया, अत पृष्ठ-सख्या मात्र दिये दे रहा हू (४७, ४८, ६६, ८८, ८९, ९८, १०१, १०२, ११८, १२०, १२२ आदि)। कुछ काव्यात्मक कथनो की ओर निर्देश करने का लोभ फिर भी सवरण नही कर सकूगा क्योकि उनमे सूत्रवाक्यो से भी उत्कृष्टतर रचनाशक्ति परिलक्षित होती है। यथा—

(१) मानो लालटेनो के रूप मे वृक्षो मे प्रकाश के फल फले हो। —पृ० ३९

(२) अहिंसा की लहर हिंसा की कालिख पोछने मे व्यस्त थी।—पृ० १२०

(३) वे (गुरुदेव) मखमल जैसे कोमल शब्द बोल रहे थे। —पृ० १२३

(४) उनका (राजर्षि का) इमली के बीजो जैसा नपातुला मत देखने तथा सुनने को मिला। —पृ० १४१

(५) ·· सस्मरण-मन्दिर का स्वर्णकलश खो दिया।

ये वाक्य कल्पनागत मौलिकता से सम्पन्न बिम्बात्मक एव सृजनशील भाषा-प्रकृति और कवि के परिष्कृत रूपबोध को व्यक्त करते है। निश्चय ही उपर्युक्त गुण इस कृति को विशिष्टता प्रदान करते हैं।

आँगन का पंछी और बनजारा मन

श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी

प्रत्येक युग के अपने कुछ माध्यम-विशेष होते है जिनमे उस युग की सर्जनात्मक प्रतिभा मौलिक रूप मे अभिव्यक्ति पाती है। साहित्य मे कभी महाकाव्यो खडकाव्यो का प्रभुत्व रहा तो कभी लम्बी आख्यायिका का, कभी पदो का और कभी गीतो का। आधुनिग युग मे अकाल्पनिक गद्य-रचनाओ का एक नया माध्यम विकसित हुआ है, जो कविता, नाटक या उपन्यास जैसा केन्द्रीय तो नही है, पर जो कल्पना का कम-से-कम उपयोग कर के मात्र भाषा की सर्जनात्मकता के सहारे बहुविध जटिल जीवन के सामान्य से सामान्य पक्षो तक को व्यक्त कर पाता है। पर इस कोटि मे निबन्ध—या ललित निबन्ध—की गणना नही की जा सकती। ऐसा लगता है कि निवन्ध का माध्यम अपने मे चुक कर रेखाचित्र, सस्मरण, डायरी, रिपोर्ताज, यात्रा, सस्मरण आदि नए अकाल्पनिक गद्य वृत्तो मे रूपातरित हो गया है। आधुनिक जीवन के यथार्थ, और उसकी जटिल परिस्थितियो को ग्रहण और अकित करने मे जहा निबन्ध का सहज-सरल माध्यम असमर्थ होता जाता है वहा ये नए और अपेक्षया हल्के गद्य-माध्यम सामान्यत अमहत्त्वपूर्ण लगने वाली स्थितियो की सगति पहिचान कर उस यथार्थ को सीधे, और अधिक व्यापक रूप मे पकडने का यत्न करते है।

आधुनिक सवेदना को वहन करने मे निबन्ध की अनुपयुक्तता के पीछे कई कारण देखे जा सकते है। पहली बात तो यह है कि निबन्ध का माध्यम उदारतावादी विचारधारा के अन्तर्गत, और विशेषत साहित्य के रोमाटिक युग मे उन्मुक्त भाव से विकसित होता है। आधुनिक कविताओ मे एक हद तक रचनाकार की स्वचेतनता के कारण निबन्ध और प्रगीत के माध्यम चुक से गए है, क्योकि अब स्वच्छन्द भाव-साहचर्य की स्थिति बहुत सम्भव नही रही, जो निबन्ध-कला का तो आधारभूत तत्त्व है। निबन्ध और प्रगीत की सहज-सरल शैली आधुनिक भाव-बोध को पकडने मे उतनी ही अक्षम है, जितना कि महाकाव्य का रूप उसके लिए बेडौल हो गया है। फिर इन

लेखक	विद्यानिवास मिश्र
प्रकाशक	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
मूल्य	३ रुपए

माध्यमो मे भावना का घनीभूत रूप प्रधान रहता है, जबकि आधुनिक रचना-वृत्ति मे रोमाटिक भावावेग को कला-कृति का गुण नही माना जाता।

अपने माध्यम की इन सीमाओ को स्वीकार कर के अभिव्यक्ति की समस्या से जूझने का उपक्रम रचनाकार को यदि एक ओर प्रतिष्ठा प्रदान करता है तो दूसरी ओर उसे कुछ विवश और असहाय भी बना देता है। नए सवेदनशील लेखको मे सम्भवत विद्यानिवास मिश्र का अकेला नाम है जिन्होने निबन्ध को अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति के एक, और एकमात्र माध्यम के रूप मे चुना है। आलोच्य कृति के पूर्व उनके तीन निबन्ध-सकलन प्रकाशित हो चुके है—"छितवन की छाह" (१९५३), "कदम की फूली डाल" (१९५५), "तुम चन्दन हम पानी" (१९५७)। इससे स्पष्ट है कि निबन्ध के माध्यम को विद्यानिवास ने पूरी गम्भीरता और निष्ठा के साथ स्वीकार किया है, और इस माध्यम मे वे बराबर अपने को व्यक्त करते आ रहे है। कुल मिला कर अपने इन निबन्धो मे लेखक ने देश के सामान्य जन-जीवन के विविध सास्कृतिक पक्षो को बडी तन्मयता और निष्ठा के साथ अकित किया है। पर यही यह भी स्वीकार करना होगा कि इन निबन्धो मे लालित्य अधिक है, विचार-सामग्री अपेक्षाकृत कम है। निबन्ध-कला के इन दो उपकरणो का जैसा विलक्षण सामजस्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत किया था, वह आदर्श लेखक के सम्मुख रहा है, पर उस आदर्श तक वह सदैव पहुचा नही है।

"आगन का पछी और बनजारा मन" दो खडो मे विभक्त है। पहले खड मे निबन्ध है, दूसरे मे बालमुकुन्द गुप्त (शिवशम्भु) और विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक (विजयानन्द दुबे) की पत्र शैली को अपेक्षया प्रभावपूर्ण ढग से पुनरुज्जीवित करने वाले कुछ पत्र है, भ्रमरानन्द की ओर से लिखे हुए। निबन्धो की प्रेरणा अधिकतर वर्तमान जीवन मे है। पर जहा रोमाटिक भावावेग से अलग, मुख्यत वर्तमान की चिंतना है, वहा रचना अधिक सक्षम बन पडी है, उदाहरण के लिए नाम लिए जा सकते है—"आगन का पछी", "ये विपथगाए" या एक ढग से "नया दौर"। यथार्थ विवेचन की दृष्टि से "सस्कृति की पाषाणी" काफी सधे हाथो की कृति है, विशेष रूप से इसलिए और कि इस निबन्ध मे रोमाटिक हो जाने की गुजाइश सहज थी, पर लेखक इस लोभ का सवरण कर सका। वैसे यह उल्लेखनीय है कि लेखक नए युग की गतिविधि से पूरी तरह परिचित है, और आरम्भ की "अपनी सफाई" मे कहता भी है, "भावुकता के लि बदनाम रहा हू, अब बौद्धिक होने की कोशिश कर रहा हू"। इन पक्तियो मे यदि कुछ व्यग हो तो भी इनमे लेखक के मन का तनाव तो झलकता ही है। इस भावात्मक तनाव की अपेक्षया कुछ अधिक चर्चा लेखक ने "इकाई बनाम दहाई" शीर्षक पत्र मे की है। यहा समसामयिक जीवन और आधुनिक भाव-बोध के सन्दर्भ मे निबन्धो के कलाकार ने अपने माध्यम को रख कर उसकी परीक्षा करनी चाही है। निष्कर्ष मे लेखक के

मन का वही असुखद तनाव है, "इस मालाभग्गिणी (कुब्जा) के थोडे-से फूल और हाथ की छाप भर चन्दन ने मुझसे मेरा गोकुल छीन लिया, मेरा वृन्दावन छीन लिया और मेरा वशीवट छीन लिया।" वर्तमान के यथार्थ की अपेक्षा अतीत का सम्मोहन ही मानो फिर अपनी ओर खीचता है। और यही रोमाटिसिज्म मे बधे निबन्ध के माध्यम की सीमा दिखाई देती है।

भारतीय सस्कृति के विभिन्न पक्षो की विवेचना विद्यानिवास के अधिसख्य निबन्धो मे मिलती है। इस सहानुभूतिपूर्ण, पर अपेक्षया तटस्थ और तात्त्विक विवेचन की प्राय दो दिशाए है—गौरवपूर्ण अतीत मे ससक्ति और उसके गत हो जाने का विषाद, और दूसरे, वर्तमान मे आने पर, समकालीन लोक-जीवन मे अनुरक्ति। पर विवेचन की शैली अधिकतर गहगही होने के कारण तर्क को उतना जाग्रत नही करती जितना हृदय को अपील करती है। हा, लेखक की लोक-जीवन-सम्बन्धी दृष्टि फैशन या नारेबाजी के स्तर से अलग सात्विक और निष्ठापरक है। और यह पाठक के लिए अवश्य ही प्रीतिकर तथा आश्वासनमय है, क्योकि लोक-जीवन के नाम पर अब वह अपने को अधिक वचित नही होने देना चाहता।

लेखक ने अपनी भूमिका मे इन निबन्धो को "असत्य के प्रतिरोध के प्रयत्न"—रूप मे प्रस्तावित किया है—आज के युग मे इस सकल्प का महत्त्व स्वयसिद्ध है। पर यह स्मरणीय है कि प्रतिरोध का महत्त्व अपने आप मे है अवश्य, पर उससे कही अधिक प्रतिरोध की शैली महत्त्वपूर्ण है। केवल भावावेगमय प्रतिरोध, इतिहास बताता है, प्राय अपने ही उद्देश्य को नुकसान भी पहुचाता है। विशेष रूप से प्रजातत्र की वर्तमान जीवन-पद्धति मे प्रतिरोध को अधिक तर्कयुक्त, ठडा और सकल्पपूर्ण होना पडेगा। इस दृष्टि से "नया दौर" या "प्रभुत्व-ज्वर अस्पताल" की तुलना मे "ये विपथगाए" अथवा "आगन का पछी" का प्रतिरोध-स्वर बेहतर है। पर प्रतिरोध की शैली को अधिक प्रभावपूर्ण होने के लिए अभी और यथार्थपरक होना है।

———

शिखरों का सेतु

श्री विष्णुकान्त शास्त्री

'शिखरो का सेतु' श्री शिवप्रसाद सिह के बाईस ललित निबन्धो का सग्रह है। नाम साभिप्राय एव आकर्षक है। प्रस्तुत सकलन के निबन्धो के विषय हे या तो सास्कृतिक, साहित्यिक क्षेत्रो मे अत्युच्च उपलब्धि करने वाले व्यक्ति जैसे शकर, कृष्ण, राधा, निराला, चेखव आदि, या मानव जीवन को उदात्तता प्रदान करने वाली साधनाए, विचारधाराए या भावनाए जैसे मातृशक्ति की उपासना, रस-साधना, भूदान, भाई-बहन का प्रेम आदि या सस्कृति को गति और मोड देने वाले स्थान जैसे श्मशान, काशी, जयपुर आदि। ये सभी अपने-अपने क्षेत्र मे निश्चय ही महिम्न है, शिखर-तुल्य है। इन्ही शिखरो के एकत्र सकलन मे बना यह सेतु एक ओर तो अतीत को वर्तमान से जोडता है, दूसरी ओर लेखक को पाठको से। अपने ढग स तो पाठक इन्हे देखते ही आ रहे होगे, इस बार लेखक उन्हे अपने साथ इस यात्रा पर ले चल रहा है, क्योकि उसने अपनी विशेष दृष्टि से (जिसे विनयवश उसने भूमिका मे सीमित शक्ति से कहा है) इन्हे देखा और अकित किया है। उसकी दृष्टि का परिचय उसकी सृष्टि मे तो मिलता ही है, आशा बन्ध और निर्बन्ध चिन्तन के लेख उसे और स्पष्ट करने मे सहायक है।

श्री शिवप्रसाद सिह उन थोडे से आधुनिक लेखको मे स है जो 'विज्ञान को मानवता का प्रकाश-स्तम्भ' मानते हुए भी उसके अन्धविश्वासो और रूढियो को अस्वीकार कर अध्यात्म के प्रति आस्थावान् हे। अवश्य ही उनके लिए "अध्यात्म सिर्फ ईश्वर या परलोक का ही विषय नहीं है। इसका मूल अथ हे मनुष्य के भीतर छिपी असख्य प्रकार की भौतिक, रासायनिक, ईथरिक और अज्ञात तत्त्व बोधक शक्तियो का ज्ञान।" अपनी रचनाओ मे 'गरीबो की तरफदारी', 'जमीदारो की निन्दा', 'रूढियो का विरोध' करते हुए भी वे किसी एक खास वाद या पार्टी के समर्थक नही है न 'मनुष्यता को टुकडो मे बाट कर देखने के आदी'। उनका कहना है "मै सिर्फ उस पार्टी का सदस्य हू जिसके सामने मनुष्य से बडी कोई इकाई नही है, मनुष्यता से बडा कोई मजहब नही है।"

लेखक	शिवप्रसाद सिह
प्रकाशक	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
मूल्य	३ रु० ५० पै०

समष्टि के प्रति श्रद्धावान् होते हुए भी वे 'अकेलेपन के दर्द को शक्ति की उद्‌बोधक वस्तु' मानते है, यदि वह दर्द स्वाभाविक हो, जीवन के बीच से उभरा हो। जिस प्रकार आधुनिक होते हुए भी वे परम्पराद्रोही नही ह उसी प्रकार अतीत से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी वे अतीतजीवी नही है। फलत 'अतीत के अन्तर्देश मे' उन्होने अन्धविश्वासो, टोने-टोटको, रूढियो-रस्मो को नही, मानवता के स्पन्दनशील जीवित ज्वलन्त पद-चिह्नो को अकित करने का प्रयत्न किया है। जो आधुनिक बनने के मोह मे 'अध्यात्म ईश्वर परलोक आदि शब्दो से डरने लगे है', पराशक्ति, राम, कृष्ण आदि का नाम जिन्हे पुरातनतावाद का पर्याय प्रतीत होने लगा है उनके मोहग्रस्त विवेक को झकझोरते हुए विद्वान् लेखक की निर्भीक घोषणा है, "आधुनिकता कुछ चुने हुए पदार्थो का नाम गिना देने भर से नही आती, आधुनिकता निरन्तर विकसमान मानवता के प्रत्येक पदक्षेप को सही-सही समझाने का दृष्टिकोण है, जो इसे नही समझता वह सामयिक रूप मे आधुनिकता के खड सत्यो अथवा सत्याभासो से प्रभावित होकर आधुनिक बनने का पाखण्ड करता है।" अपनी इन्ही मान्यताओ के कारण लेखक ने अपने अन्तर्मन मे श्रद्धा के पीठ पर उन्ही कलाकारो की मूर्तियो को प्रतिष्ठित किया है जिनके निर्माण मे "आधुनिकता, प्राचीनता, प्रयोग और परम्परा व्यक्ति और समाज तथा दर्द और आस्था का अद्‌भुत समन्वय है।" आलोच्य पुस्तक मे सकलित निबन्ध इसके प्रमाण है कि इसी उदार सवेदनशील समन्वयात्मक दृष्टि को अपनाने के लिए श्री शिवप्रसाद सिह साधनारत है।

ये रचनाए ललित निबन्ध होते हुए भी शैली की दृष्टि से निर्बन्ध है। किसी बनी-बनायी शैली मे विचारधारा को ढालने के स्थान पर विचारधारा के अनुरूप शैली चुनने या बनाने की चेष्टा इस निर्बन्धता के मूल मे है। कथा, पत्र, डायरी, सस्मरण, विवेचन, व्याख्या आदि विविध विधाओ का उपयोग किया गया है। इन्हे और भी रमणीय एव प्रभविष्णु बनाने के लिए आन्तरिक एकालाप, चेतनाप्रवाह, स्मृति-पुनरावर्त्तन, अन्तर्बन्धता जैसे कौशलो का प्रयोग किया गया है। यह सब सहज रूप मे विषय की उद्‌भावना के साथ-साथ अनायास उभरा होगा ऐसा नही लगता। इनके पीछे प्रयास का, योजना का, चमत्कृत एव प्रभावित कर देने की स्पृहा का आभास मिलता है। उनका सचेत कलाकार अपनी भावनाओ को अनूठी शिल्पविधि से मण्डित करना चाहता है, किन्तु सर्वत्र भावना और योजना का समन्वय सहज स्वाभाविक रूप नही धारण कर सका है। कही कही योजना उभर आयी है जैसे 'टेराकोटा का साक्ष्य' की आरम्भिक टिप्पणी मे। बाणभट्ट की आत्मकथा, सिह सेनापति आदि मे प्रयुक्त ऐतिहासिकता का भ्रम उत्पन्न करने वाले कौशल के अनुरूप 'टेराकोटा' की उपलब्धि और उसके साक्ष्य से राधा की वेदना बिन्दुमात्र अधिक मर्मस्पर्शी हुई है, ऐसा तो नही प्रतीत होता। इसी तरह 'महाकाल के अल्बम मे काशी' मे काशी के

सास्कृतिक विकास-क्रम के चित्रण को अन्तिम वाक्य "आख खुली तो देखा, अलार्म घडी घनघना रही है' से समाप्त करना एक पुराने कौशल 'स्वप्न' का अकारण अनुकरण करना है, जिससे वह सास्कृतिक गरिमा क्षुण्ण हुई है। इसके शीर्षक मे 'अल्बम' शब्द भी नही सुहाता। आधुनिक युग के अक्षोभ्य भैरव की डायरी तो ठीक, किन्तु 'मण्डन मिश्र की डायरी' अटपटी बात है। उस कथागन्धी रचना को 'डायरी' कहने से कोई विशेष बात बनती है ऐसा तो नही लगता, हा मण्डन मिश्र के साथ डायरी शब्द सस्कार-शीलो के मन मे विकर्षण जरूर उत्पन्न करता है। किन्तु ये अपवाद स्वरूप है। अधिकाश रचनाओ मे शैली और कथ्य समप्रतिस्पर्धी के रूप मे उभरे है। श्मशान का मानवीकरण कर लेखक ने जिस प्रकार उसके उद्‌गारो द्वारा मानवीय दुर्बलता और शक्ति की ओर इगित किया है वह अत्यन्त प्रभावशाली है। 'दक्षिणेश्वर ने कहा' मे दक्षिणेश्वर के मन्दिर को अनादिकाल से चली आने वाली मातृशक्ति की उपासना के चैतन्य तत्त्व के रूप मे अकित करना मर्मज्ञता का द्योतक है। इसी प्रकार 'मै क्या हू' शीर्षक निबन्ध मे अपने सृष्ट पात्रो के मान भरे, रोष भरे, अभियोगो के उत्तर देते हुए अपनी मान्यताओ को स्पष्ट करना प्रशसनीय प्रयोग है। सास्कृतिक सन्दर्भगूढता और ऐतिहासिक अन्तर्बन्धता के कारण लेखक की बहुज्ञता और विद्वत्ता की छाप पाठक के मन मे सहज ही पडती है।

प्रस्तुत पुस्तक के निबन्ध चार विभागो मे सकलित है अतीत के तोरण, अबोले बोले, पुष्प के अभाव मे तथा निर्बन्ध चिन्तन। प्रथम दो विभागो की रचनाओ मे आन्तरिक साम्य अधिक है, वल्कि दोनो को एक ही विभाग मे रखा जा सकता था, क्योकि दोनो ही विभागो मे सकलित निबन्ध मूलत अतीत की परम्परागत चेतना के विकास-क्रम की आधुनिक व्याख्याए है। इनमे से कुछ रचनाए वर्त्तमान से आरम्भ होकर अतीत की परिक्रमा कर पुन वर्तमान मे लौट आती है। जैसे दक्षिणेश्वर ने कहा, देवी मेरी प्राणवल्लभा, तीन घेरे एक क्षितिज, महाकाल के अल्बम मे काशी, श्मशान, लाल इमारतो का नगर, मारूदेश की जादुई झील। कुछ अतीत घटनाओ को, विचारधाराओ को, आधुनिक दृष्टिभगी से प्रस्तुत करती है जैसे, मण्डन मिश्र की डायरी, तारा का पाप, जेहि मन पवन न सचरे, चार चारण [illegible]।

'दक्षिणेश्वर ने कहा' अत्यन्त शक्तिशाली रचना है। दक्षिणेश्वर के मन्दिर के समक्ष भावुक विद्वान् लेखक खडा है और चित्रपट की तरह उसकी आखो के सामने श्री रामकृष्ण विवेकानन्द की साधना, भगवती काली के रूप के प्रति देशी-विदेशी विद्वानो की जुगुप्सापूर्ण कटूक्तिया, मातृशक्ति के भयकारी एव उन्नयनकारी रूप के विकास की यात्रा, त्रिपुरसुन्दरी प्रकृति की असीम शक्तियो से अभिभूत आधुनिक वैज्ञानिक की नम्रता एक के बाद एक झलक जाती है। निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य का कर्त्तव्य ब्रह्माण्ड की सूत्रधारिणी सविद्रूपा महामाया के हाथ की पतग बन कर

उडते जाना है। हा उडने मे कोई कमी न रहे, कोई कसर न रहे। करतब मे कोई फर्क न आए। यह पलायन नही, चरम पुरुषार्थ है। देवी मेरी प्राणवल्लभा, टेराकोटा का साक्ष्य, जेहि मन पवन न सचरे मातृशक्ति की रसमयी साधना पर आधारित रचनाए है इनमे से पहली एक आधुनिक भैरव की डायरी के कुछ अशो पर आधारित है जिनमे महामाया के किशोरी रूप के प्रणयी की विरह वेदना के उद्‌गार है जो बहुत-कुछ गद्य-काव्य के निकट है। यह रचना अति भावुकता के कारण सामान्य पाठको को सभवत बोझिल प्रतीत होगी। 'टेराकोटा का साक्ष्य' वास्तव मे राधा की तरफ से श्रीमद्‌भागवत-कार कृष्ण द्वैपायन के नाम लिखा पत्र है, जिसमे एक ओर तो कृष्ण की रसमयी लीला के चित्रण के लिए उन्हे साधुवाद दिया गया है, दूसरी ओर राधा को विस्मृत कर देने के लिए उसके नाम के उल्लेख तक न करने के लिए मान-भरा उपालम्भ है। 'जेहि मन पवन न सचरै' मे विरति वैभव के द्वारा सिद्धो, तात्रिको की गुह्य साधना का समर्थन किया गया है जिसके साथ सहमत होना कठिन है।

राधा के पत्र मे क्षोभ मृदु है, अत वह उतना मर्मस्पर्शी नही हो पाया है जितना तारा का वशिष्ठ के नाम पत्र, जो 'तारा का पाप' शीर्षक से सकलित है। जो व्यवस्था पाप के कारण रूप परिवेश का समर्थन करती है, पाप के शक्तिशाली सहयोगी को तो मुक्त कर देती है ओर सारा दोष दुर्बल सहयोगी के माथे मढ देती है उसके न्याय को न्याय का परिहास न कहा जाए तो क्या कहा जाए। वृहस्पति और वशिष्ठ इन्द्र और देवताओ के विलासी आचरण के विरद्ध कुछ नही कहते, चन्द्रमा को दण्ड देने मे असमर्थ है। उनका सारा रोष उतरता है असहाय तारा पर, वह भी सत्य बोलने के लिए। तारा का यह पत्र कट्टरपथी विचारको के अन्त करण को मथ कर उन्हे सोचने के लिए विवश कर देगा, क्योकि नैतिकता की रक्षा का सारा दायित्व स्त्री-जाति पर ही थोपना कहा तक न्याय-सगत है।

'तीन घेरे एक क्षितिज' एक अन्य महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमे भाई-बहन के मर्यादापूर्ण प्रेम के प्रागैतिहासिक काल से आजतक के क्रमिक विकास की मर्मस्पर्शी गाथा कही गयी है।

'मण्डन मिश्र की डायरी' का मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि शकर ने कर्म का नही वस्तुत कर्म-काण्ड का खण्डन कर, उसकी सारी जर्जर, समाज-विरोधी, मिथ्या सीमा को छिन्न-भिन्न कर दिया था। इस रचना मे मण्डन मिश्र के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण बहुत कुशलतापूर्वक किया गया है।

'चार चरण' काम शक्ति के प्राग, मन, बुद्धि ओर प्रज्ञा के लीला क्षेत्रो के चार स्तर है जिन्हे श्री कृष्ण के क्रमश गोवर्धन धारण, रास, महाभारत एव द्वारिकानिवास। के साथ एक कर देखा गया है। आधुनिक मनोविज्ञान का आश्रय लेकर श्री कृष्ण चरित्र

की व्याख्या करने की चेष्टा मनोरजक तो अवश्य है, किन्तु पूर्ण समाधानकारक नही ।

'लाल इमारतो का नगर' और 'मारू देश की जादुई झील' क्रमश जयपुर और साभर के यात्रा-वर्णन है, किन्तु सामान्य यात्रा-वर्णनो से बहुत भिन्न । इनमे वर्त्तमान और अतीत एकाकार हो गए है । लेखक की दृष्टि वर्त्तमान से भी अधिक अतीत की ओर लगी है और इतिहास साधना एव साहित्य के पूर्व ज्ञान से इन स्थानो के प्रथम दर्शन की भावना से अधिक प्रत्यभिज्ञा की भावना उभरी है जो रूमानी वातावरण के निर्माण मे सहायक हुई है । बीच-बीच मे वर्त्तमान का पुट जैसे जयपुर की पान की दूकान पर काशी के ताम्बूल विलासी का अनुभव, साभर के साथ नमक हलाली करने की कामना वाले सरदारजी का चित्रण इन रचनाओ को रम्यतर बना देते है ।

'पुष्प के अभाव मे' निराला, चेखव, पास्तरनाक, अलबेयरकामू और हेमिग्वे की मृत्यु के अनन्तर शोकोद्‌गार के रूप मे लिखी रचनाए है, जिनमे इन कृती साहित्यकारो की कुछ विशेषताओ की चर्चा भी की गयी है । इनमे सबसे अधिक सजीव छवि उभरी है चेखव की और शायद सब से अधिक विवादास्पद बात कही गयी है निराला के बारे मे । 'निराला के जीवन का सबसे प्रबल भाव आत्मग्लानि का था' लेखक का यह मत हमे ही नही शायद बहुतो को मान्य न हो । यह सच है कि अपने कर्म की विडम्बना पर, अपनी निष्ठा, लगन, प्रयत्न की प्रतीयमान विफलता पर उनके मन मे आत्मग्लानि की भावना भी उभरती थी, किन्तु यही उनके जीवन का सबसे प्रबल भाव था यह कहना उनके आत्मविश्वास और आत्मोत्सर्ग के साथ अन्याय करना है । आत्मग्लानि पीडित व्यक्ति जीवन के अन्तिम समय मे भी 'दु ख भी सुख का बन्धु बना', 'भवन भुवन हो गया, दु ख ताप खो गया', 'हार तुमसे बनी है जय' जैसी पक्तिया नही लिख सकता ।

'निर्बन्ध चिन्तन' मे ये चार निबन्ध है 'भूदान और साहित्यकार', 'शकापुत्र बनाम अनास्था के बेटे,' 'मै और हम', तथा 'मै क्या हू' । पहले निबन्ध मे भूदान आन्दोलन की व्यावहारिकता का पूरा भरोसा नही रखते हुए भी इसलिए उसका समर्थन किया गया है कि वह हमारे मन मे ऐसे लोगो के विषय मे आस्था और श्रद्धा को जगा रहा है जिनके पीछे सरकारी तडक-भडक नही, साधन नही, केवल आत्मविश्वास और मनुष्य की शक्ति मे अदम्य निष्ठा जिनका सम्बल है । यह आशिक समर्थन पूर्ण आस्था का उद्रेक कैसे कर सकता है ? 'शकापुत्र बनाम अनास्था के बेटे' रोचक तथा विचारोत्तेजक लेख है । लेखक का यह प्रतिपादन ठीक है कि शका का अनास्था से अनिवार्य सम्बन्ध नही है, शका सत्य को पाने का एक पुष्ट साधन है । कामू निराशावादी और अनास्थावादी है कि नही, इस पर विवाद सम्भव है किन्तु यह निर्विवाद है कि जो सर्जक शका और उदासी से गुजर कर भी आत्मविश्वास और अपनी ईमान-

'मैं और हम' में साहित्यकारों में व्याप्त गुटबन्दी और दूसरे को गिराने की भावना पर करारा व्यंग्य है। 'मैं क्या हूं' में लेखक ने अपनी दृष्टि स्पष्ट करनी चाही है जिसका कुछ परिचय ऊपर दिया जा चुका है।

श्री शिवप्रसाद सिंह का भाषा पर प्रशंसनीय अधिकार है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावना और विचार को अधिकारपूर्वक व्यंजित करने में उनकी भाषा समर्थ है। भावोच्छ्वलता के प्रसंगों में यदि यह गद्य काव्य के निकट पहुंच जाती है तो विचार-विश्लेषण में उसके सहज निरलंकृत किन्तु स्पष्ट एवं तेजस्वी रूप का दर्शन होता है। 'जरा-सी और सावधानी से कितनी तेज भागती हो', 'अपने तरह का अकेली', 'चिदानन्दमुख' 'एक बेहूदी मजाक' जैसे प्रयोग बचाए जा सकते थे। सम्भवतः स्मृति पर अधिक निर्भर रहने के कारण कहीं-कहीं उद्धरणों में अशुद्धियां आ गयी हैं किन्तु उद्धरणों का उचित अवसरों पर प्रयोग करने में लेखक सिद्धहस्त है।

कुल मिलाकर इस रचना के लिए श्री शिवप्रसाद सिंह बधाई के पात्र हैं। इन निबन्धों में इतिहास और दर्शन, साधना और साहित्य के सन्दर्भ इस अधिकार और उपयुक्तता के साथ आए हैं कि अनायास ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों की याद आ जाती है। यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी की मानवतावादी दृष्टि की, सरस वैदुष्य की, वैचारिकता और भावुकता के संगम की परम्परा को ये रचनाएं आगे बढ़ाने वाली हैं।

———

चित्रकला का रसास्वादन

डॉ० राय आनन्द कृष्ण

हिन्दी मे सचमुच कला-पुस्तको का अभाव है। हिन्दी-विद्वानो की इस विषय मे उदासीनता ही इसका कारण हो सकती है। इस विषय पर कलम उठाने के लिए कला-पक्ष की तीव्र प्रतिक्रिया एव शब्दो मे उसे व्यक्त करने की सामर्थ्य की अपेक्षा होती है। प्रो० रामचन्द्र शुक्ल स्वय चित्रकार है और उन्होने अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति का भी पूरा परिचय दिया है। वे कहते है "सीधी सादी सरल भाषा मे अपनी अनुभूतियो को चित्र के सदृश उतार सकू।" इस दृष्टि से उनकी अनेक रचनाए है जिनमे प्रस्तुत पुस्तक भी सम्मिलित है। उन्होने यहा अनेक दृष्टियो से चित्रकला की विभिन्न परिस्थितियो पर विचार किया है, परन्तु उनका मुख्य प्रयोजन "आधुनिक कला का रसास्वादन" जान पडता है। इस पृष्ठभूमि मे यह पुस्तक और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है, क्योकि आधुनिक कला की प्रवृत्तियो से न तो हमारा समाज परिचित है और न इस पर कोई साहित्य है। सम्भवत ये दोनो ही अन्योन्याश्रित है।

प्रो० रामचन्द्र शुक्ल आधुनिक कलाकार होने के नाते आधुनिक कला की शैलियो का मनन कर चुके है। इसमे अभिव्यक्ति की जो प्रणाली है उसमे वे स्वय प्रयोग करते आ रहे है और इस प्रकार उन्होने एक नई शैली "काशी शैली" का भी प्रवर्तन किया है। अतएव उन्होने वडे प्रबल स्वर मे आधुनिक शैली का प्रतिपादन किया है।

आधुनिक कला मे विकृति का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अन्तर्गत रूप, विधान, सज्जा, रग, रेखा आदि सभी का एक नया मापदण्ड उपस्थित होता है। उसके लिए एक नई मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है। प्रो० शुक्ल का इस सम्बन्ध मे केवल किताबी ज्ञान नही है बल्कि वे जो कुछ कहते है, उसमे अनुभव की सचाई स्पष्ट झलकती है। इस प्रकार उनकी उक्तिया अधिक हृदयगम जान पडती है।
दारी मे आस्था रखता है उसे निराशावादी या अनास्थावादी नही कहा जा सकता।

लेखक	प्रो० रामचन्द्र शुक्ल, एम०एड० पी० डिच०
प्रकाशक	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
मूल्य	६ रुपए

कही-कही उन्होने कुछ व्यावहारिक बाते भी दी है "(कला कृति के) न समझ आने पर झुझलाहट को भी अधिक स्थान न देना चाहिए, बल्कि एक चित्र को छोड कर दूसरे पर दृष्टि डालने का प्रयत्न करना चाहिए।"

उनकी कुछ मान्यताए विचार-योग्य जान पडती है। यदि कलाकार प्रकृति की अनकृति करता है तो मानवीय सस्कृति और सभ्यता का विकास ही न हो सकता। इसका अर्थ दूसरे रूप मे लेना होगा कि विकास मनुष्य के प्रयोगो पर आधारित है।

वे रसास्वादन को मानसिक धरातल पर ले जाते है (पृ० १९)। परन्तु उसमे आत्मिक आनन्द की बात भी तो है। नए चित्रो का एक विशेष गुण दर्शक को भौचक कर देने का है (पृ० २१)। यह विचारणीय होगा कि इस चमत्कारवाद से स्वाद की जो उपलब्धि होगी वह कहा तक "रस" की सीमा मे आती है। यदि मानसिक धरातल पर हम इसे ले जाएगे तो (उसी पृष्ठ पर) शुक्ल जी की मान्यता कि 'सरल व्यक्ति के लिए वह अधिक सुलभ है', कहा तक स्वीकार्य है।

ग्रथ के अन्त मे ईजिप्ट, चीन आदि की चित्र शैलियो के भी साराश विवेचन दिए है। ये शुक्ल जी की अपनी मान्यताए नही है, न उनका इन विषयो का निकट क परिचय ही होगा। अत यह उनके मूल लेखन के रूप मे नही स्वीकार किया जा सकता। इसी वर्ग मे कुछ विशिष्ट चित्रो के अध्ययन को हाल ही मे कुछ विश्वविद्यालयो ने अपने कम्पल्सरी कोर्स मे रख दिया है, फलस्वरूप इन पर प्रकाशित साहित्य की माग होना आवश्यक है। इनके दे देने से पुस्तक की उपादेयता बढ गई है और सम्भवत प्रकाशकीय दृष्टि से भी यह अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। परन्तु इनके चित्रो को और अधिक स्पष्ट होना आवश्यक है।

यहा भारतीय चित्रो के विषय मे भी कुछ कहना आवश्यक है। प्रो० शुक्ल ने भारतीय चित्रो का एक प्रकार से, उसके सारे इतिवृत्त का सिहावलोकन किया है। यह उनके दो छोटे निबन्धो मे सीमित है। इनमे से एक 'भारतीय अजन्ता चित्रशैली' है। कहने की आवश्यकता नही कि इसमे भारतीय चित्र के इतिहास का ज्ञान अधकचरा ही नही, अत्यन्त हास्यास्पद है। इसमे लेखक ने कुछ ग्रन्थो की जो "महायना" ली है, वह भी कुछ वाक्यो या उद्धरणो से स्पष्ट हो जाता है। यहा तक कि किसी-किसी अश मे तो उस ज्ञान का अधूरापन स्पष्ट होता है "अजन्ता हैदराबाद दक्षिण मे है" (पृ० १४६)।

कुछ अश तो बडे ही विचित्र है, जिनमे चित्रो की महत्ता के लिए उनके कलापक्ष की ओर कम, परन्तु उनकी विलक्षणता की ओर अधिक ध्यान दिया गया है दर्शक के दातो तले उगली आ जाती है आज भी वे इतने चमकदार बने हुए है" इत्यादि ऐसे वाक्यो से क्या अजन्ता के महान् चित्रो के साथ न्याय होता है?

भारतीय कला से सम्बन्धित दूसरा निबन्ध है, "मध्यकालीन भारतीय दरबारी शैली"। इस मसाले का भी स्तर उपर्युक्त से बहुत भिन्न नही है। सम्भवत यह शीर्षक अग्रेजो के मीडिवल इडियन कोर्ट आर्ट से लिया गया है। परन्तु यूरोप के "कोर्ट आर्ट" से जो अभिव्यक्ति होती है, वह हिन्दी के "दरबारी शैली" से भिन्न हे। यहा हमे दरबारी शैली से एक ऐसी कला का बोध होता है जिसमे कलाकार का कोई स्थान नही है, यह तो केवल अपने आश्रयदाता के मनोरजन का एक साधन हे। परन्तु जिस किसी व्यक्ति ने अकबर-जहागीर काल के अथवा मेवाडी शैली के अन्तर्गत साहबदीन के चित्र देखे होगे, वह ऐसा नही कह सकता। जो महान् राजस्थानी शैलिया हे, जो पहाडी शैली की रसभरी मादकता है, वह कला की वस्तु ही न रह जाएगी, एक चित्रकार की हा-हजूरी भर रह जाएगी। तब तो केशव, बिहारी, पद्माकर और देव की रचनाए, जिनमे कल्पनाए आसमान छूती है, केवल भटैती होकर रह जाएगी। वस्तुत किसी कला-वस्तु का निर्णय उसकी उदात्तता पर निर्भर है, कल्पना की अधिक से अधिक पैनी और सुन्दर रसयुक्त अभिव्यक्ति पर आश्रित है। इस निबन्ध मे कितनी ही विलक्षण बाते है जिनका विवेचन करना व्यर्थ है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रो० शुक्ल का विदेशी कलाओ का ज्ञान कितना ही गहरा क्यो न हो, भारतीय चित्रकला के इतिहास से उनका सम्पर्क नही के बराबर है। अच्छा होता यदि वे इस पर कलम चलाने का साहस न करते।

शुक्ल जी का व्यक्तित्व भी उनकी पक्तियो मे कही-कही उभर आया है। वे अपने समर्पण वाले लम्बे वक्तव्य मे, जो भूमिका का भी काम पूरा करता है, कहते है—"मै व्यवसायी कला आलोचक भी नही हू—पुस्तक लिखना मेरे लिए क्राफ्ट (कौशल) नही है। न मै रिसर्च स्कालर की तरह दूसरो के घोडो पर सवारी करना पसन्द करता हू।" यह आक्षेपयुक्त उद्गार या दृष्टिकोण कला के रसास्वादन मे कहा तक सहायक होगा, मै नही समझ पाता।

"रद्दी से रद्दी वस्तु भी अच्छा प्रचार होने पर प्रचलित हो जाती है" अथवा 'प्रचार के आधार पर ही किसी चित्र या कलाकार को अच्छा समझते है।" वाक्य ईमानदारी के नही माने जा सकते।

फिर भी हमे पूरा विश्वास है कि प्रो० शुक्ल अपनी क्षमता के कारण हिन्दी के इस उपेक्षित अग की समृद्धि करते रहेगे।

———

पूर्व और पश्चिम : कुछ विचार

डॉ० रामानन्द तिवारी

'पूर्व और पश्चिम' भारतवर्ष के दार्शनिक राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् के अभिनव अंग्रेजी ग्रन्थ 'East and West Some Reflections' का हिन्दी-अनुवाद है। मूल अंग्रेजी ग्रन्थ मे कनाडा के मैकगिल विश्वविद्यालय मे 'मर एडवर्ड बिग्रेटी व्याख्यान-माला' के अन्तर्गत १९५४ मे दिए गए व्याख्यानो का सग्रह है।

डॉ० राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन और सस्कृति के एक महान् व्याख्याता है। लगभग आधी शताब्दी से अपनी विदेश-यात्राओ के द्वारा वे भारतीय दर्शन और सस्कृति का सन्देश पश्चिम के देशो मे पहुचाते रहे है। पूर्व और पश्चिम के विचारो की तुलना तथा उनका सामजस्य उनका प्रिय विषय है। प्रस्तुत ग्रन्थ के पहले भी इस विषय पर उनके कई व्याख्यान और ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है। यह नवीन ग्रन्थ इसी दिशा मे उनके नवीनतम व्याख्यानो का सग्रह है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे तीन व्याख्यान सकलित है। "प्रथम व्याख्यान मे भारतीय सस्कृति की मूल प्रवृत्ति का दर्शन है। दूसरा व्याख्यान पश्चिमी सस्कृति पर है तथा दो भागो मे विभाजित है। पहले भाग मे यूनान, मकदूनिया, रोम, मिश्र, इस्लाम, धर्मयुद्ध, पाडित्यवाद, पुनर्जागरण, सुधार तथा प्राकृतिक विज्ञान एव आधुनिक दर्शन के उदय का विवरण है। तीसरे व्याख्यान मे उन समस्याओ की व्याख्या है, जिनसे आज पूर्व और पश्चिम दोनो परेशान है, तथा एक सृजनात्मक धर्म की आवश्यकता पर जोर दिया गया है।"

अपने चिन्तन के आरम्भ से ही डा० राधाकृष्णन् पूर्व और पश्चिम की विचार-धाराओ को तुलना एव समन्वय के विवेकपूर्ण तथा उदार दृष्टिकोण से देखते रहे है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे भी उन्होने पूर्व और पश्चिम की भिन्नताओ को स्पष्ट करने के साथ-साथ समन्वय और शाति के मार्ग का अनुसधान किया है। डॉ० राधाकृष्णन् भारतीय

लेखक	डॉ० राधाकृष्णन्
अनुवादक	श्री रमेश वर्मा
प्रकाशक	राजपाल एण्ड सस, दिल्ली
मूल्य	५ रुपए

अध्यात्मवाद के प्रबल पोषक है। अपने अन्य ग्रन्थो की भाति प्रस्तुत ग्रन्थ मे भी उन्होने इसी अध्यात्म की दिशा मे विश्व के समन्वय और विश्व की शाति का सकेत किया है। जिन ऐडवर्ड बियेटी के नाम पर स्थापित व्याख्यानमाला के अन्तर्गत उन्होने ये भाषण दिए है, उनके विचारो को भारतीय अध्यात्मवाद की सगति मे आदर देते हुए बियेटी के एक वचन का उद्धरण उन्होने अपने प्रथम व्याख्यान के आरम्भ मे ही दिया है, "जिस पागलपन ने ससार को महायुद्ध के रक्तपात और विभीषिकाओ मे डुबा दिया वह आत्मा का विकार है—मस्तिष्क का नही।" बियेटी के इस कथन के सूत्र मे डॉ० राधाकृष्णन् ने आज के सकटग्रस्त विश्व को यह सन्देश दिया है कि "शरीर, मस्तिष्क और आत्मा तीनो के स्वाभाविक सामजस्य के निर्वाह से ही व्यक्ति और राष्ट्र सुखी हो सकते है।" पूर्व और पश्चिम के जीवन-दर्शन तथा उनकी समस्याओ को एक बताते हुए डॉ० राधाकृष्णन् ने पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताओ के विकास का विशद विवरण इन भाषणो मे प्रस्तुत किया है। एकता और सामजस्य को महत्त्व देते हुए भी उन्होने पूर्व और पश्चिम की भिन्नताओ की उपेक्षा नही की है। प्रथम व्याख्यान मे पूर्वी सभ्यता के विकास का विवरण देते हुए उन्होने भारतीय सभ्यता की आध्यात्मिकता, मानवीयता तथा धार्मिक स्वतन्त्रता एव उदारता का गौरव के साथ उल्लेख किया है। आत्म-साक्षात्कार को तथा मानवता की मुक्ति को उन्होने भारतीय सस्कृति का केन्द्र-विन्दु बताया है। पूर्वी विचार और सभ्यता के विवरण मे सिन्धु सभ्यता, वैदिक तथा बौद्ध धर्म के साथ-साथ पारसी धर्म, इस्लाम और चीनी सभ्यता को भी स्थान दिया गया हे। पूर्व एशिया मे वैदिक और बौद्ध सस्कृतियो का रक्तहीन प्रसार भारतीय उदारता का प्रमाण है। पश्चिमी धर्मो के रक्तरजित प्रसार का उल्लेख डॉ० राधाकृष्णन् ने नहीं किया, किन्तु वह इस प्रसग मे स्मरणीय है। प्रथम व्याख्यान मे 'धर्म मे रूढि बनाम स्वतन्त्रता' के अन्तर्गत भारत की धार्मिक उदारता का सकेत स्मरणीय शब्दो मे किया है—"हमारा धर्म ही सत्य का प्रतिनिधि है और इसे न मानने वाले काफिर है, जिनका विनाश आवश्यक है—यह दृष्टिकोण घातक है। केवल हमारा धर्म-ग्रन्थ या हमारी सस्था दोषरहित, निर्भ्रान्त और दैवी है तथा ईश्वरीय शिक्षा और कृपा की व्याख्या करने और उन्हे प्रदान करने मे समर्थ है—इस प्रकार के तर्क बहुत हद तक हठ-पूर्ण ही है भारतीय धर्मो मे एकाधिकृत पूजा का स्थान नही है। भारत ही अकेला देश है जहा मन्दिरो, गिरजो और मस्जिदो का शातिपूर्ण सहअस्तित्व है। पक्षपातहीन विवेक की प्रवृत्ति भारत की धार्मिक परम्परा मे व्याप्त है।"

द्वितीय व्याख्यान मे डॉ० राधाकृष्णन् ने पश्चिमी देशो की सस्कृति और सभ्यता का विशद विवेचन किया है। यूनान, रोम और फिलिस्तीन को पश्चिमी मूल्यो और सिद्धान्तो का उद्गम मानकर विचार, अनुपालन और आस्था के रूप मे इनकी विशेष देन का विवरण इस व्याख्यान मे है। पश्चिमी सभ्यता के विकास के प्रसग मे उन्होने पश्चिम पर भारतीय प्रभाव का सकेत भी किया है। यूरोप के गुरु के रूप मे यूनान के

विचार का विवेचन करके उन्होने ईसाई और इस्लाम धर्मो के उदय तथा उनकी विशेषताओ का वर्णन किया हे । ईसाई धर्म की रहस्यात्मकता और उसकी आशा-वादिता को उचित मान देते हुए ईसाई मठवाद और धर्म-प्रचार की उन्होने आलोचना की है। इस्लाम धर्म के प्रसग मे मौलिक एकेश्वरवाद और भाईचारे को महत्त्व देते हुए धर्म-प्रचार मे इस्लामी उग्रता और कठोरता को भी अनावृत किया है।

द्वितीय व्याख्यान के अन्त की ओर उन्होने १२वी शताब्दी के पुनर्जागरण का विवरण करते हुए मानववाद, प्राकृतिक विज्ञानो के उदय तथा नई दुनिया की खोज को उसका मुख्य परिणाम बताया है। इसी प्रसग मे उन्होने पश्चिम के आत्मिक दर्शन और १८वी शताब्दी की औद्योगिक क्राति के परिणामो पर प्रकाश डाला है।

तृतीय व्याख्यान मे डा० राधाकृष्णन् ने पूर्व और पश्चिम की समानताओ और विशेषताओ का निर्देश करके उनके सामजस्य की सम्भावनाओ और विश्वशाति की आशाओ का सन्देश दिया है। उनके मत मे १५वी शताब्दी तक पूर्व और पश्चिम मे काफी समानता थी, किन्तु उसके बाद विज्ञान और टैक्नोलोजी के विकास के कारण दोनो मे बहुत अन्तर पड गया है। आधुनिक विकास के प्रसग मे उन्होने साम्यवाद और प्रजातन्त्र के गुण-दोषो का सूक्ष्म और गम्भीर विवेचन किया है। मनुष्य की एक उच्च स्थिति, समानता, आधिपत्य से मुक्ति, राजनीतिक अथवा आर्थिक शोषण से मुक्ति जैसी मानवीय आकाक्षाओ के लिए उन्होने साम्यवाद की सराहना की है। किन्तु इसके साथ-साथ उन्होने दल के प्रभुत्व और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के अपहरण के लिए साम्यवाद को दोषी ठहराया है। उनके मत मे साम्यवाद के दोष पश्चिमी सभ्यता के ही परिणाम है। उन्होने सच्चे प्रजातन्त्र की कठिनाइयो और उसकी आवश्यकता पर जोर दिया है। पूर्व और पश्चिम के विरोध की स्थिति मे एक विकासशील सह-अस्तित्व का मार्ग उन्होने सुझाया है, जिसका अर्थ समझौता या समर्पण नही वरन् एक दूसरे को समझना और सुधार करना है। विश्व शाति और मानव कल्याण के लिए अन्त मे उन्होने टैक्नोलौजी के प्रभुत्व से सम्पन्न होने वाले खतरे का सकेत किया है और यह मत प्रकट किया है कि मनुष्य की सेवक बनकर मशीने उसका हित कर सकती है। टैक्नोलौजी के दुष्परिणामो का उत्तरदायित्व मनुष्य पर ही है। टैक्नोलौजी के युग मे मनुष्य का भौतिक और यात्रिक जीवन ही प्रमुख बन गया है। उसके जीवन से आत्मा का सस्पर्श जाता रहा है। इस प्रसग मे उन्होने सन्तोष और आत्मसयम के भारतीय सन्देश को दुहराया है। वर्तमान मानव की आस्थाहीनता के रोग का उपचार उन्होने भारतीय आध्यात्मिकता मे खोजा है। उनके मत मे "विज्ञान और टैक्नोलौजी को ही नई सभ्यता का आधार नही बनाया जा सकता हमे निश्चय ही आध्यात्मिकता की खोज करनी होगी, मानवीय व्यक्तित्व का समादर करना होगा ससार का ध्येय पूरा होने की सर्वप्रथम शर्त है कि सारे राष्ट्रो का आन्तरिक नवीनीकरण हो"। इस नवीनीकरण के

लिए मानवीय उदारता, धार्मिक सहिष्णुता और एक-दूसरे की सभ्यता को समझने की आवश्यकता है।

अन्त मे एक परिशिष्ट मे भारतीय विज्ञान के विकास का सक्षिप्त विवरण है। अनुवाद की भाषा सुबोध और सुन्दर है, यद्यपि डा० राधाकृष्णन् की भाषा के दिव्य सौन्दर्य को सुरक्षित रखना असम्भवप्राय है। अनुवादक ने कुछ ग्रीक और अग्रेजी नामो का गलत रूप मे उच्चारण किया है। मैकगिल विश्वविद्यालय के उपकुलपति की पत्नी श्रीमती आइरीन जेम्स को उन्होने श्रीमती ईरीन जेम्स लिखा है। प्रथम ग्रीक दार्शनिक थेलीज को कई स्थानो पर उन्होने थेल्स लिखा है। पुस्तक का मुद्रण और प्रकाशन सुन्दर और उपयोगी है। हमारे दार्शनिक राष्ट्रपति की रचनाओ के हिन्दी-अनुवादो से हिन्दी-पाठको को उनके विचारो से परिचित होने का अवसर मिलेगा।

———

उपमा कालिदासस्य

डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी

बगला मे लिखी 'उपमा कालिदासस्य' का सन् १९५६ तक द्वितीय सस्करण हो चुका था। इसका हिन्दी मे होना आवश्यक था। डा० दासगुप्त ने स्वय शब्दश अनुवाद के माध्यम से (कही-कही एकाध शब्द या पक्ति भूल से छूट गई है) अपनी कृति को हिन्दी-जगत् के समक्ष रखा है।

उपमा की सम्पदा को लेकर १८९० ई० से प्रारम्भ कर कई दृष्टियो ने भारत के क्लासिक साहित्य का अध्ययन हुआ है। आर्नेल्ड, हिर्जेल्ट तथा श्रीमती राइस डेविड ने सस्कृति का इतिहास प्रस्तुत करने के लिए, वर्गेन, गेरिने तथा भारतीय विद्वान् काणे ने अभिव्यजना-कला के माध्यम की दृष्टि से और ओल्डन वर्ग तथा वेबर ने धर्म तथा पुराण (mythology) का इतिहास जानने के लिए उपमा के प्रयोगो का अध्ययन, प्राचीन साहित्य मे वेद—विशेषत ऋग्वेद तथा बौद्ध साहित्य को सामने रखकर किया था। इस परिमित परिधि को छोडकर प्रसिद्ध मनीषी जे० गोन्डा ने हाल मे 'रीतिशास्त्र' (stylistics) की दृष्टि से समग्र सस्कृत साहित्य (वैदिक एव लौकिक) का अनुशीलन किया है। उपमा के इस चतुर्मुख अध्ययन से इतना स्पष्ट है कि इस वचनभगी के माध्यम से साहित्य मे प्रतिबिम्बित देश के चतुरस्र अतीत को जाना जा सकता है।

इस व्यापक परिधि के अतिरिक्त भी कालिदास की उपमासम्पदा का श्री पिल्लई ने इसी नाम से एक और पुस्तक मे आकलन किया था। इसकी भूमिका मे महाकवि के उपमा प्रयोगो का वर्गीकरण और सौन्दर्य दर्शन भी उपलब्ध होता है। पर निश्चित ही, कालिदास की इस स्वाभाविक वचनभगी की सुकुमारता, शुचिता और शालीनता का स्वतन्त्र और कदाचित् भावनाप्रवण अध्ययन शेष था। इस कार्य की पूर्ति डा० दासगुप्त ने की है—बडे भावुक मन से। उन्होने निम्नलिखित छोटे-मोटे तेरह शीर्षको मे महाकवि के उपमा-वैचित्र्य पर अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है। अन्त मे उपसहार है।

लेखक	डॉ० श्री शशिभूषणदास गुप्त
प्रकाशक	नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली
मूल्य	३ रु०

१ काव्य मे उपमा-प्रयोग एव साधारण रूप से अलकार प्रयोग का तात्पर्य (पृ० १–१५)
२ शब्दालकार और अर्थालकार का मूल रहस्य (पृ० १६–२२)
३ कालिदास की सालंकार भाषा ही यथार्थ काव्य भाषा है (पृ० २३–२९)
४ उपमा का मूल रहस्य—वासनालोक (पृ० ३०–४६)
५ कालिदास की उपमाओ मे प्रकृति और मनुष्य का नैकट्य (पृ० ४७–५२)
६ कालिदास की उपमाओ मे आनुपातिक सम्बन्ध (पृ० ५३–५९)
७ कालिदास की उपमाओ मे औचित्य (पृ० ६०–६२)
८ कालिदास की उपमाओ मे वैचित्र्य और विराट् तत्त्व (पृ० ६३–७०)
९ कालिदास की उपमाओ मे तुलनात्मक चित्र (पृ० ७१–७२)
१० कालिदास की उपमाओ मे चेतन-अचेतन का अद्वयत्व (पृ० ७३–८६)
११ अमूर्त मानसिक अवस्था प्रकाशन और कालिदास की उपमा (पृ० ८७–९४)
१२ अलकारो मे सामान्य से विशेष और विशेष से सामान्य का विवेचन (पृ० ९५–९८)
१३ कालिदास की उपमा मे मौलिकता और शुचिता (पृ० ९९–१०३)
१४ उपसहार (पृ० १०४–१०६)

शीर्षको की इस त्रयोदशी अथवा (उपसहार को मिलाकर) चतुर्दशी पर (जिसका उल्लेख पुस्तक के प्रारम्भ मे न होने से उसे यहा देना मैंने और भी आवश्यक समझा है।) आपातत दृष्टि-निक्षेप से यह स्पष्ट हो जावेगा कि उपमा प्रयोग के किन पक्षो का लेखक ने आलोचन किया है। उपमा-प्रयोग अथवा अलकार-प्रयोग पर विमर्श (शीर्षक १), इसके मूल रहस्य (शीर्षक २) तथा उसके माध्यम से चेतन-अचेतन के अद्वैत पर डॉ० दासगुप्त ने अधिक विचार किया है, शेष पक्षो पर अपेक्षाकृत कम, यह भी पाठक स्वत जान लेगा। इस सूची पर आपातत दृष्टिपात से, सम्भव है, पाठक की यह अपेक्षा भी जाग्रत हो कि कालिदास की उपमा से प्रकृति और मनुष्य के नैकट्य (शीर्षक ५), उपमाओ मे औचित्य (शीर्षक ७) तथा तुलनात्मक चित्र (शीर्षक ९) पर अधिक विचार और विश्लेषण होना चाहिए था। और शायद वह यह भी सोचे कि उपमा-प्रयोग (शीर्षक १) तथा शब्दालकार एव अर्थालकार (शीर्षक २) पर कुछ कम लिखा होता तो हानि न होती। पाठक को कदाचित् यह अनुभूति भी हो कि कुछ एक को छोडकर शीर्षक परस्पर निरपेक्ष है, असम्बद्ध है, उन्हे स्वतन्त्र नही अपितु परस्पर-तन्त्र होना चाहिए था। खैर, यह ऊपरी बात थी, कदाचित् बहिरग।

कालिदास प्रणय (रसशास्त्रीय परिभाषा मे शृगार) के कवि है, और जैसा कि कुछ मनीषियो (एच० श्चशार्द, मान्न हार्डट आदि) का कथन है, प्रेमी हृदय उपमा के प्रयोगो का मूल स्रोत है, अत आश्चर्य नही कि कालिदास के काव्य-नाटक उपमा मे

आमूलचूल स्नात हो। ऋतु सहार की समदा प्रमदाए नदिया हैं (४९)[1], बरसाती नदिया सुदुष्ट स्त्रिया है (५१), मालविकाग्निमित्र की नायिका मालविका मधुयामिनी (चैत्र विभावरी, ४४) है, पिपासार्थी की सरिता है (९१), पर राज्ञी धारिणी कौशिकी के साथ वेदान्तविद्या से विभूषित वेदत्रयी है, मूर्च्छाभग के बाद उर्वशी तट-पतन-कलुषा गगा लगती है (९१), पर जब वह राजा के मनमृणाल को खीचकर चल देती है तो वह राजहसी प्रतीत होती है (९१), शकुन्तला यौवनकुसुम से पुष्पित लता है (३८), अनाघ्रात पुष्प, नखो से अक्षत किसलय, अनाविद्ध रत्न, अनास्वादित मधु-रस है (पृ० ४३ वस्तुत दुष्यन्त की भावुकता का प्रवाह उपमा भडार को भरता ही गया), वह श्रद्धार्ह राजा की मूर्तिमती सत्क्रिया (६१) है, जो प्राची की भाति तनय-सूर्य को जन्म देगी (६४) पर अभी अग्निगर्भा शमी है, सशयविपन्न दुष्यन्त का मन उसे स्वीकार करने मे हिचकता है जैसे अन्तस्तुषार कुन्द को चखने मे भ्रमर (८९), उमा शिव अर्ध की भारती है (१५), वसन्तपुष्पाभरण धारण किए पार्वती सचारिणी लता है (३९), जो विवाह के समय आभूषणो मे भूषित हो कुसुमित लता, नक्षत्र-भास्वर त्रियामा तथा विहगविभूषित तटिनी बन जावेगी (४०), उसकी भावभगिमा विकसित बालकदम्ब है (४१), गोरोचना से अकित हो वह त्रिपथगा को भी मात देती है (५५), सुदक्षिणा प्रभातकल्पा शर्वरी (२६), अन्त सलिला सरस्वती (६४), अग्नि-गर्भा शमी (६४), सध्या (६९) आदि के और इन्दुमती सुप्रसिद्ध सचारिणी दीपशिखा (२७), नवाम्र पूरना स्थली (२८), मानसराजहसी, नलिनी (९६) आदि के उपमानो से वर्णित है, कौशल्या शरत्कृशा जाह्नवी (४५) है, सुमित्रा सम्यगाराधित विद्या (१०१) है और सीता गायत्री (१०१) है। मेघदूत की विरहिणी यक्षिणी का कहना ही क्या! वह तो मेघच्छाय दिन की न सोती न जागती स्थलकमलिनी है, निराशा के बादल छाते है, तो मुद जाती है, आशा की सूर्यकिरण झलकती है तो जग जाती है। सौन्दर्य की महिमा की दृष्टि से पार्वती, शकुन्तला, यक्षिणी सभी विधाता की मानसी प्रथम सृष्टि है। कालिदास की नायिकाओ का जीवित ही उपमाओ मे निहित है। सचारिणी लता कहने से पार्वती की तथा सचारिणी दीपशिखा कहने से इन्दुमती की मूर्ति कालिदास के हर पाठक के सम्मुख आ जाती है। उचित ही तो है कि कालिदास को ही दीपशिखाकालिदास कहा जावे।

उपमाओ के व्यापक क्षेत्र, उनके सुकुमार, सहज, शालीन, विचित्र एव मनो-हारी प्रयोग का सग्रह, वर्गीकरण एव अध्ययन भावुक एव वैदुष्यपूर्ण मन से डॉ० दास-गुप्त ने किया है। पर उनकी अनेक स्थापनाओ से सहमत होना कठिन है। उनका यह कथन कि "कालिदास की उपमा के विचार-विश्लेषण या आस्वादन का अर्थ उनके काव्य-नाटक आदि से चुन-चुन कर केवल उपमाओ का ही विचार-विश्लेषण या आस्वादन

---

१. कोष्ठक की सख्याए आलोच्य पुस्तक के पृष्ठो की है।

नही है, वास्तव मे यह कालिदास द्वारा व्यवहृत समस्त अलकारो का विचार विश्लेषण एव आस्वादन है (पृ० ४)" अतिशयोक्तिपूर्ण है। उपमा सादृश्यविधान का माध्यम है उसके विवर्त मे अनेक अलकार समाविष्ट है, यह सही है पर कालिदास ने—उपमा के शिल्पी कालिदास ने—सादृश्य की विधा से हटकर दूसरे माध्यम का भी आश्रय लिया है, उनमे से एक अर्थान्तरन्यास है। इसीलिए सस्कृत की एक प्रसिद्ध सूक्ति मे कहा गया है —

उपमा कालिदासस्य नोत्कृष्टेति मत मम।
अर्थान्तरस्य विन्यासे कालिदासो विशिष्यते॥

अर्थान्तरन्यास दो वस्तुओ के सामान्य-विशेष भाव या कार्यकारणभाव (रुय्यक, पडितराज जगन्नाथ) पर आश्रित होता है। इस सामान्य विशेष मे कवि की दृष्टि समर्था-समर्थक भाव मे रहती है। प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टात मे (जहा दो सधर्मी वस्तुओ का उपन्यास होता है) समर्थन का अश होता है पर वह सम्भावनात्मक होता है वास्तविक, स्वाभाविक या निश्चित नही। अत अर्थान्तरन्यास समर्थन का समर्थ माध्यम है। सामान्य-विशेष रूप दो वस्तुओ मे सादृश्य का अश गर्भित रहता है, किन्तु उसका प्रत्यायन कवि का उद्देश्य नही होता। अत प्रयोजन-भेद और फलत प्रतीतिभेद के नाते, अर्थान्तरन्यास की विधा सादृश्य की विधा से भिन्न है। अस्तु, शीर्षक १२ के अन्तर्गत तथा प्रारम्भ मे व्यक्त डॉ० दासगुप्त की उस मान्यता से सहमत होना मेरे लिए सम्भव नही है जिसमे अर्थान्तरन्यास जैसे अलकार-विधान के अन्तर्गत आने वाली वचनभगिमा को उन्होने उपमा मे रखा है।

कदाचित् यह कथन कि अभिनवगुप्त प्रभृति ने भी 'काव्यसृष्टि के भीतर अलकार को मुख्य स्थान दिया है' भ्राति न पैदा करे अत यह लिखना आवश्यक है। रसध्वनिवादी आचार्य रसाक्षिप्त गुण या अलकार को ही गुण या अलकार मानते है रसरूपव्यग्यार्थ उनके लिए मुख्य आत्मस्थानीय है, शेष का आत्मलाभ रसोद्बोधन मे ही है।

पुस्तक की छपाई साफ है। हा कही-कही छापे की भूलें रह गई है। भूमिका के प्रथम पृष्ठ मे मन्द कवियश प्रार्थी का अनुवाद 'मुझ मन्दकवियश प्रार्थी" देना या "रघूणा-मन्वय वक्ष्ये" का "रघुगण का अन्वित वर्णन करूगा', मयकर भूले है, जिसमे लगता है लेखक की दृष्टि ही नही गई। सस्कृत श्लोको के उद्धरण, यदि यह कहू कि प्रारम्भ से अन्त तक अशुद्ध छपे हैं, तो अत्युक्ति न होगी, बानगी के लिए कुछ पृष्ठ सख्याए दे रहा हू, ८–१०, १२, २७, ६८ तथा ९१। शकुन्तला के स्थान पर उमा (पृ० ३७), मानो के स्थान पर तानो (पृ० ४३), अतीत्य के स्थान पर अनीत्य (५५), हिन्दी के पाठक को भ्रम मे डाल देंगे। लेखक के बगाली होने के नाते शैली मे कुछ भिन्नता है, पर मुझे वह प्रिय है कुछ–एक वचनो को 'बाद देकर' (पृ० ८–९) अर्थात् छोडकर जिसके लिए उसने 'महिमा दान की है' (२६), यह कहना कठिन होगा।

डॉ० दासगुप्त ने उपमा-प्रयोग को अलकृत अभिव्यक्ति का पर्याय बताकर, अनुभूति और अभिव्यजना की प्रक्रिया का कालिदास मे अद्वैत स्थापित कर, उपमाओं मे सगीत एव चित्र का योग दिखाकर, कवि के सस्कार, वासना तथा भावना मे उनका मूल खोजकर, रूपसादृश्य के साथ गुण-कर्म-सादृश्य का उपमाओ मे अध्ययन कर, उपमाओ के औचित्य और वैचित्र्य की मौलिकता और शुचिता की ओर कालिदास के पाठक का ध्यान आकृष्ट कर निश्चित ही हिन्दी जगत् को अपना चिर-ऋणी बना लिया है।

उपमा प्रणय की अभिव्यक्ति का प्रधान माध्यम है, पुरुष एव प्रकृति के मिलन का, चेतन और अचेतन के सामरस्य का, काव्यात्मक उपाय है। इससे अधिक उसका क्या स्तवन होगा! शिवाद्वैत के उपासक कालिदास के लिए इसे अपनाना कितना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

काव्यालंकार

डॉ० सत्यदेव चौधरी

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो की स्वस्थ एव स्वच्छ रूप मे हिन्दी-व्याख्या प्रारम्भ करने का श्रेय स्वर्गीय आचार्य विश्वेश्वर को है, जिन्होने अपने जीवन-काल के पिछले बारह-तेरह वर्षों मे एक के बाद एक उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थ-रत्नो की हिन्दी-व्याख्याए काव्य-शास्त्र के जिज्ञासु अध्येताओ के सम्मुख प्रस्तुत कर इस शास्त्र को अभिनव दृष्टि से सोचने एव समझने के लिए यथेष्ट एव शास्त्रानुमोदित सामग्री प्रदान की। इन व्याख्याओ से पूर्व कतिपय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो पर हिन्दी-टीकाए अवश्य उपलब्ध थी, किन्तु साहित्य-दर्पण पर शालग्राम-प्रणीत विमला टीका तथा रसगगाधर पर पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी की हिन्दी-व्याख्या के अतिरिक्त अन्य सभी टीकाए प्राय सामान्य कोटि की ही थी। इसी बीच डॉ० भोलाशकर व्यास, डॉ० सत्यव्रतसिह, श्री रामचन्द्र शर्मा, डॉ० रामसागर त्रिपाठी आदि ने निस्सन्देह इस दिशा मे स्तुत्य प्रयास किए। भामह-विरचित 'काव्यालकार' पर हिन्दी-भाष्य का प्रणयन कर ऐसा ही एक अन्य सुप्रयास प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने किया है।

समीक्ष्य ग्रन्थ को ३ खडो मे विभक्त कर सकते है। प्रथम खड मे भाष्यकार ने ५ पृष्ठो मे प्रमुखत ग्रन्थ की "सम्पादन-पद्धति" पर प्रकाश डालने के उपरान्त ४८ पृष्ठो की भूमिका मे 'काव्यालकार' का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। द्वितीय खड (पृष्ठ १–१७४) मे ग्रन्थ का हिन्दी-भाष्य तथा मूल पाठ है और तृतीय खड (पृष्ठ १७५–१९७) मे तीन परिशिष्ट है।

'काव्यालकार' का सम्पादन करने मे सम्पादक महोदय ने पाच मस्करणो का उपयोग करने के उपरान्त इसका मूल पाठ स्थिर किया है तथा उसी का हिन्दी-भाष्य उपस्थित किया है। स्पष्टत यह कार्य अत्यधिक श्रम एव विवेक की अपेक्षा रखना है,

---

मूल लेखक	आचार्य भामह
भाष्यकार	प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा
प्रकाशक	बिहारराष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
मूल्य	५ रुपए।

विशेषत ऐसे ग्रन्थो के सम्पादन मे जिनका पाठ भ्रान्त, खडित, भ्रष्ट अथवा जटिल हो। काव्यालकार ग्रन्थ जटिल तो है ही, साथ ही इसके अनेक स्थल भ्रान्त भी हैं।

हिन्दी-भाष्य के दो रूप हैं। एक रूप मे सरलार्थ प्रतिपादित किया गया है और दूसरे रूप मे उसका भाष्य है। भाष्य के अन्तर्गत सरलार्थ का स्पष्टीकरण किया गया है। भामह से पूर्ववर्ती एव परवर्ती आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट तद्विषयक सामग्री पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। भारतीय काव्यशास्त्र के आधुनिक समीक्षको से सहमति अथवा असहमति प्रकट की गयी है। यह सभी कुछ स्पष्ट, निर्भ्रान्त, तर्क-सगत और ललित है। यत्र-तत्र सगत उद्धरणो द्वारा विवेच्य स्थलो की पुष्टि भी की गयी है। दुरूह स्थलो से पलायन अथवा उन्हे घुमा-फिरा कर प्रतिपादित करने के लिए ऐसे ग्रन्थो मे अत्यधिक अवकाश रहता है, किन्तु, भाष्यकार की प्रौढ शास्त्र-मर्मज्ञता ने उसे इस पद्धति को अपनाने की आज्ञा नही दी। उसे ऋजु-पथ का ही अनुगामी बनाया है। यहा तक कि उनकी यही प्रणाली अन्तिम दो परिच्छेदो—पचम और षष्ठ— मे भी बरती गयी है जो क्रमश न्याय और व्याकरण से सम्बन्धित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का बहुमूल्य भाग है—इसकी भूमिका, जो प्रो० शर्मा के मौलिक चिन्तन का द्योतक है। ग्रन्थ के प्राय सभी विवेच्य स्थलो से सम्बद्ध पूर्वापर सामग्री का यथास्थान सयोजन एव विवेचन करते हुए उन्होने अनेक नवीन धारणाए प्रस्तुत की है, जो अधिकाशत मान्य है।

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' को आधुनिक अनेक समीक्षको के असमान भामह-सम्मत काव्यलक्षण न मान कर इन्होने इसे एक ऐसे "समझौता" का सूचक माना है जो केवल शब्द अथवा केवल अर्थ को प्रधानता देने वाले आचार्यों के बीच भामह ने प्रस्तुत किया है। प्रसग को देखे तो वस्तुस्थिति भी यही है। स्वय भामह को काव्यलक्षण प्रस्तुत करना अभीष्ट है भी नही। किन्तु फिर भी इसे काव्य का स्वरूप-परिचायक-मात्र एक कथन मान ले तो भी विशेष आपत्ति नही होनी चाहिए। 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' यह कथन, चाहे अव्याप्त रूप मे सही, रुद्रट-सम्मत काव्यलक्षण स्वीकार किया ही जाता है। प्रो० शर्मा के अनुसार भामह-सम्मत काव्यलक्षण है —

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलकृति ।

काव्य-प्रयोजन के अन्तर्गत विश्वनाथ से असहमति प्रकट करते हुए इनका कथन है कि किसी काव्य से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन सब की प्राप्ति की परिकल्पना असम्भव है, क्योकि न सभी काव्य भगवत्स्तुतिपरक होते है और न ही शृगारिक रचनाओ से धर्म-प्राप्ति की अपेक्षा ही की जा सकती है। वस्तुत वामन का ही दृष्टिकोण ग्राह्य है, जिसने काव्य मे काम की प्रधानता स्वीकार की है। (किन्तु

यदि किसी रचना से उक्त चारो पुरुषार्थों की एक-साथ उपलब्धि न मानकर कुछ एक की स्वीकार की जाए तो विश्वनाथ का दृष्टिकोण समुचित मान लेना चाहिए)। इसी प्रसग मे काव्य द्वारा कला-वैचक्षण्य-प्राप्ति के सम्बन्ध मे उनका कथन है कि वस्तुस्थिति ठीक इसके विपरीत है। वस्तुत स्वय कला-विचक्षणता काव्य-निर्माण का एक साधन है, वह स्वय साध्य नही है।

काव्य हेतु-प्रसग मे उन्होने भामह को एक श्रेय यह भी दिया है कि उन्होने अपने निम्नोक्त कथन मे 'जातु' और 'कस्यचित्' शब्दो के प्रयोग द्वारा काव्य-निर्माण-प्रेरणा पर भी सर्वप्रथम सकेत किया था। प्रतिभा के साथ-साथ स्वोद्भासित प्रेरणा भी अपेक्षित रहती है **काव्य तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावित**। किन्तु आगे चलकर इस सकेत को न तो किसी आचार्य ने विकसित किया और न ही इस तत्त्व की ओर किसी रूप मे प्रकाश डाला। जगन्नाथ-प्रस्तुत प्रतिभा-लक्षण **"सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थिति'** मे अव्याप्ति का निर्देश करते हुए वे कहते है कि प्रतिभा केवल शब्दार्थ की उपस्थिति कराने का साधन नही है अपितु काव्यवस्तु के चयन से लेकर परिसमाप्ति पर्यन्त प्रयुक्त होने वाले सभी तत्त्वो का साधन है। जगन्नाथ के इसी प्रसग मे एक अन्य शिथिलता का सकेत करते हुए वे कहते है कि व्युत्पत्ति और अभ्यास को स्वतन्त्र हेतु न मानकर प्रतिभा का कारण (उत्पादन कारण) मानना समुचित नही है। प्रतिभा तो सहज होती है और ये दोनो इसके परिष्कारक एव परिवर्द्धक हेतु माने जा सकते है—अनगढ हीरे की चमक 'घर्षण' से उत्पन्न नही होती, वह स्वाभाविक होती है, घर्षण से उस मे उज्ज्वलता आती है। व्युत्पत्ति के प्रसग मे लेखक ने यहा यह भी कहा है कि 'देश-काल-कला-लोक-न्याय-आगम-विषयक-विरोध' नामक दोषो के निवारण के लिए 'व्युत्पत्ति' एक अनिवार्य साधन है। 'अभ्यास' के ऐतिहासिक कारण एव महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए वे कहते है कि यह 'हेतु' वस्तुत उन दिनो अनिवार्यत अपेक्षित था जब भरे राजदरबारो मे कविजनो को 'आशुकवित्व' के बल पर समस्यापूर्तिया करनी पडती थी।

लेखक ने प्रतिभा आदि हेतुओ (अथवा समन्वित रूप मे कहे तो 'हेतु') को काव्य-निर्मिति का निमित्त कारण माना है, न कि उपादान कारण। नि सन्देह कवि की प्रतिभा आदि को कुम्भकार के घट-निर्माण कौशल आदि से उपमित करते हुए इन्हे निमित्त कारण मान सकते है, किन्तु उपादान कारण किसे माना जाए, लेखक ने इस का स्पष्टत उल्लेख न कर सकेतमात्र दिया है कि मम्मट-प्रस्तुत काव्यस्वरूप के अन्तर्गत काव्यलक्षण भी समाविष्ट है और उपादान कारण भी। यदि उन्हे अदोष, सगुण सालकार और 'क्वापि अनलकृत' शब्दार्थ को काव्य-निर्माण के उपादान कारण कहना अभीष्ट है और इनके समन्वित रूप को काव्य-लक्षण, तो उनकी यह धारणा निस्सन्देह मान्य एव मनस्तोषक है। फिर भी उन्हे इस शका का समाधान कर देना चाहिए था।

काव्यभेद-प्रकरण के अन्तर्गत विषय के आधार पर भामह-सम्मत चार भेदो मे से कलाश्रित और शास्त्राश्रित भेदो को लेखक ने काव्य का भेद न मानकर कला और शास्त्र को काव्य के उपकरण माना है, जो कि समुचित है। भाषा के आधार पर भामह द्वारा सस्कृत के साथ-साथ प्राकृत और अप्रभ्रश को भी सम्मिलित करने मे डॉ० शर्मा का यह निष्कर्ष मनस्तोषक प्रतीत नही होता कि इन दोनो भाषाओ को उन दिनो सस्कृत के ही समान समादर प्राप्त होगा। वस्तुत काव्याचार्यो को तो अपने समय के सभी प्रचलित एव अप्रचलित भेदोपभेदो को स्थान देना पडता है। इधर इसके अतिरिक्त भाषा के आधार पर काव्य के प्रकार बताना युक्तिसगत है भी नही। भामह ने 'खड काव्य' की चर्चा नही की। सम्भवत कारण यह कि उन्होने "अयुक्तिमत्" दोष के प्रसग मे, दूतकाव्यो (तथाकथित खड-काव्यो) के दूतो को वाणी के अभाव मे सन्देश कथन मे असमर्थ बताया है। किन्तु इस तर्क पर 'मेघदूत' जैसे काव्यरत्नो को काव्य से बहिष्कृत करना पडेगा। इन्हे काव्य के एक रूप मे स्वीकृत किए जाने की स्थिति मे 'खड काव्य' भेद स्वीकार करने मे भी कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।

भामह द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य के लक्षण मे प्रस्तुत 'रसैश्च सकलै पृथक्' वाक्य मे प्रयुक्त 'पृथक्' शब्द लेखक के अनुसार अकाण्ड-प्रथन, अकाण्डच्छेदन, परि-पन्थि-रसाग-परिग्रह नामक दोषो का परिहारक है। यदि कहना चाहे तो इसे इन दोषो का 'बीज' भी मान सकते है। "रसैश्च सकलै" कहने के साथ-साथ भामह ने शब्द-सौष्ठव, अर्थरमणीयता तथा अलकार-योजना को भी महाकाव्य-लक्षण मे स्थान दिया है। डॉ० शर्मा का कहना है कि ये सभी रस के अग है, अत इन्हे पृथक् स्थान नही मिलना चाहिए था। किन्तु वस्तुत देखा जाए तो इनमे से प्रथम दो तत्त्व काव्य के बाह्य रूप के निर्देशक होने के कारण स्वतन्त्र उल्लेख की अपेक्षा रखते है, और तीसरा तत्त्व 'अलकार', जैसा कि स्वय लेखक को भी अभीष्ट है, भामह के समय तक अभी 'रस' का अग बन नही पाया था, अपितु वस्तुस्थिति इससे लगभग विपरीत थी। अत उक्त तीनो तत्त्व स्वतन्त्र रूप से उल्लेख योग्य है। लेखक महाकाव्य को विषय एव विस्तार-सीमा मे निबद्ध करने के पक्ष मे नही है। अत न तो वे इसे किसी रसविशेष तक सीमित रखना चाहते है न सर्ग-सख्या नियत करना उन्हे अभीष्ट है, विशेषत तभी जब सर्गो की पद्य-सख्या नियत नही की जाती। उनकी यह धारणा सम्मान्य है। इसी प्रसग मे विभिन्न आचार्यों द्वारा परिगणित गद्य-काव्य के विभिन्न भेदो के निर्देशोपरान्त लेखक का यह सकेत निस्सन्देह यथार्थ है कि भारत के प्राचीन साहित्य मे गद्य-काव्य की अत्यल्पता स्वीकृत करते चले जाना युक्ति-सगत नही है।

दृश्य काव्य (अभिनेयार्थ) के भामह-सम्मत भेदो मे से द्विपदी, शम्या, रासक, और स्कन्धक को लेखक ने लोक-रगमचीय रूपक-भेद माना है, पर इस सम्बन्ध मे

उन्होने कोई विशिष्ट कारण प्रस्तुत नही किया। फिर भी, अनुमानत सम्भव यही प्रतीत होता है।

भामह किस वाद से सम्बन्धित थे, प्रो० शर्मा मानते हैं कि वह मूलत वक्रोक्ति-*वादी थे, अलकारवादी नही।* उनका प्रमुख तर्क यह है कि उनके ग्रन्थ मे यही तत्त्व मूल भावना के रूप मे अन्तर्निहित एव अन्तर्व्याप्त है। यहा तक कि अलकार का बीज-रूप भी यही तत्त्व है। किन्तु फिर भी यदि समग्र परिवेश की दृष्टि से देखे तो 'अलकार-तत्त्व' का ही पलडा भारी है। इसी के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत भामह को अन्य काव्य-तत्त्वो को समाविष्ट करना अभीष्ट है तथा सभी प्रकार के काव्य-सौन्दर्य का आरम्भिक तत्त्व भामह ने 'अलकार' को ही माना है। ठीक इसी आधार पर दण्डी को भी 'अलकारवादी' माना जाता है, अन्यथा उसे 'गुणवादी' और अधिक यथार्थ रूप मे कहे तो 'वैदर्भवादी' मानना पडेगा। जो हो, भामह ने वक्रोक्ति तत्त्व को अत्यधिक समादर दिया, जिसे कुन्तक ने अपने दृष्टिकोण से विकसित, पल्लवित एव व्याप्त रूप दे दिया। भामह की क्या इतनी महत्ता कम है? हा, इसी प्रसग मे "सैषा सर्वैव वक्रोक्ति" की व्याख्या अत्यन्त सुसगत एव सम्मान्य है कि अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति पर्यायवादी नही है, वक्रोक्ति मे अतिशयोक्ति अवश्य विद्यमान रहती है। अस्तु!

इस भूमिका-भाग का अन्तिम अश है भामह का मूल्याकन, जो लेखक के व्यवस्थापन एव समाहार-कौशल का द्योतक है। नपे-तुले वाक्यो मे उन्होने भामह की नौ विशेषताए निर्दिष्ट की है—जिनसे उनके गुण एव दोष का पूरा लेखा-जोखा पाठक के सम्मुख आ जाता है।

परिशिष्ट-भाग मे भामह का परिचय सक्षिप्त होते हुए भी अति मूल्यवान् है। 'परिशिष्ट २' का ऐतिहासिक महत्त्व है। इसमे भामह द्वारा निर्दिष्ट ग्रन्थो एव ग्रन्थकारो की सूची है। 'परिशिष्ट ३' मे विभिन्न सस्करणो के पाठ-भेदो का स्वच्छ शैली से आकलन है।

प्रो० शर्मा इस सुप्रयास के लिए धन्यवाद के पात्र है। हमे विश्वास है कि 'सरस्वती कण्ठाभरण' के भावी सम्पादन एव भाष्य मे भी वे इसी गवेषणात्मक, गम्भीर एव व्यवस्थित पद्धति को अपनायेगे।

———

रासो साहित्य विमर्श

डॉ० दशरथ शर्मा

इस पुस्तक मे 'रासो-साहित्य-सम्बन्धी' डॉ० माताप्रसाद के चौदह लेखो का सकलन है जिनमे एक नया और दूसरे पूर्व-प्रकाशित है। लेख सभी पठनीय है। सभी मे कुछ न कुछ मौलिकता है, किसी मे अधिक तो किसी मे कुछ कम।

पहला प्रबन्ध 'रासो प्रबन्ध की रूपरेखा' है। अनेक रास और रासको के विवेचन के बाद भी विद्वान् लेखक इनके विषय मे कोई निश्चित मत न बना सके है। केवल निष्कर्ष रूप मे आपने लिखा है, "विविध प्रकार के 'रास', 'रासावलय', 'रासा' और 'रासक छन्दो', 'रासक' और 'नाट्य रासक'—उपनाटको 'रासक', 'रास' तथा 'रासो' नृत्यो और नृत्तो से भी 'रासो' प्रबन्ध परम्परा का कोई निकट का सम्बन्ध रहा हो, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। कदाचित् नही रहा।" इस नकारात्मक निर्णय के लिए कोई विशेष प्रमाण दिया जाता तो उचित होता, विशेषत जब इस विषय पर पर्याप्त लिखा जा चुका है। सवत् १९६२ मे रचित 'रिपुदारण' रास मे नृत्य, गीत और काव्य का सुन्दर समन्वय है।[1] वठरगुरु गीत भी कुछ ऐसी ही कृति है। सन्देशरासक के 'कह बहरूवि णिबद्धउ रासउ भासियइ' शब्दो से[2] नाटकीय और काव्य-तत्त्वो का सम्बन्ध भी इसी प्रकार स्पष्ट है। बहुत सम्भव है कि सन्देशरासक मे निर्दिष्ट ये 'रास' हीर और राझा की सी कृतिया रही हो। अब भी गावो मे एक व्यक्ति हीर तो दूसरा राझा के वचन बोलता है। दोनो ही हीर और राझे का रूप भी धारण करे तो उनके लिए भी सन्देशरासक की उपर्युक्त उक्ति का प्रयोग किया जा सकता है।

डॉ० गुप्त का दूसरा लेख 'रास और रासक काव्य-परम्पराए' विशेष रूप से मननीय और पठनीय है। इसमे रास-रासो काव्य के मूलतत्त्वो तक पहुचने का लेखक ने विशिष्ट प्रयत्न किया है। रास परम्परा की अठारह और रासो परम्परा की चौबीस

लेखक	डॉ० माताप्रसाद गुप्त
प्रकाशक	साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद
मूल्य	५ रुपये

१ मरुभारती, ४ २ ५ ६ ५ ७

२ २ ४ ३

कृतियो[1] का परिचयात्मक विवरण देने के बाद इनका काव्य-रूप की दृष्टि से विचार करते हुए आपने लिखा है 'रास परम्परा की रचनाए अधिकतर छोटी है और छन्द वैविध्ययुक्त अधिक नही है।' रासक (रासो) परम्परा की छन्द योजना पर इस प्रकार यदि दृष्टि डाली जाए तो ज्ञात होगा कि एक तो रास परम्परा की अपेक्षा इसमे अधिक प्रकार के वृत्तो का प्रयोग हुआ है। 'दोनो परम्पराओ मे समानता इस बात मे है कि छन्दवैविध्य इस काव्य रूप मे व्यापक रूप से मिलता है।' 'और दोनो परम्पराओ मे अन्तर इस बात मे है कि रास-परम्परा मे अधिकतर गेय छन्द प्रयुक्त हुए है, केवल कुछ रचनाओ मे बीच बीच मे पाठ्य छन्द भी मिल जाते है। यह छन्द वैविध्य ही इस काव्य रूप का एकमात्र लक्षण बहुत प्राचीन काल से रहा है।' सामान्यत यह ठीक है, किन्तु न सब रास अल्पकाय ही है और न सब रासो ही दीर्घकाय। छन्द-वैविध्य सार्वत्रिक नही है, और न केवल इसे किसी काव्यरूप का लक्षण मानना उचित ही प्रतीत होता है। यह सम्भव है कि हमे सब रासो के लिए एक लक्षण न मिल सके, किन्तु रासो के अर्थ के क्रमिक विकास को ध्यान मे रख कर रास-रासो कृतियो का वर्गीकरण शायद असम्भव न हो।

तीसरा लेख 'सन्देशरासक के पाठ और अर्थ-सशोधन के कुछ सुझाव' है। प्राचीन कृतियो के सम्यक् सम्पादन के लिए वास्तव मे हमे ऐसे अनेक लेखो की आवश्यकता है। डॉ० गुप्त का प्रत्येक सुझाव उनके गम्भीर अध्ययन का सूचक है। किन्तु इन सुझावो के गम्भीर अध्ययन की भी अभी आवश्यकता है। सन्देशरासक ४२ २ मे डॉ० गुप्त ने 'णयरे' के 'णय' को नतार्थक मान कर पा० स० म० के आधार पर उसका अर्थ 'जिसको नमस्कार किया गया हो' किया है। किन्तु यह अर्थ सम्भवत तभी होगा जब प्रयोग 'णय विज्जाहर' आदि के रूप मे हो। सन्दिग्धार्थक शब्दो के अर्थ का निश्चय करने के लिए कोश से कही अधिक उनका सुज्ञात प्रयोग उपयोगी है।[2] सन्देशरासक १० मे 'रामरमणेसु' का 'रामरवणेसु' मे बदलने का सुझाव है। किन्तु रामरमणेषु से जब पर्याप्त सुन्दर अर्थ की प्राप्ति होती है तो उसका सशोधन क्यो किया जाए? सन्देशरासक ४२ मे 'सामोरु' एक नगर का नाम है जिसे टीकाकारो ने मुल्तान माना है।

---

१ रास और रासो नाम की इनसे कही अधिक कृतिया वास्तव मे विवेच्य है। वस्तुपालरासादि पर्याप्त दीर्घकाय है और माकणरासो आदि लघुकाय। श्री परमानन्द शास्त्री ने अभी जैन-अपभ्रश-ग्रन्थप्रशस्तिसग्रह मे मुनि विनयचन्द्र के चूनडीरास, णिज्झरपचमीरासउ और कल्याणक रासु की प्रशस्तिया प्रकाशित की है। इनका रूप भी डॉ० गुप्त की परिभाषा के सर्वथा अनुकूल नही है।

२ पाइअसद्दमहण्णवो को

उदाहरण, 'नीसेस-वियड-पडिवक्ख-नय-क्कमा-विक्कमा राया' है। इससे डॉ० गुप्त के अर्थ की परिपुष्टि नही होती।

मुल्तान चन्द्रभागा नदी पर है, और साम्बपुर (सामोर) की भी वही स्थिति मानी गई है। 'किन्तु इतने साम्य के होते हुए भी' डॉ० गुप्त के मतानुसार 'यह असम्भव नही है कि साम्बपुर चन्द्रभागा पर ही स्थित अन्य एक स्थान रहा हो।' पद्य ६५ मे मूल स्थान के उल्लेख से भी आपने यह अनुमान किया है कि मूलस्थान और साम्बपुर सम्भवत परस्पर भिन्न है। किन्तु सन्देशरासक के समग्र प्रसग को पाठक पढे तो ऐसी भ्राति उत्पन्न न होगी। साम्बपुर के प्रसग मे ही मूलस्थान का वर्णन करते समय कवि ने लिखा है —

तवण तित्थु चउद्दिसि मियच्छि वखाणियइ।
मूलस्थाणु सुवसिद्धउ महियलि जाणियइ ॥ ४२॥

"हे मृगाक्षी, वहा सूर्य का तीर्थ है जो चतुर्दिक् मे विख्यात है। वह पृथ्वीतल पर मूल स्थान के नाम से प्रसिद्ध है।" इससे स्पष्ट है कि साम्बपुर का सूर्य तीर्थ ही मूलस्थान के नाम से प्रसिद्ध था। साम्बपुर और मुल्तान के ऐक्य के विषय मे भविष्यपुराण, ब्रह्मपर्व, भाग १, अध्याय १४० द्रष्टव्य है।[1]

चौथे लेख मे प्राकृत पैंगल के हम्मीर विषयक छन्दो के विषय मे विचार किया गया है। ये छन्द शायद किसी रासो के अन्तर्गत रहे हो। किन्तु जैसा डॉ० गुप्त ने बताया है, इन्हे शार्ङ्गधर की रचना मानने के लिए कुछ निश्चयात्मक प्रमाण नही है। इतिहास की कसौटी पर कसने पर इन छन्दो की ऐतिहासिकता को विचारणीय माना गया है। किन्तु 'खुरासान' की विजय से वास्तव मे खुरासान देश की विजय अभिप्रेत नही है। जैसा हम अन्यत्र बता चुके है इस प्रसग मे खुरासाण का अर्थ मुसलमान मात्र है।[2] पहली पक्ति मे 'ढोल्ला मारिअ ढिल्लि मह' और अन्तिम पक्ति के अन्तिम पद मे "मारअ ढिल्लि मह ढोल्ला' शब्दो से यह सर्वथा निश्चित है कि इस यात्रावृत्त मे दिल्ली के मुसलमान शासक पर आक्रमण का ही वर्णन है। डिगलकोशो और डिगल ग्रन्थो से भी खुरासाण शब्द के मुसलमानार्थक होने के अनेक प्रमाण दिए जा सकते है। इसी प्रकार जाजा को एक अगहीत पाठान्तर के आधार पर सामान्य मललमात्र मानना विशेष सयुक्तिक नही है। पुरुष परीक्षा मे लिखा है कि हम्मीर ने अपनी सेना को सम्बोधित करते हुए कहा था, "रे जाजमप्रभृति योद्धाओ मै परिमित सैन्य वाला होने पर शरणागत पर करुणा के कारण प्रवृद्धबल

---

१ अल्बरूनी ने भी मुल्तान की चन्द्रभागा के तट पर अवस्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है कि इस नगर का पहला नाम काश्यपपुर था। इसके बाद क्रमश इसके नाम हसपुर, वेगपुर, साम्बपुर और मुल्तान हुए। अल्बरूनी का यह मत बृहत्सहिता पर उत्पल की टीका पर आधारित है। (देखे *Alberuni's India* भाग, पृ० २९८)।

२ मरुभारती, १० १ १४४–५

अदीनराज (अलाउद्दीन) से युद्ध करूगा।" यह 'योध' शब्द का प्रयोग राजपूत-ससार में दूषण नही परम भूषण है। और केवल 'जाजमदेव' (जाजा) का नाम आने से यह भी तो सिद्ध है कि वह सेना मे प्रमुख है।[1]

पाचवे लेख मे डॉ० हजारीप्रसाद और डॉ० नामवर सिंह द्वारा सम्पादित सक्षिप्त पृथ्वीराजरासो की आलोचना है।

छठे लेख 'पृथ्वीराज रासो के तीन पाठो का आकार सम्बन्ध' मे डॉ० गुप्त ने तीनो पाठो की तुलना द्वारा बडे अच्छे ढग से सिद्ध किया है कि "दो चार अपवादो को छोडकर जो प्रतिलिपि-प्रक्रिया मे ही हो जाते है, जहा पर बलाबल-सम्बन्धी अन्तर है, लघु की अपेक्षा मध्यम मे, मध्यम की अपेक्षा बृहत् मे और मध्यम तथा लघु दोनो की अपेक्षा बृहत् मे ही अतिशयोक्ति की प्रबलता है। इसलिए यह अनुमान निराधार है कि लघु और मध्यम बृहत् के अथवा लघु मध्यम का सक्षिप्त रूपान्तर है।"

सातवा लेख 'पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता और रचना तिथि' पर है। इसके अनेक ऐतिहासिक उल्लेखो पर विचार कर निष्कर्ष निकाला गया है कि 'लघुपाठ' की रचना तिथि स० १४२८ के लगभग ठहरती है', इसलिए 'रासो के मूलरूप से हम अब भी दूर हैं और उसको प्राप्त या पुनर्निर्मित करने की चेष्टा हमे करनी चाहिए'। इन विचारो से शायद ही कोई असहमत हो।

आठवा लेख 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह, चन्दबरदाई और जल्ह का समय' है। इसमे पुरातन प्रबन्ध सग्रह की हस्तलिखित प्रतियो का मिलान कर डॉ० गुप्त ने निश्चय किया है कि चन्द की रचनाओ का समय स० १३२८ के लगभग या उससे पूर्व होगा। जल्ह की स्थिति इतनी निश्चित नही है।

नवा लेख 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह और पृथ्वीराज रासो' और दसवा 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह मे चन्द की रचना का स्वरूप' है। इनमे से पहले निबन्ध मे बडे नपे-तुले शब्दो मे डॉ० गुप्त ने लिखा है कि 'पृथ्वीराज प्रबन्ध मे उद्धृत छन्द पृथ्वीराज रासो के कथा

---

१ जाज पर विशेष प्रकाश के लिए सन् १९४९ के इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली मे हमारा लेख देखे। सादूल राजस्थानी रिसर्च इस्टीट्यूट बीकानेर द्वारा प्रकाशित "हम्मीरायण" की भूमिका मे पृ० ३९-४३ देखे। 'आलोचना' मे डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के हिन्दी साहित्य के आदिकाल की आलोचना करते समय भी हम यह बता चुके है कि प्राकृत पैंगल का जज्जल कवि न होकर रणथम्भोर के स्वामी हम्मीरदेव का सेनापति जाजा है।

प्रबन्ध मे पूर्ण रूप से ठीक बैठते है उसमे वे मिलते तो हैं ही। अत अधुना प्रचलित पृथ्वीराज रासो से इन छन्दो के रचयिता 'चन्द का सम्बन्ध जोडना किसी प्रकार अनुचित नही माना जा सकता है।'

ग्यारहवे प्रबन्ध का विषय 'पृथ्वीराज विजय और पृथ्वीराज रासो है। इसमे पृथ्वीराज रासो की 'मज्झपहर पुच्छइ तिहि पडिय, कहि कवि विजय साह जिहि दडिय' पक्तियो के आधार पर डॉ० गुप्त का यह अनुमान करना कि रासोकार को पृथ्वीराज विजय का ज्ञान था, कुछ ठीक प्रतीत नही होता। इसमे तो केवल पृथ्वीराज का यह अनुरोध है कि 'पडित' उस विजय का वर्णन करे जिसमे उसने शाह को दडित किया था। साथ ही कथा-प्रसग से यह प्रतीत होता है कि यह 'पडिय' चन्द ही है। उसके विविध-विषयक ज्ञान के कारण उसके लिए 'पडिय' सज्ञा अनुचित भी नही है। स्वय पृथ्वीराज विजय का रचयिता तो पडित शब्द का कुछ प्रेमी भी न था, और उसने पृथ्वीराज विजय मे पडितो को सरस्वती का 'विषात्मक नट' आदि कहने की कृपा की है।[1]

बारहवा लेख 'सुर्जन चरित्र महाकाव्य और पृथ्वीराज रासो' है। आज से लगभग २२ वर्ष पूर्व हमने सुर्जनचरित्र काव्य पर लगभग १८ पृष्ठ का एक लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४६ मे प्रकाशित किया था। इससे कुछ समय पूर्व राजस्थानी (कलकत्ता) मे 'पृथ्वीराज रासो की कथाओ का ऐतिहासिक आधार' नामक हमारा लेख प्रकाशित है। उनमे भी इस विषय का विवेचन हुआ है। तेरहवे लेख मे 'आईन-ए-अकबरी और पृथ्वीराजरासो' की कथाओ की तुलना है। हम भी एकाधिक बार यह विषय हिन्दी-प्रेमियो के सम्मुख रख चुके है। डॉ० गुप्त की तुलना अधिक विस्तारयुक्त है। अपने से पूर्व किए हुए कार्य का निर्देश भी विज्ञ लेखक कर दिया करे तो उसमे शोध-कर्त्ताओ का सम्भवत कुछ लाभ हो।

चौदहवे लेख का विषय 'हिन्दी की रासो परम्परा का एक विस्मृत कवि जल्ह, है। लेख मौलिक और विमर्शमय है। जल्ह प्रतिभाशाली कवि था। सम्भवत वर्तमान

---

१ **कवित्व-पाण्डित्य-तटद्वयेन**
सरस्वती सिन्धुरिव प्रवृत्या।
एकत्र पीयूषमयो रसोऽय-
मन्यत्र मात्सर्यविषात्मकोऽस्या.॥
गुणैस्समृद्धोव्युपवेशनीय-
स्सूरि पर पद्म इवाढ्यपत्र।
विचारकाले तु सहायभाव
प्रजापतेरापतते कवीनाम्॥

पृथ्वीराजरासो मे उसकी कुछ कृति अन्तर्गत है। किन्तु जल्ह का 'बुद्धिरास' का कर्त्ता होना सदिग्ध है। दोनो की विचार और लेखन-शैली मे पर्याप्त भेद है।

साहित्य भवन प्रयाग इस महत्त्वपूर्ण सकलन के प्रकाशन के लिए अभिनन्द्य है। इससे रास-रासो विषयक शोध को पर्याप्त प्रगति मिलेगी, और अनेक पुरानी भ्रातियो का निवारण होगा। हमे पूर्ण आशा है कि डॉ० गुप्त शीघ्र ही अपने रासो-विषयक सिद्धान्तो और स्थापनाओ को सुश्लिष्ट रूप मे प्रस्तुत कर हिन्दी-ससार को और अधिक लाभान्वित करेगे।

———

राउल वेल और उसकी भाषा

डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया

'राउल वेल' ११वी शताब्दी का शिलाकित[1] भाषाकाव्य है, जिसका रचयिता रोडा नामक कवि है। इस काव्य मे किसी सामन्त के राउल (राजकुल)–राजभवन की रमणियो का वर्णन है। इसी आधार पर इसका नाम 'राजकुल-विलास' (राउल वेल) रक्खा गया है। उत्तर अपभ्रशकालीन ग्रन्थ होने के कारण हिन्दी के आदि स्वरूप को जानने के लिए यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ से उपलब्ध होने से हिन्दी-भाषा के आदि रूप का विकास-पथ और भी अधिक स्पष्ट हो गया है। इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का भाषापरक अध्ययन डॉक्टर साहब ने ग्रन्थ के रूप मे प्रस्तुत किया है।

इससे पूर्व भी 'हिन्दी अनुशीलन' के धीरेन्द्र वर्मा अभिनन्दनाक मे डॉक्टर साहब का ही इस विषय पर एक परिचयात्मक लेख प्रकाशित हो चुका है जिसमे इसकी भाषा के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। लेख की भाषा पुरानी दक्षिणी कोसली है जिस प्रकार उक्तिव्यक्ति प्रकरण की पुरानी कोसली है। उस पर समीपवर्ती तत्कालीन भाषाओ का कुछ प्रभाव अवश्य ज्ञात होता है। यह भाषा 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण' की भाषा से कुछ प्राचीनतर लगती है[2] जो कि लेख के लेखनकाल के अनुसार होनी भी चाहिए और इससे

सम्पादक डॉ० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी०लिट्०
प्रकाशक मित्र प्रकाशन लि०, इलाहाबाद

१ धार से प्राप्त यह शिलालेख, बम्बई के प्रिस ऑफ वेल्स म्यूजियम मे सुरक्षित है जिसका आकार ४५ इच ३३ इच है जिसका कुछ अश भग्न व खडित है। स्थान-स्थान पर कुछ अश अपाठ्य हैं। इस शिलाकित काव्य को सर्वप्रथम प्रकाश मे लाने का श्रेय डॉ० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी को है जिन्होने इसका मूल मय अपने पाठ तथा अर्थ के और अपनी एक सक्षिप्त भूमिका के साथ अग्रेजी मे प्रकाशित करवाया। भारतीय विद्या भाग १७, अक ३०, पृष्ठ १३०–१४६।

२ 'हिन्दी के विकास मे अपभ्रश का योग' के तृतीय सस्करण मे डॉ० नामवर-नेसिंह इसका स्थान उक्तिव्यक्ति प्रकरण के बाद रखा है—पृष्ठ ८८–९५।

यह प्रमाणित हो जाता है कि हिन्दी और हिन्दी की भाति कदाचित् अन्य आधुनिक आर्य भाषाए भी ग्यारहवी शती ईसवी मे इतनी प्रौढ हो चली थी कि उनमे सरस काव्य रचना हो सकती थी। वे केवल बोलचाल की भाषाए नही रह गई थी।'[1]

इस प्रकार अध्ययन-क्रम मे डॉक्टर साहब का निबन्ध दूसरा रहा, साथ ही पाठ-भेद से एक विवादास्पद समस्या खडी हुई कि कृति मे एक भाषा का प्रयोग है अथवा आठ विभिन्न भाषाओ का जिसके समाधान के लिए आपने 'भारतीय भाषाओ का अध्ययन करने वाले विद्वानो का' आह्वान किया।[2]

मूल समस्या खडी होती है इन अन्तिम पक्तियो से

रोडें राउल वेल वखाणी।
(सा) तह भासह जइसी जाणी ॥

इन पक्तियो मे प्रस्तुत पुस्तक मे डॉक्टर गुप्त उक्त पाठ दे रहे है जबकि पहले आपने (पुणु) तह भासह पाठ दिया था और डॉ० भायाणी ने (आठह) पाठ दिया था। अब तो इसका स्पष्ट अर्थ इस प्रकार हो जाता है 'रोड के द्वारा यह राउलवेल कही गई और सात भाषाओ की, जैसी उसकी जानी थी।' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह काव्य तत्कालीन लोक-भाषा मे लिखा गया है, जिसके लिए लेखक ने 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। 'भाषा' का तत्कालीन लोक-भाषा के लिए प्रयोग उसी प्रकार सार्थक है जैसे तुलसी ने मानस मे अवधी के लिए सस्कृत से इतर भाषा की सज्ञा के लिए 'भाषा' का प्रयोग किया है। आठ भाषा वाली बात तो शिलालेख के पूर्ण सिद्ध हो जाने से स्वय निर्मूल हो जाती है। यह काव्य सात भाषाओ के मिश्रित रूप मे लिखा गया है, इसको सिद्ध करने के लिए ही प्रस्तुत अध्ययन है।

प्रस्तुत अध्ययन से भाषापरक अध्ययन से इतर कुछ अन्य दिशाओ मे भी प्रगति हुई है। शिलालेख से फ्रेम हटवाकर तथा सीमेट खुरचवाकर कुछ अन्य भाग स्पष्ट हो गए है।

---

१ धीरेन्द्र वर्मा अभिनन्दनाक, पृष्ठ २३।

२ मौन भाव से स्वीकार कर मैं अध्ययन मे लग गया था जिसके फलस्वरूप इस विषय पर ही दो निबन्ध प्रकाशित हुए है। २ वर्ष पूर्व कुछ समस्याए जब डॉक्टर साहब के पास भेजी थी तो पत्रोत्तर से पता चल। कि उनका यह अध्ययन समाप्त हो चुका है, अत मेरा अध्ययन वही रुक गया।

३ राउल वेल मे प्रयुक्त क्रियाए—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६६, अक २–४।

४ राउल वेल की भाषा—भारतीय साहित्य, वर्ष ६, अक ४, पृष्ठ १०१–१२१।

(१) लेख इसी शिलाखड पर प्रारम्भ और समाप्त हुआ है और दूसरे यह कि लेख किसी शासन आदि के रूप मे नही उत्कीर्ण हुआ है ।

(२) लेख के आदि मे आए हुए (ओ नम सिद्धेभ्य) ने लेख का प्रारम्भ निर्विवाद कर दिया ।

(३) नीचे के दाहिने कोने पर जो कलापूर्ण आकृति अपने पूर्ण आकार मे उद्घाटित हुई, वह कोई मुद्रा या राजकीय प्रतीक न होकर, कमल-वन की निकली ।

भाषापरक अध्ययन से पूर्व भूमिका मे लेखक ने निम्नलिखित समस्याओ पर सक्षिप्त प्रकाश डाला है

(१) शिलालेख और उसकी दशा
(२) रचना और लेखन-तिथि
(३) रचना और लेखन-स्थान
(४) रचना का विषय
(५) रचना का नाम और उसका कवि ।

इसके पश्चात् मूल पुस्तक 'राउल वेल की भाषा' प्रारम्भ होती है जिसमे मुख्य रूप से लेखक का विश्लेषण इस समस्या के समाधान पर ही केन्द्रित है कि सम्पूर्ण काव्य-ग्रन्थ मे एक भाषा है अथवा अनेक। लेखक ने स्वय प्रारम्भ मे तीन प्रश्न इस प्रकार किए है

(१) पूरे काव्य की भाषा एक ही है, अथवा उसके भिन्न-भिन्न अशो की भिन्न-भिन्न ? अथवा सामान्य रूप से एक किन्तु विभिन्न अशो मे कुछ भिन्न-भिन्न ? यहा यह स्मरणीय है कि रचना के सात अश है आदि-अत तथा छ नखशिख जो छ विभिन्न प्रदेशो की नायिकाओ के है ।

(२) पूरे काव्य की भाषा यदि एक है तो वह कौन-सी है। यदि उसके विभिन्न अशो की भिन्न-भिन्न है तो वे कौन-कौन सी है और यदि सामान्यत एक और विभिन्न अशो मे किसी अश से भिन्न-भिन्न रहे तो वह सामान्य भाषा कौन-सी है और रचना के विभिन्न अशो मे जिन-जिन भाषाओ के तत्त्व मिलते है, वे कोन-कौन-सी है ?

(३) रचना जिस समय की है उस समय की अपभ्रश और औक्तिक भाषाओ के जो उदाहरण उपलब्ध है उनसे तुलना करने पर रचना की भाषा या भाषाओ के सम्बन्ध मे क्या परिणाम निकाले जा सकते है ?

तत्पश्चात् 'लिपि और लेखन वैशिष्ट्य' पर प्रकाश डाला गया है । रचना के शब्द-रूप अध्ययन के अन्तर्गत लेखक ने प्रत्येक 'नख-शिख' के आधार पर पृथक्-पृथक्

शब्द रूपो का विश्लेषण प्रस्तुत कर शेष पक्तियो (आदि व अन्त) का पृथक् से कर दिया गया है। चौथे भाग मे 'रचना के शब्द रूपो की विभिन्न अपभ्रशो मे स्थिति स्पष्ट की गई है और सृष्टि के हेतु तगारे की अपभ्रश व्याकरण, सन्देश रासक और उक्ति व्यक्ति प्रकरण मे नियम उद्धत किए गए है। साथ ही यह देखने का प्रयत्न भी किया गया है कि कौन सा रूप कितने नख-शिखो मे प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ

सज्ञा कर्ता कारक (मल रूप)

१ (१, २, ३, ४, ५, ६) एक पु० प्रत्ययहीनता प० पू० द० तगारे ८०बी, ९५बी०१, उ० सन्देश० ५२, ५५, म पू० उक्ति०, ५९ १।

इस प्रकार की समस्या का हल ढूढने के लिए यह विधि ही सर्वोत्तम है जिसको मैने भी अपने उपर्युक्त लेखो मे अपनाया है। मैने सर्वनामो का तुलनात्मक चार्ट सन्देश रासक, दोहाकोश, उक्ति व्यक्ति प्रकरण तथा राउल वेल चार ग्रन्थो के आधार पर प्रस्तुत किया है। डाक्टर साहब ने ११वी शताब्दी के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "दोहा कोश" को छोड दिया है। फिर भी यह अध्ययन इतना गम्भीर, विशद एव तुलनात्मक विवेचन पद्धति पर आधारित है कि इससे शुद्ध निष्कर्ष प्राप्त हुए है।

साख्यिकी का भी पूरा-पूरा प्रयोग किया गया है और पाचवे भाग मे 'रचना का सप्त भाषात्मक रूप' प्रस्तुत किया गया है। कुल २८९ शब्द रूपो मे से १२ विशेषण हैं और ७८ ऐसे रूप है जो उन ग्रन्थो मे नही मिलते जिनसे तुलना की गई है। अतएव ९० रूपो को छोडकर १९९ की स्थिति इस प्रकार है

	पश्चिमी	पूर्वी	दक्षिणी	उत्तरी	मध्यपूर्वी
१९९	१०९	५९	७१	७५	११११

अत स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि रचना मे सर्वाधिक बाहुल्य पश्चिमी तथा मध्यपूर्वी के रूपो का है। यही निष्कर्ष विभिन्न अशो के आकडो के योग मे भी निकलते है जिसको लेखक के ही शब्दो मे इस प्रकार कहा जा सकता है

फलत प्रस्तुत लेखक का मत है कि रचना सामान्य रूप से दक्षिण कोसली मे रची गई थी जिसमे नायिकाओ की प्रादेशिकता के अनुसार उनकी औक्तिक बोलियो के कुछ तत्त्व रक्खे गए थे। रचना का आदि-अन्त दक्षिण कोसली मे है और नखशिखो मे क्रमश पश्चिमी हिन्दी, मराठी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी अथवा गुजराती, टक्किणी, गौडी तथा मालवी के तत्त्व है, यही रचना का सप्त भाषात्मक रूप है जिसकी ओर उसके रचयिता ने '(सा) तह भासह जइसी जाणी' कहकर सकेत किया है।

इस जटिल समस्या का समाधान लेखक ने जिस वैज्ञानिक पद्धति से साख्यिकी का आश्रय लेकर निष्पक्ष रूप से किया है वह वस्तुत आदर्श है। यह भी स्पष्ट दिखाई दे

रहा है कि पश्चिमी रूपों का बाहुल्य है और प्रादेशिक रूपों की यत्र-तत्र छाया है। विशेषकर पूर्वी, उत्तरी तथा दक्षिणी रूप गौण है।

पुस्तक मे इसके बाद पृष्ठ ८७ से ९२ तक मूल पाठ और पृष्ठ ९५ से १०३ तक भाषान्तर है जिसमे सास्कृतिक शब्दो की पाद टिप्पणियाँ भी दी गई हैं।

अन्त मे शब्दानुक्रमणी से पुस्तक की उपयोगिता निस्सन्देह बढ गई है। इसमे केवल अकारादिक्रम से शब्द तथा उनके रेफरेंस ही नही दिए गए है वरन् व्याकरणिक टिप्पणियो, लिग-निर्णय, शब्दो की व्युत्पत्तिया, देशज शब्दो का निर्देश, शब्दार्थ तथा मिलते-जुलते रूपो के निर्देश भी अकित किए गए है। उदाहरणार्थ

आनिक वि० (आणिक्क-देशज)। =वक्र, बाका, आनिक ७, आनिकु ८, आनिकु ८, आनिक, ९, आनिक ९।

व्युत्पत्तियो के विवेचन मे डाक्टर साहब ने सीधे सस्कृत के रूप ही दिए है। मध्यकालीन प्राकृतो के रूप देने से कडिया कुछ जुडी-सी मालूम देती। 'उपइल' वि० (उत्पतित) से माना गया है जिसका प्राकृत रूप उप्पइअ मिलता है। 'कन्नवास' को (कर्ण+पार्श्व) से सिद्ध किया है, यदि इसको प्राकृत रूप कन्नायम (कर्णावतस) (पाइअलच्छीनाममाला, पक्ति २५५) कान का गहना कुडल से माना जाय तो उचित रहेगा।

'ओलग' शब्द का प्रयोग १४, २२ तथा ३७वी पक्ति मे हुआ है जिसका अर्थ हेमचन्द्र की देशीनाममाला के १ १६० के आधार पर 'ओलअणी' नववधू किया है, 'अव+लग्' से बना ज्ञात होता है। साथ ही बीसलदेव रास के उद्धरणो के आधार पर सेवा या चाकरी भक्ति अर्थ भी दिया गया है। मेरी दृष्टि मे द्वितीय अर्थ अधिक समीचीन है। देशीनाममाला के १ १६० के बजाय उसी ग्रन्थ के १ १६४ पर 'ओलुग्गो' रूप भी सेवक के अर्थ मे मिलता है जो प्रयुक्त रूप 'ओलग' से अधिक निकट है।

निस्सन्देह यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भाषा एव साहित्य के इतिहास मे एक नवीन कडी के रूप मे सिद्ध होगा। अभी तो इस ग्रन्थ का भाषापरक अध्ययन ही हुआ है, इस ग्रन्थ का सास्कृतिक पक्ष भी इतना ही सबल है कि उस पर सास्कृतिक अध्ययन पृथक् से किया जाय।

———

सभाशृंगार

डॉ० भोलाशंकर व्यास

यद्यपि कविकर्म मे प्राय सभी भारतीय एव पाश्चात्य आलोचको ने प्रमुख निमित्त कारण सहज नैसर्गिकी शक्ति 'प्रतिभा' को माना है, तथापि वे इस बात का सकेत करते नही भूलते कि इसके लिए काव्यशास्त्रादि के अनुशीलन की निपुणता और काव्यरचना का अभ्यास भी परमावश्यक है। सहज प्रतिभा को ये दो गुण, निपुणता और अभ्यास और अधिक निखार देते है। यही कारण है कि उदात्त कोटि के कविकर्म के लिए तीनो का एक साथ होना बहुत जरूरी माना गया है और प्रतिभा को प्रधानता देने वाले ध्वनिवादी आनन्दवर्धन के परम्परा-शिष्य मम्मट तक ने तीनो को एक साथ मिलाकर काव्य का हेतु या निमित्त कारण माना है (हेतुर्न तु हेतव —काव्य-प्रकाश)। इतना होने पर भी कविकर्म मनोरजन का साधन होने के कारण मध्य युग मे ऐसे लोगो के हाथो का खिलौना भी बन गया, जिनमे सहज प्रतिभा न होते हुए भी केवल निपुणता और अभ्यास के द्वारा काव्यसिद्धि देखी जाती है। ऐसे कवि काव्यरचना के कुछ नुस्खे सीखकर, कुछ गुर हिब्ज करके कविता के अखाडे मे पैंतरे बदलते देखे जाते है। शायद ऐसे ही अभ्यासी कवियो को सकेत करके कवि ठाकुर ने कहा था —'ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच, लोगन कबित्त कीबो खेल करि जानो है।'

हमारे यहा काव्यरचना के क्षेत्र मे भी गुरु-शिष्य-परम्परा पर काफी जोर दिया जाता रहा है, ठीक वैसे ही जैसे उर्दू शायरी मे किसी उस्ताद से इसलाह लेना बहुत जरूरी माना जाता है। मध्य युग मे तो इस प्रकार के अनेक वैयक्तिक और राजकीय विद्यालयो का पता चलता है, जहा मजे हुए कविगुरु शिष्यो को काव्य-रचना की शिक्षा देते थे। काव्य मे वर्ण्य विषय का उपादान कैसा हो, उक्ति मे वक्रता कैसे लाई जाए, पुराने सिद्धहस्त कवियो की परम्परा का निर्वाह करते हुए काव्य मे किन रूढियो और कविसमयो का ध्यान रखा जाए, इसकी पूरी शिक्षा नौसिखियो को दी जाती थी।

सकलनकर्त्ता तथा सम्पादक अगरचन्द नाहटा
प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

मध्ययुगीन व्रजभाषाकाव्य के विकास मे इस शिक्षा का हाथ स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह परम्परा वैसे बहुत पुरानी है और इसका सकेत राजशेखर की 'काव्य-मीमासा', अमरसिह की 'कविकल्पलतावृत्ति' जैसे सस्कृत साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे मिलता है। काव्यरचना के विविध अगोपागो को ध्यान मे रखते हुए नए कवियो के लिए ऐसे अनेक ग्रन्थो की परम्परा सस्कृत, प्राकृतापभ्रश और नव्य भारतीय आर्यभाषाओ मे मिलती है। इसी परम्परा की एक कडी नागरी प्राचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित 'सभाशृगार' है, जिसका सम्पादन अनेक मध्ययुगीन हस्तलेखो के प्रसिद्ध सग्रहकर्ता श्री अगरचन्द नाहटा ने किया है।

यह रचना वर्णक-साहित्य के अन्तर्गत आती है जिसका तात्पर्य काव्य-विषय मे सम्बद्ध विविध प्रकार की वर्णन शैलियो का निदर्शनात्मक सकलन है। प्रस्तुत सम्पादन के भूमिका-लेखक डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने बताया है कि प्राकृत भाषा मे इस अर्थ मे 'वण्णओ' शब्द मिलता है जिसका तात्पर्य कथ्य के आदर्श वर्णन से है। प्राचीन मान्य कवियो ने नगर, वन, उपवन, पर्वत, सागर, राजा, रानी, राजकुमार, युद्ध-प्रयाण आदि विविध विषयो का जैसा वर्णन किया है, उसी के अनुसार वर्णनो की सूची इन वर्णन-ग्रन्थो मे मिलती है। नगरादि के वर्णन का ऐसा सकेत दण्डी के 'काव्यादर्श' मे भी मिलता है जिसका प्रभाव केशवदास की 'कविप्रिया' मे मिलता है। किन्तु इन ग्रन्थो मे ये वर्णन केवल प्रसगत सकेतित है, जबकि वर्णक-ग्रन्थो मे प्रत्येक प्रकार के वर्णनो की विस्तृत सूची मिलती है। इस तरह का पहला प्रकाशित ग्रन्थ ज्योतिरीश्वर ठक्कुर का 'वर्णरत्नाकर' है, जिसका सम्पादन डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या तथा पडित बबुआ मिश्र ने किया था। यह ग्रन्थ काव्यरूढियो के अध्ययन की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ ही है, किन्तु इसका भाषावैज्ञानिक और सास्कृतिक महत्त्व भी नगण्य नही है। डॉ० भोगीलाल साडेसरा ने भी प्राचीन गुर्जर ग्रन्थमाला मे इसी तरह के एक अन्य ग्रन्थ 'वर्णक समुच्चय' का प्रकाशन किया है और मराठी मे भी इस परम्परा के एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "बैजनाथकलानिधि' का पता चलता है, जो अभी प्रकाशित नही हुआ है। 'सभाशृगार' भी परम्परा का राजस्थानी ग्रन्थ है। इस तरह के और ग्रन्थ भी राजस्थानी मे है, जिनमे दो रचनाए प्रोफेसर नरोत्तम दास स्वामी ने प्रकाशित की है। ऐसा जान पडता है कि मध्ययुग के दरबारी कवियो, भाटो और चारणो के यहा ऐसे वर्णन-सग्रह हुआ करते थे जिनसे समय-समय पर सहायता लेकर वे प्रसगानुकूल रचना करते थे। इन्ही मे से एक सग्रह प्रस्तुत 'सभाशृगार' है।

प्राय सभी वर्णक ग्रन्थो मे एक सी काव्यरूढिया और कविसमयोक्तिया मिलेगी। निदर्शनार्थ हम यहा दो समानान्तर चन्द्रोदय-वर्णनो को तुलनार्थ उपस्थित कर रहे है।

(१)

"निशाक नाइकाक शखवलय अइसन आकाश, दीक्षित (क) कमण्डल अइसन, चन्द्रकातक प्रभा अइसन, तारकाक सार्थवाह अइसन, शृँगार समुद्रक कल्लोल अइसन,

कुमुदवनक प्राण अइसन, पश्चिमाचलक तिलक अइसन, अन्धकारक मुक्तिक्षेत्र अइसन, कन्दर्प्पनरेद्रक यश अइसन, लोकलोचनक रसायन अइसन, एवम्विध चन्द्र उदित भउअह।"

(वर्णरत्नाकर)

(२)

गजलक्ष्मी स्फाटित दर्प्पणु, चकोर सन्तर्प्पणु।
अमृतमय किरणु, तिमिर हरणु।
मुग्धवधू विदग्ध शिक्षिणोपाय, प्रणय कुपित कामिनी माननोपाय
विरहिणो हृदय करपत्रधातु, चकोर दत्तलातु।
चक्रवाकु नि कारण शत्रु, कन्दर्प्पराजनउ छत्रु।
अमृतइ भरिया चन्द्रकान्तु, यामिनी-कामिनी कान्तु।
प्रकाशित कुमुदाकार, इस्यउ ऊग्यउ रजनीकार॥'

(सभाशृगार, पृ० १२०)

'सभाशृगार' मे वनस्पतियो, हाथी-घोडो, अस्त्र-शस्त्रो, वस्त्रो, विविध व्यजनो आदि की लम्बी तालिकाये भी मिलेगी जो सास्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जहा 'वर्णरत्नाकर' मे चौदहवी शताब्दी के भारतीय और विशेषत मैथिल जनजीवन की झाकी मिलती है, वहा 'सभाशृगार' मे सोलहवी-सत्रहवी शती के मुगलकालीन मध्यप्रदेश का चित्र मिलेगा। जैसा कि भूमिका-लेखक ने कहा है 'सभाशृगार' मे ऐसे अनेक नाम मिलेगे जिनकी सास्कृतिक शोध-खोज के लिए पूरे निबन्ध की आवश्यकता होगी। 'सभाशृगार' का दसवा विभाग इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है जिसमे हमारे पारिवारिक जीवन का सास्कृतिक चित्र मिलेगा। वेश-भूषा, आभूषण, रत्न, भोजन की विविध सामग्री, विवाहादि मागलिक अवसरो पर पाई जाने वाली विविध प्रथाए यहा अकित है। वर्ण्य विषयो की इन विविध तालिकाओ का प्रयोग समय-समय पर कविगण करते रहे है। 'सन्देशरासक' मे वनस्पतियो की लम्बी सूची, जायसी के 'पदमावत' मे विविध जाति के घोडो और तरह-तरह को भोजन-सामग्री की सूची को निदर्शन के रूप मे उपस्थित कर सकते है। इसी तरह की सूची 'सभाशृगार' मे भी मिलेगी। 'सभाशृगार' के ये वर्णन मध्ययुगीन सामन्ती वातावरण से पूरी तरह प्रभावित है। वैसे कुछ स्थानो पर सामान्य जन-जीवन का चित्र भी मिलता है जहा राजस्थान का स्थानीय रग चटक पडा है। उदाहरण के रूप मे पनघट के इस वर्णन को उद्धृत किया जा सकता है।

बईरा नी भीड, हुइ पीड, त्रूटें चीड।
एक ऊतावली दोडे छै, एक माथै बेहडू चोहडे छै।
लूगुडु ते माथै ओढ़ें छइ, बेहडो ते फोड़े छइ।
एक एकनै अडे छइ, धडाधड पड़ें छइ।

माहो माहि लडे छइ ।
हवें नान्ही लाडी, चोखल थी पडें आडी ।
बीजी नी भोजाइ साडी, ते माटेइ करे राडी
सोक सोक नी करइ चाडी, डोले जांडी ।
खीजें माडी, सासूइ पाछी ताडी । (सभा० पृ० २७)

प्रस्तुत कृति से राजस्थानी गद्य-साहित्य की प्रौढ़ अवस्था का परिचय मिलता है, जो तुकान्त गद्य शैली का सुन्दर निदर्शन है। ऊपर उद्धृत दो गद्यांशो से यह स्पष्ट होगा कि 'सभाशृंगार' के गद्य मे प्राय सर्वत्र वाक्यांत मे तुक का निबन्धन पाया जाता है। तुकान्त गद्य-शैली मध्ययुगीन गद्य-साहित्य की एक खास विशेषता रही है और यह पुराने फारसी और उर्दू गद्य-साहित्य मे भी उपलब्ध है। गद्य मे लय का निर्वाह करने के लिए इस तकनीक को अपनाया जाता था।

'सभाशृंगार' का महत्त्व भाषा की दृष्टि से भी कम नही है। सोलहवी-सत्रहवी शती की कथ्य राजस्थानी के अनेक पदरचनात्मक और वाक्यरचनागत प्रयोग इसमे मिलते है। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ भाषावैज्ञानिक पद्धति पर सम्पादित नही है फिर भी इस ग्रन्थ मे उपलब्ध यथास्थित भाषा का, विशेषत इसकी पदरचना और शब्दकोश का, अध्ययन उपयोगी साबित हो सकता है ।

———

चैतन्यमत और ब्रज-साहित्य

डॉ० शरणबिहारी गोस्वामी

ब्रजभाषा-साहित्य के अध्ययन के दो लाभ अत्यन्त स्पष्ट है, प्रथम साहित्यानु शीलन और द्वितीय ब्रजभाषा-साहित्य के प्रमुख प्रतिपाद्य-विषय श्री कृष्ण-भक्ति व आनन्दानुभव । ब्रजभाषा-साहित्य का अधिकाश भाग कृष्ण-कीर्तन मे ही व्यय हुआ है किसी भी समृद्ध भाषा के साहित्य मे विषय की इतनी एकरसता शायद ही उपलब्ध होती हो । कृष्ण-भक्ति की यह व्यापकता न केवल ब्रजभाषा-साहित्य मे ही अवतरित हुई अपितु भारतवर्ष की आसेतु-हिमाचल समस्त भाषाओ के कवियो ने उस पुनीत पायोधि मे निमज्जन किया । वस्तुत उस महती भारतीय हृदय की एकतान प्रेरणा का अध्ययन अत्यधिक गौरवास्पद ही नही, आश्चर्यजनक भी है । ग्रियर्सन जैसे विद्वान् आवेगमयी भक्ति के इस प्रबल प्रवाह को लक्ष्य कर विस्मित हो गए थे । भक्ति के इस पीयूष ने ही भारतीय जीवन को अमरता और एकसूत्रता प्रदान की है । पराधीनता की गहन तमिस्र को इसी ने हमे तरी बन कर पार करने की अमित शक्ति दी है, इसमे किचिन्मात्र भ सन्देह नही ।

मध्ययुग मे भक्ति का यह प्रबल प्रवेग किस एक स्थान से आरम्भ हुआ, ऐस किसी भी भारतीय को, कम से कम, साधन-दृष्टि से जानने की आवश्यकता कभी पडी । भक्ति किसी प्रदेश-विशेष का स्थानीय आन्दोलन नही था, यह समस्त देश का थ समान रूप से सभी का अपना था । वैयक्तिक धर्म होते हुए भी, भक्ति का यह आन्दोल समूहबद्ध सम्प्रदायबद्ध था । भक्ति-साधन एक साथ ही वैयक्तिक, सम्प्रदायबद्ध आ इन सबसे परे अखिल भारतीय भी था । इसके व्यापक परिवेश मे न केवल कृष्णभक्त अपितु रामभक्त, शिवभक्त और भगवान् के अन्य समस्त रूपो के उपासक भी आ जा थे । यो, सख्या की विपुलता और सम्प्रदाय-निष्ठता के आधार पर कृष्ण-भक्तो की सख्य इनमे सर्वोपरि मानी जा सकती है ।

दैव का यह विचित्र विधान ही था कि पराधीनता के परवश प्रत्यूष मे ही भार मे प्रथम कोटि के इतने भक्तो का एक-साथ उदय हुआ कि राजनीतिक आधी को भारतीय

लेखक — प्रभुदयाल मीतल
प्रकाशक — साहित्य सस्थान, मथुरा
मूल्य — १० रुपए, पृ० स० ४३६, सचित्र

ने हसते-हसते ही झल लिया। इतिहास कहता है कि जिस वर्ष महमूज गजनवी ने मथुरा के प्रसिद्ध कृष्ण-जन्म-भूमि के मन्दिर को तोड़ा, उसी वर्ष अर्थात् स० १०७४ वि० मे वैष्णवो के प्रथम आचार्य रामानुज का जन्म हुआ। सिकन्दर लोदी के क्रूर शासनकाल (स० १५४६ से १५७४ वि० तक) के आस-पास ही महाप्रभु वल्लभाचार्य, सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, स्वामी हरिदास, हितहरिवश गोस्वामी, हरिराम व्यास, मीराबाई, चैतन्य महाप्रभु, उनके पार्षद रूप-सनातन आदि शतश महापुरुषो ने अवतार धारण किया। इन्ही का यह प्रबल प्रताप था कि भारत आज भी अपनी प्राचीन परम्पराओ सहित जीवित है अन्यथा काल-ज्वाल तो न जाने कितने देशो की सस्कृति को पूरी तरह निगल ही गया था।

चैतन्य महाप्रभु का इन भक्त-शिरोमणियो मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके अतिमानवीय बौद्धिक स्तर का विवरण उनके अनुयायियो द्वारा लिखे ग्रन्थो से प्राप्त होता है, परन्तु उनकी भाव-सम्पत्ति का पारावार तो अपार था। उसका वारपार न था। इन्द्रियलोलुप तात्रिक बगाल को उन्होने राधाकृष्ण की पावन कीर्तन-लहरी से नचा दिया, सचमुच नचा दिया। बगाल मे ही नही, भारत भर मे, भक्ति की ऐसी सरस और उद्दाम धारा का भगीरथ दूसरा और कौन था? चैतन्य ने बगाल से वृन्दावन तक की यात्रा की, उधर वे नीलाचल-जगन्नाथपुरी मे रहे। अपने युग के श्रेष्ठतम मेधावियो को उन्होने अपने पथ का पथिक बनाया और भक्ति-धर्म का प्रचार किया। चैतन्य का प्रभाव बग-सस्कृति पर इतना गहन है कि चैतन्य के बिना बगाल की कल्पना ठीक उसी प्रकार नही की जा सकती, जैसे भारत का कल्पना बिना राम-कृष्ण के सम्भव नही है। चैतन्य ने कृष्ण की लीलाभूमि वृन्दावन को अपने धर्मप्रचार का केन्द्र बनाया और रूप-सनातन आदि छ गोस्वामियो को वहा भेजा। फिर तो बगालियो ने ब्रज-प्रदेश और उसकी सस्कृति के निर्माण मे भारी योगदान दिया और आज भी उनके प्रभाव को अस्वीकार करना सम्भव नही है। चैतन्यमत का ब्रज मे भी पर्याप्त प्रसार हुआ।

इस सम्प्रदाय के विद्वानो ने अपने ग्रन्थो की रचना प्रमुखत सस्कृत भाषा मे की। इन उच्चस्तरीय ग्रन्थो ने चैतन्यमत के प्रचार-प्रसार मे भारी सहायता दी है। बग-भाषा साहित्य तो चैतन्य मत के प्रभाव से एक नवीन युग मे ही परिवर्तित हो गया। ब्रजभाषा मे अन्य अनेक कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायो का साहित्य पहले से ही रचा जा रहा था, उसमे भी इस मत के अनुयायियो ने अपनी सरस वाणी प्रस्तुत की। चैतन्य मत से प्रभावित ब्रज-साहित्य-धारा का प्रवाह भी अनवरत रहा है और उसका अध्ययन हमे चैतन्य-मत के व्यापक प्रभाव का परिचय देने मे समर्थ है।

इधर ब्रजभाषा के भक्ति साहित्य का सम्प्रदायश विशेष अध्ययन हुआ है। विभिन्न सम्प्रदायो पर अनेक शोध-प्रबन्ध लिखे गए है। चैतन्य-सम्प्रदाय पर भी कई विश्वविद्यालयो मे विषय पजीकृत हुए परन्तु उनमे से अभी तक कोई भी सम्पूर्ण होकर सामने नही आया। इस सम्प्रदाय के बहुत थोड़े-से ही कवि हिन्दी के इतिहासकारो को

ज्ञात थे। प्रसन्नता की बात है कि ब्रज के ही निवासी सूर-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् श्री प्रभुदयाल मीतल ने इस सम्प्रदाय के अध्ययन का कार्य उठाया और अत्यधिक परिश्रम करके उन्होने इसे पूर्ण भी कर दिया। उनका यही परिश्रम प्रस्तुत ग्रन्थ मे साकार हुआ है। इस ग्रन्थ मे उनकी सफलता का अकन इस बात से ही हो जाता है कि उनके इस ग्रन्थ मे इस सम्प्रदाय के इतने कवियो का परिचय एकत्र हो गया है, जितने कवियो की आशा उन्हे न थी, दूसरो को तो कल्पना भी न थी।

'चैतन्य-मत और ब्रज-साहित्य' का लेखन विश्लेषणात्मक पद्धति पर न होकर इतिहास-प्रणाली पर हुआ है। इस ग्रन्थ के दो खड किए गए है। प्रथम खड मे सम्प्रदाय के सस्थापक चैतन्य महाप्रभु और उनके सहकारी भक्तो के परिचय के साथ ही चैतन्य-मत-परिचय, उसके दार्शनिक सिद्धान्त, सम्प्रदाय का साहित्यिक गौरव, चैतन्य-मत की सास्कृतिक निधि आदि का विवरण प्रस्तुत किया गया है और ग्रन्थ के द्वितीय खड मे चैतन्य-युग से लेकर आज की तिथि तक होने वाले समस्त चैतन्य-मतानुयायी कवि-लेखको का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इन कवियो की मूल सख्या १०३ है तथा अज्ञात नामो को मिलाकर यह सख्या १२२ तक पहुच गई है। स्पष्ट है कि विषय का फलक अत्यन्त विस्तृत है अत न तो आरम्भ मे दार्शनिक सिद्धान्तो आदि का गम्भीर विश्लेषण करने का अवकाश लेखक को था और न कवियो के सन्दर्भ मे उनकी साहित्यिक कृतियो का काव्यपरक अध्ययन लेखक ने अपना अभीष्ट माना। कवियो के सक्षिप्त परिचय और उनकी रचनाओ के उदाहरण से ही ग्रन्थ का कलेवर विशद हो गया है। इसमे सन्देह नही कि सामग्री सकलन की दृष्टि से यह ग्रन्थ इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे आगे भी होने वाले कार्यो से आगे ही रहेगा। लेखक ने सकलित सामग्री का विनियोग बडी ही वैज्ञानिक पद्धति से किया है। यह सत्य है कि इस ग्रन्थ मे उल्लिखित रामराय जी की परम्परा के अनेक कवियो की रचनाओ के सम्बन्ध मे, पूर्ण अध्ययन के अभाव मे, अनेक शकाए बनी रहेगी फिर भी साहित्य की विपुलता की दृष्टि से यह ग्रन्थ अपने विषय का पहला और पूर्ण ग्रन्थ प्रतीत होता है।

लेखक की प्रतिपादन शैली और भाषा की सरलता तथा सचिक्कणता ने इस ग्रन्थ को उपयोग और रजना की दृष्टि से सफल तथा अनेक चित्रो की योजना द्वारा इस प्रकाशन को ओर भी नयनाभिराम बना दिया है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना के लिए मीतल जी अतीव बधाई के पात्र है, विशेष रूप से इसलिए कि अपनी वृद्धावस्था मे भी वे इतना अधिक परिश्रम कर हिन्दी-साहित्य की सेवा कर रहे है। यही उनके शेष जीवन की चाह है कि ब्रज-साहित्य का जो कुछ भी अप्रकाशित महत्त्वपूर्ण है, उसे वे प्रकाशित कर सके, सुधीजन के समक्ष ला सके। आजकल मीतल जी, जिस साधना मे रत है, वह है 'ब्रज साहित्य का विशद इतिहास' की रचना। उनके द्वारा लिखे गए इतिहास की निश्चित रूप से हिन्दी-जगत् को आवश्यकता है और आशा है कि ईश्वर उन्हे यह कार्य पूर्ण करने की सामर्थ्य प्रदान करेगा। जहा तक उनके प्रस्तुत ग्रन्थ के हिन्दी-जगत्

द्वारा स्वागत और सराहना का प्रश्न है उसका एक बडा प्रमाण यह है कि मीतल जी को इस ग्रन्थ पर उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से पन्द्रह सौ रुपए का पुरस्कार प्राप्त हुआ है। इन पक्तियो के लेखक ने इस पुरस्कारावसर पर जब मीतल जी को बधाई भेजी तो उन्होने जो उत्तर दिया, उसमे उनकी सहृदयता स्पष्ट झलकती है, उन्होने लिखा है —

"प्रियवर श्री गोस्वामीजी,

सप्रेम नमस्कार ! मेरी पुस्तक 'चैतन्य-मत और ब्रज-साहित्य' के पुरस्कार पर आपकी बधाई का कृपा-पत्र प्राप्त हुआ। इसके लिए मै आपका अत्यन्त आभारी हू। राज्य-शासन द्वारा पुस्तक का सम्मानित होना मेरे लिए इतना महत्त्वपूर्ण नही है, जितना इस सम्बन्ध मे आप-जैसे सभी मित्रो की शुभकामनाओ का प्राप्त होना।"

मुझे विश्वास है कि हिन्दी-जगत् उनकी अन्य कृतियो के समान प्रस्तुत ग्रन्थ का भी स्वागत करेगा और उनकी भावी कृति की शुभकामनाओ सहित प्रतीक्षा करेगा।

———

कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ

डॉ० कन्हैयालाल सहल

विवेच्य कृति मे डॉ० नगेन्द्र के कामायनी-विषयक पाच व्याख्यान सकलित है। प्रथम व्याख्यान मे पाठालोचन, सम्बद्ध बिम्ब-विधान और पारिभाषिक शब्दो के अध्ययन की आवश्यकता, स्वतन्त्र बिम्ब-विधान (जिसमे कथावस्तु और काव्य-रूप का भी अन्तर्भाव हो जाता है), कामायनी के अगी रस, आधारभूत दर्शन तथा मूल्याकन की समस्या पर सक्षेप मे विमर्श तथा निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए है। यह व्याख्यान परवर्ती व्याख्यानो के लिए पृष्ठभूमि का काम देता है।

प्रस्तुत व्याख्यान मे नवीन काव्यो के पाठालोचन के सम्बन्ध मे पाठको का ध्यान आकृष्ट कर लेखक ने एक उपयोगी कार्य किया है। सम्यक् मुद्रण और पाठालोचन के विषय मे हमारे यहा अपेक्षया कम ध्यान दिया जाता है। कामायनी जैसे महत्त्वपूर्ण काव्य का प्रत्येक विराम-चिह्न सुनिश्चित होना चाहिए ताकि व्याख्या मे किसी प्रकार का दिग्भ्रम न हो। एक प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् के सम्बन्ध मे आचार्य मुनि जिनविजयजी ने मुझे बताया था कि अन्तिम प्रूफ-सशोधन करके जब वे प्रेस मे अपने आवास को लोट रहे थे तब उन्हे अकस्मात् स्मरण हुआ कि एक अक्षर का टाइप उलटा रह गया है और प्रूफ सशोधन के समय उसे ठीक नही किया गया है। इसलिए, वे उसी समय प्रेस की ओर लोट चले और अक्षर को विधिवत् लगा कर ही अपने स्थान को पहुचे।

डॉ० नगेन्द्र ने प्रस्तुत व्याख्यान मे 'मनु तन्मय बैठे उन्मन' के जिस प्रातिभासिक विरोध का तन्त्रालोक के उद्धरण द्वारा स्पष्टीकरण किया है, वह उचित ही है किन्तु जहा तक मै समझता हू, हठयोग तथा निर्गुण साहित्य मे प्रयुक्त 'उन्मन' शब्द कामायनी के 'उन्मन' से किसी प्रकार भिन्न प्रतीत नही होता। इस सम्बन्ध मे गोरख और कबीर की निम्नलिखित पक्तिया उल्लेख्य है —

लेखक	डॉ० नगेन्द्र
प्रकाशक	नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली
मूल्य	३ रुपए

१. अवधू दम कौं गहिबा उनमनि रहिबा। (गोरख)
२. मन लागा उनमन्न सौं, गगन पहूचा जाइ। (कबीर)
३. मन लागा उनमन्न सौं, उनमन मनहि बिलग्ग। (कबीर)
४. मन उनमन उस अड ज्यू, अनल अकासा जोइ। (कबीर)

'हठयोग प्रदीपिका' मे मन के सुस्थिरीभाव को 'उन्मनी अवस्था' की सज्ञा दी गई है--

मारुते मध्यसचारे मन.स्थैर्य प्रजायते ।
यो मन सुस्थिरीभाव सैवावस्था मनोन्मनी ।।

उन्मनी अवस्था को प्राप्त योगी शख दुदुभि-नाद नही सुनता, उसकी देह काष्ठवत् हो जाती है।

शख दुन्दुभिनाद च न शृणोति कदाचन।
काष्ठवज्जायते देहे उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ।।

उन्मन मनु ने भी यदि शत-शत मधुपो का गुजन न सुना हो तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही।

उक्त शास्त्रीय विवेचन के आधार पर 'उन्मन' शब्द को क्या उद्+मन अर्थात् ऊर्ध्व मन का वाचक नही माना जा सकता ?

लेखक ने प्रथम भाषण मे अध्ययन की समस्याओ पर ही अधिक विचार किया है, अध्यापन की समस्याओ पर उतना नही। 'उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते है' के सम्बन्ध मे एक बार अध्यापन के समय मुझे भी कुछ कठिनाई प्रतीत हुई थी। मैने जब उक्त पक्ति की चलती-सी व्याख्या कर दी तो एक प्रबुद्ध छात्र ने 'उज्ज्वल वरदान' का आशय जानना चाहा। तनिक सोचने के बाद मैने उत्तर दिया था कि मानवेतर प्राणियो मे चेतना का उज्ज्वल रूप प्राप्त नही होता, उनकी चेतना धूमिल होती है। अत सौन्दर्य-बोध उनके भाग्य मे कहा ? सौन्दर्य-बोध की शक्ति तो उज्ज्वलचेतना-विशिष्ट मानव को ही वरदान के रूप मे सुलभ हुई है।

'उपचार-वक्रता' की कृपा से उक्त अर्थ मेरे ध्यान मे आ गया था जहा 'उज्ज्वल' वरदान का विशेषण न बन कर चेतना का विशेषण बन गया। देश-विदेश की अनेक शोध-पत्रिकाओ मे आज भी अनेक अस्पष्ट अथवा धूमिल वैदिक ऋचाओ की व्याख्या यदा-कदा देखने को मिल जाती है, कामायनी के सम्बन्ध मे भी इस प्रकार के प्रयत्न अपेक्षित है। व्याख्या के अतिरिक्त कामायनी के अध्यापन की अन्य समस्याए भी है वह क्या काव्य-रस का रूप धारण कर सका है ? लगता है कि इस महाकाव्य मे 'आनन्द

जिनके स्पर्श से विषयान्तर हो जाएगा। दूसरे व्याख्यान मे लाजाइनस के उदात्त तत्त्व के आधार पर कामायनी के उदात्त कथानक, उदात्त कार्य, उदात्त भाव, उदात्त चरित्र तथा उदात्त शैली पर नए ढग से विचार किया गया है। उदात्त कथानक तथा उदात्त कार्य का एक ही शीर्षक के अन्तर्गत विवेचन सम्भवत अधिक वैज्ञानिक होता।

कामायनी को किस प्रकार का महाकाव्य कहा जाए ? क्या यह प्रगीतात्मक (Lyrical) है, क्या यह अन्यापदेशात्मक (Allegorical) है अथवा क्या यह उदात्त (Sublime) है ? निश्चय ही इसमे तीनो के गुण प्राप्य है। फिर भी यह लगता है कि प्रगीत और अन्यापदेश जहा 'रूप' से सम्बद्ध है, वहा उदात्त का सम्बन्ध 'भाव' से अधिक है। सामान्यत अनेक महाकाव्यो के निर्माण के बाद महाकाव्य का लक्षण स्थिर हो पाता है किन्तु कामायनी अपने ढग का अकेला एक ऐसा महाकाव्य है जो स्वय अपना प्रतिमान है। इस लक्ष्य-ग्रन्थ के आधार पर ही कामायनी महाकाव्य का स्वरूप-निर्धारण करना होगा।

अरविन्द की भाति महाकाव्य के रूप के सम्बन्ध मे प्रसाद भी कुछ इसी तरह का मत प्रकट कर सकते थे--

"The epic is only the narrative presentation on its largest canvas, at its highest elevation, greatness and amplitude of spirit and speech and movement It need not necessarily be a vigorous presentation of external action This indeed may be the song of greatest flight that will reveal from the highest pinnacle and with the largest field of vision the destiny of the human spirit and the presence and ways and purpose of the Divinity in man and the universe "[1]

कामायनी के विषय मे भी उक्त उद्धरण कितना सटीक बैठता है ? तीसरे व्याख्यान मे कामायनी के अगी रस पर विचार करते हुए उसे 'आनन्द रस' ठहराया गया है। विद्वान् व्याख्याता ने एक स्थान पर कहा है कि पूर्वार्द्ध के उद्दाम शृगार का उत्तरार्द्ध के शान्त मे निलय सामान्य काव्यशास्त्रीय अर्थ मे सम्भव नही है क्योंकि शृगार शान्त का विरोधी रस है। किन्तु तथ्य यह है कि शृगार और शान्त का विरोध दोनो की युगपत् स्थिति मे ही होता है,[2] शृगार की शान्त मे परिणति तो जीवन का ऐसा काम्य यथार्थ है जो काव्यो और नाटको मे भी समान रूप से प्रतिफलित हुआ दिखलाया गया है। अभिज्ञान शाकुन्तल का प्रारम्भिक उद्दाम शृगार अन्त मे शान्त मे परिणत होता है, इसी प्रकार साकेत के प्रथम सर्ग मे प्रवाहित वासना-वर्षा की बाढ अन्तिम सर्ग मे शरद् की शुचि गम्भीरता मे पर्यवसित होती है।

दूसरी बात यह है कि कामायनी मे जिस 'आनन्द रस' की प्रतिष्ठा की गई है

---

1 Future Poetry (Sri Aurobindo) p 376-77

२ मान मा कुरु तन्वगि ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम्। (साहित्यदर्पण)

रस' की अपेक्षा आनन्द-तत्त्व ही सुदृढ आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित है। निम्नलिखित पक्तिया दार्शनिक 'वार्ता' मात्र है जो पाठक को रससिक्त अथवा रसमग्न नही करती—

(१) **अपने दुख सुख से पुलकित यह मूर्त विश्व सचराचर,**
चिति का विराट वपु मगल, यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

(२) **समरस थे जड या चेतन, सुन्दर साकार बना था,**
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था।

'आनन्द अखण्ड' कह देने मात्र से सहृदय आनन्द-मग्न नही हो सकेगे।

चौथे व्याख्यान मे कामायनी के रूपक-तत्त्व का विवेचन हुआ है जहा लेखक ने बडी सूझ-बूझ और शास्त्रीय ज्ञान का परिचय दिया है, किन्तु मेरी दृष्टि मे निम्नलिखित बातो पर पुनर्विचार आवश्यक है—

(१) लेखक ने देवताओ को इन्द्रियो के प्रतीक के रूप मे ग्रहण किया है किन्तु यह कहा तक समीचीन है, इस पर गहराई से विवेचन होना चाहिए। कामायनी मे दो प्रकार के देवो का उल्लेख हुआ है—एक वरुण, पवमान आदि अन्तरिक्ष के देवता तथा दूसरे इसी भूखण्ड पर रहने वाले देव जो अपने अह के कारण अपने को अमर मानते थे किन्तु जिनका अमरत्व केवल तथाकथित-मात्र था, वास्तविक नही, वे सब 'परिवर्तन के पुतले' थे।

(२) विद्वान् समीक्षक की मान्यता है कि "सारस्वत प्रदेश जीव के निम्नतर कोश—प्राणमय कोश—का प्रतीक है"। यहा उनका साक्षात्कार इडा से होता है जो उन्हे बुद्धिवाद की दीक्षा देकर भौतिक जीवन की ओर प्रेरित करती है।" किन्तु व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति, दोनो दृष्टियो से सारस्वत प्रदेश का सम्बन्ध निम्नतर प्राणमय कोश से न होकर विज्ञानमय कोश से होना चाहिए। इस विषय मे और अधिक स्पष्टीकरण अपेक्षित था।

(३) एक स्थान पर कहा गया है कि जायसी के पद्मावत के लिए आचार्य शुक्ल ने अन्योक्ति शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि व्यापक अर्थ मे अन्यापदेश (Allegory) 'समासोक्ति' का भी अन्तर्भाव कर लेता है, तथापि पद्मावत के सम्बन्ध मे शुक्लजी द्वारा प्रयुक्त शब्द समासोक्ति ही प्रसिद्ध है, अन्योक्ति नही।

अन्तिम व्याख्यान मे कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि का विवेचन हुआ है। इसमे ऐसा जान पडता है कि लेखक शैवागम-सिद्धान्तो को कामायनी पर घटित कर रहा है और इस महाकाव्य मे आनन्दवाद की प्रमुखता को देखते हुए ऐसा करना अनुचित भी नही है। दूसरे दार्शनिक सिद्धान्तो का भी यत्किचित् उल्लेख हुआ है, किन्तु वह अपेक्षाकृत अत्यन्त अल्प है। अन्वेषणीय यह भी है कि क्या वेद-सिद्धान्त और शैवागम-

सिद्धान्त परस्पर विरोधी है और यदि विरोधी है तो क्या कामायनी मे इस विरोध का परिहार अथवा परस्पर सामजस्य स्थापित किया जा सका है ? आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि कामायनी मे वैदिक कथानक के क्रोड मे काश्मीर शैवागम-दर्शन क्रीडा कर रहा है ।

प्रस्तुत कृति के सम्बन्ध मे निष्कर्ष रूप से यह कहना आवश्यक है—

(१) डॉ० नगेन्द्र के इन व्याख्यानो ने कामायनी-विषयक अध्ययन को आगे बढाया है ।

(२) विद्वान् समीक्षक के प्रत्येक व्याख्यान मे नवीन दृष्टिकोण की झलक मिलती है । व्याख्याता की सफलता अकाट्य निष्कर्षो की स्थापना मे उतनी नही, जितनी विचारो को उद्दीप्त करने मे है । विचारोद्दीपन और नव-दिशा निर्देश की दृष्टि से इन व्याख्यानो का स्थायी महत्त्व है । अग्रेजी साहित्य मे शेक्सपियर, मिल्टन, कीट्स और शेली तथा डॉन आदि कलाकारो के बिम्ब-विधान पर बहुत कुछ उपयोगी काम हुआ है ।* विवेच्य कृति मे भी अन्य भाषणो के साथ-साथ एक भाषण 'कामायनी के बिम्ब-विधान' पर और होना चाहिए था । कोई शोधक विद्वान् इसे अपने शोध का विषय भी बना सकते है ।

(३) कामायनी के दार्शनिक सिद्धान्तो का विवेचन करते समय अरविन्द के 'योग-समन्वय' को भी दृष्टि मे रखना चाहिए । भले ही प्रसाद और अरविन्द का विचार-साम्य परोक्ष रहा हो, किन्तु यह साम्य विस्मृत नही किया जा सकता ।

डॉ० नगेन्द्र की इस महत्त्वपूर्ण कृति द्वारा हिन्दी का समीक्षा-साहित्य निश्चय ही समृद्ध हुआ है ।

---

*द्रष्टव्य

1 Poetic Image by C DAY Lewis
2 Imagery of Keats & Shelley (Richard Harper Fogle)
3 The Development of Shakespeare's Imagery by Clemen
4 Milton's Imagery by T. Bank
5 Shakespeare's Imagery & What It Tells by Caroline Spurgeon
6 J Donne's Imagery by Rugoffo
7 The Veil of Imagery by Heywood
8 Poetic Imagery by H G Wells

प्रेमचन्द : क़लम का सिपाही

श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त

प्रेमचन्द की यह प्रामाणिक जीवनी हिन्दी साहित्य को एक नई और बड़ी देन है। पाच वर्ष के अनवरत परिश्रम से यह जीवनी लिखी गई है। पुस्तक मे ऐसी बहुत-सी सामग्री है, जो इसके पूर्व उपलब्ध न थी प्रेमचन्द के पुरखे, उनकी वश-बेल, उनके बचपन की शैतानिया, उनका पहला विवाह। इसके अतिरिक्त अमृतराय ने प्रेमचन्द के तमाम पत्र खोज निकाले है, जो अलग एक सग्रह मे है और जिनका पूरा उपयोग इस जीवनी मे भी किया गया है। किस प्रकार अमृत मुशी दयानारायन निगम के घर पहुचे, जो गिराया जा रहा था, और वहा प्रेमचन्द जी के पत्रो का पूरा बडल पा गए, यह काफी रोचक घटना है। पुराने सम्पादकीय लेख, टिप्पणिया, अनेक विस्मृत घटनाए इस जीवनी मे सकलित है और इसे सजीव बनाते है। अनेक चित्र भी पुस्तक का आकर्षण बढ़ाते है। इस जीवनी के पूर्व प्रेमचन्द का एक सक्षिप्त लेख, "जीवन सार", और श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द की पुस्तक "प्रेमचन्द–घर मे" प्रेमचन्द–सम्बन्धी हमारी सम्पूर्ण जानकारी के अमूल्य कोष थे। 'कलम का सिपाही' प्रेमचन्द से सम्बन्धित उपलब्ध सम्पूर्ण सामग्री को कलात्मक रूप मे प्रस्तुत करता है। इस प्रामाणिक जीवनी मे पाठक को अशेष नई सामग्री मिलती है और यद्यपि उसके मन के पट पर अकित प्रेमचन्द के चित्र मे कोई परिवर्त्तन नही होता, फिर भी अनेक रेखाए और भी सुस्पष्ट और सुदृढ होती है, चित्र के रग और भी अधिक गहरे होते है।

इस जीवनी के लिखने की कहानी को अमृतराय अपनी अतुलनीय, प्रेमचन्द की याद हरी करने वाली, भाषा मे इस प्रकार कहते है —"मुशी जी की इस पहली सम्पूर्ण, प्रामाणिक जीवनी के लिखे जाने की अपनी अलग कहानी है। जहा-जहा प्रेमचन्द रहे, गए, जहा-जहा उनके दोस्त और मुलाकाती है, वहा-वहा जीवनीकार भी गया है, उन लोगो से मिला है, वह जगहे देखी है, चिट्ठिया एकत्र की है, मुशी जी की लिखी हुई एक-एक उर्दू और हिन्दी पक्ति पढी है, और तिथियो के साथ राष्ट्रीय जीवन की पृष्ठभूमि मे रखकर पढी है, ताकि वह गहरे पैठकर उस आदमी को समझ सके, उसके दिल और

लेखक	अमृतराय
प्रकाशक	हस प्रकाशन, इलाहाबाद
मूल्य	२० रुपए

दिमाग को समझ सके, उसके कष्टो से भरे हुए, आनन्दमय जीवन का रहस्य समझ सके—उसकी जिन्दगी की सही तसवीर उतार सके।"

"कलम का सिपाही" जीवनी-कला की नई परम्परा का हिन्दी मे सूत्रपात करती है। इस दृष्टि से भी इसका बहुत महत्त्व है। विक्टोरिया के काल की जीवनियाँ भारी-भरकम तीन भागो मे प्रकाशित होती थी। वे नायक के जीवन से सम्बन्धित सम्पूर्ण सामग्री को एक-साथ प्रस्तुत करती थी। उनकी प्रेरणा इस सिद्धान्त से उद्वेलित होती थी कि नायक के सम्बन्ध मे कोई बुरी बात न कही जाए। आधुनिक जीवनीकार अपनी कृति को कलात्मक रूप देते है, उसे रोचक बनाते है। आद्रे मोरुआ की "एरियल" मे न कोई तिथिया है, न प्रामाणिक दस्तावेज। उपन्यास की तरह उन्होने शैली के जीवन की कथा लिखी है। यह इसलिए भी सम्भव था कि इसके पूर्व शैली की अनेक प्रामाणिक जीवनिया प्रकाशित हो चुकी थी। लिटन स्ट्रेची अपने नायक से सम्बन्धित ऐसी बहुत-सी सामग्री प्रकाशित करते है, जिसे विक्टोरियन जीवनीकारो ने दबा दिया था। वे जीवनी को सजीव, सप्राण और रोचक बनाते है। वे जीवनीकार की तुलना नाविक से करते है जो सामग्री के महासागर मे नाव खेता हुआ इधर-उधर अपनी छोटी सी बाल्टी डुबा कर कुछ रोचक सामग्री बाहर लाता है। लुडविग उपन्याम की भाति कथा कहते है, किन्तु उसके पीछे बडी जानकारी रहती है। वे मिश्र की मरुभूमि मे नैपोलियन और स्फिक्स के मिलन की कल्पना करते है। नैपोलियन स्फिक्स की विशाल, पर्वतकाय मूर्ति के सामने खडा होता है। लुडविग लिखते है "फौलादी आखे पत्थर की आखो मे देखती है।"

जीवनी-कला पर लिखी अपनी पुस्तक मे आद्रे मोरुआ जीवनी को विज्ञान और कला दोनो ही मानते हैं। सामग्री एकत्रित करने की प्रक्रिया वैज्ञानिक पद्धति की अपेक्षा रखती है। सामग्री मे प्राण फूक कर उसे उत्कृष्ट रूप देने की प्रक्रिया कलात्मक होती है। "साहित्य मे पात्र-निर्माण" शीर्षक अपने निबन्ध मे गाल्जवर्दी उपन्यासकार, मूर्ति-कार और जीवनीकार की कला की तुलना करते है। तीनो ही जीवन के आधार पर कला को सहायता से नई सृष्टि करते है। कुछ इसी प्रकार के विचार श्री अमृतराय ने भी अपनी भूमिका मे प्रकट किए है "इन पाच बरसो मे मेरे कितने ही शुभचिन्तको ने मुझसे पूछा होगा—अमृत जी, आप अपनी कोई चीज नही लिख रहे है ?

"कमी तो मुझे कुछ झुझलाहट भी महसूस हुई, लेकिन मै मुस्कराकर रह गया। मैं कहना चाहता था कि यह मेरी ही चीज है जो मै लिख रहा हू, कि यह भी एक उपन्यास ही है जिसका नायक प्रेमचन्द नाम का एक आदमी है, फर्क बस इतना ही है कि यह आदमी मेरे दिमाग की उपज नही है, हाड-मास का एक पुतला है जो इस धरती पर डोल चुका है और समय की पगडडी पर अपने पैरो के कुछ निशान छोड गया है, उसको मारने-जिलाने की, जैसे मन चाहे तोडने-मरोडने की आज्ञा ही मुझे नही है, कितने ही मोटे-मोटे रस्सो से मैं अच्छी तरह (या बुरी तरह) खूटे से बधा हुआ हू। लेकिन मुझे

इसकी शिकायत नही है क्योकि मे जानता हू कि पूर्ण स्वच्छन्दता उपन्यास की कहानी कहते समय भी नही रहती, वहा भी कहानी कहने वाला जीवन के खूटे से, प्रतीति के खूटे से बधा ही रहता है। एक-न-एक सयम-अनुशासन हर सृजन के साथ लगा हुआ है। लेकिन सृजन के सुख मे उससे कोई बाधा नही उपस्थित होती ।'[1]

प्रेमचन्द का जीवन उन्ही के शब्दो मे "सपाट, समतल मैदान" था, "जिसमे कही-कही गढे तो है, पर टीलो, पर्वतो, घने जगलो, गहरी घाटियो और खडहरो का स्थान नही है।" इस जीवन मे विशेष कुछ असाधारण न था। यह सामान्य भारतीय लेखक का सघर्षमय और सकटमय जीवन था। इस दृष्टि से उनका जीवन भारतीय लेखक के मुसीबतो से भरे जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। हर समय पैसे की तगी उन्हे सताती थी। हर समय कर्ज की शिकायत है। मुशी दयानारायन को लिखे पत्रो मे अकसर यह अनुरोध है कि वे उनके हिसाब मे कुछ रुपए भेज दे। एक पत्र मे वे लिखते है "अगर आप बगैर बहुत ज्यादा तरद्दुद के एक तीन-चार रुपए की बाच और साढे चार रुपए का जूता भिजवा सके, तो आपका बहुत ममनून होऊगा। एक ही पार्सल मे दोनो आ सकते है। मेरा जूता छीटक ने लिया है और मै बरहना-पा हू।"

ऐसा पत्र पढ कर आज भी पाठक का मन दुख से भर जाता है। जिस महान् कलाकार ने लाखो-करोडो का जीवन अपने लेखन से इस प्रकार समृद्ध बनाया, वही अभावो मे इतना त्रस्त और परेशान रहा! बचपन मे लमही, कठोर परिस्थितियो मे शिक्षा-दीक्षा, मुह-अधेरे ही घर छोड देना, कई मील पैदल चल कर पढने के लिए शहर आना, फिर स्कूल, उसके बाद ट्यूशन, रात को घर लौटना। स्कूल-मास्टरी, पचास रुपया, सत्तर रुपया, सौ रुपया। चुनार, बहराइच, परतावगढ, इलाहाबाद, कानपुर, हमीरपुर, बस्ती, गोरखपुर। इस सबसे आजिज आकर और देश की निर्बन्ध सेवा करने के ध्येय से सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र। फिर मारवाडी स्कूल, कानपुर, काशी विद्यापीठ, 'माधुरी', 'हस' और 'जागरण' का सम्पादन, आर्थिक कठिनाइयो से मुक्ति पाने के लिए वे बम्बई सिनेमा-जग का अनुभव अर्जन करने जाते थे। अन्त मे मृत्यु के पूर्व अनायास ही प्रेमचन्द सम्पूर्ण देश का तूफानी दौरा करते है। आज वहा, तो कल वहा। मद्रास, मैसूर, बगलौर, लखनऊ, दिल्ली, लाहौर, नागपुर। साहित्यिक सगठनो मे वे उलझते है। फिर इस बुझते दीपक की अनायास ही प्रज्वलित लो के बाद निर्वाण, चिरनिद्रा, चिरशान्ति।

प्रेमचन्द के जीवन को वास्तविकता के रग मे जीवनीकार ने रगा है। उन्हे हाड-मास के मनुष्य के रूप मे अकित किया गया है। वे अपनी प्रशसा से प्रसन्न होते थे, निन्दा से दुखी। एक पुस्तक के सम्बन्ध मे जैनेन्द्र जी को लिखते है "पसन्द आए, तो कही कुछ लिख

---

१ भूमिका

देना, न पसन्द आए, तो चुप रह जाना !" बडे सीधे-सादे, सरल, निश्छल व्यक्ति थे। बडी आसानी से धोखा भी खा जाते थे। "तबीयत मे मिठास थी, लगने वाली बात भी मीठी बनकर निकलती थी। सादगी थी, बेहद सादगी, इतनी कि उस चेहरे और लिबास को देखकर बहुत आसान था धोखा खा जाना कि यह कोई गवइया भुच्च है।"[1]

जीवन-पर्यन्त राष्ट्रीय, सामाजिक, आर्थिक और सास्कृतिक प्रश्नो से प्रेमचन्द उलझते रहे। जीवनीकार ने उनके जीवन को राष्ट्रीय सघर्षो की पृष्ठभूमि मे रख कर अकित किया है। ग्रन्थकार ने राष्ट्रीय इतिहास का गहरा अध्ययन करके उसके परिपार्श्व मे प्रेमचन्द के साहित्य को रक्खा है। हल्के अथवा तेज होते हुए राष्ट्रीय सघर्षो की कथा हमे निरन्तर उनकी कृतियो मे मिलती है। उनके उपन्यासो, लेखो, भाषणो, सम्पादकीय अग्रलेखो, कहानियो के अशो से जीवनीकार ने अपनी कथा को चित्रित किया है। उनका साहित्य भारतीय जीवन का दर्पण है। हमारे सामाजिक और राजनीतिक सघर्षों का जीता-जागता चित्र है। इस प्रकार प्रेमचन्द की क्रातिकारी चेतना का विकास पाठक अच्छी तरह समझ सकता है।

राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के साथ प्रेमचन्द की चेतना अधिकाधिक उग्र होती गई। वे तिलक और गाधी के समर्थक थे। उत्तरोत्तर साम्यवादी विचारो को अपना रहे थे। स्वाधीनता उनके लिए मात्र शब्द न था, इसके सामाजिक और आर्थिक तत्त्व उनके मन मे स्पष्ट थे। रूसी-क्राति का उन्होने मुक्त कण्ठ से स्वागत किया। उन्होने प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया। यह सन् ३० से ३६ का युग था, जब भारत की हर सास मे क्राति का आह्वान था।

वे मुशी दयानारायन निगम को लिखते है "ऐसी हालत मे मै जमाना मे क्या लिखूगा, मैं अब करीब-करीब बोल्शेविस्ट उसूलो का कायल हो गया हू।"[2] "प्रेमाश्रम" का बलराज कहता है "तुम लोग तो ऐसी हसी उडाते हो मानो कास्तकार कुछ होता ही नही, वह जमीदार की बेगार ही भरने के लिए बनाया गया है। लेकिन मेरे पास जो अखबार आता है उसमे लिखा है कि रूस देश मे कास्तकारो का ही राज है, वह जो चाहते है, करते है। उसी के पास कोई देश बलगारी है। वहा अभी हाल की बात है, कास्तकारो ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानो और मजदूरो की पचायत राज करती है।"[3]

मुशी दयानारायन निगम को प्रेमचन्द एक पत्र मे लिखते है "आपने मुझ से पूछा, मैं किस पार्टी मे हू। मैं किसी पार्टी मे भी नही हू। इसलिए कि दोनो मे से कोई पार्टी कुछ अमली काम नही कर रही है। मै तो उस आने वाली पार्टी का मेम्बर हू जो

---

१. पृष्ठ ४७६
२. पृष्ठ २०२ ३ पृष्ठ २०८

कोतहुन्नास (छोटे आदमियो) की सियासी तालीम को अपना दस्तूर-उल-अमल बनाए।"[१]

शिवरानी जी और प्रेमचन्द की बातचीत हो रही है

"बातचीत की रौ मे उनकी पत्नी ने पूछा—'जब स्वराज्य हो जाएगा तब क्या चूसना बन्द हो जाएगा।' मुशी जी ने जवाब दिया—'चूसा तो थोडा-बहुत हर जगह जाता है। यही शायद दुनिया का नियम हो गया है कि कमजोर को शहजोर चूसे। रूस है जहा पर कि बडो को मार-मार कर दुरुस्त कर दिया गया है, अब वहा गरीबो को आनन्द है। शायद यहा भी कुछ दिनो के बाद रूस जैसा ही हो।"[२]

प्रेमचन्द भारतीय मिट्टी की उपज थे। वे अपने देश की असख्य जनता को खुश-हाल देखना चाहते थे। प्रेमचन्द के कुछ आलोचक उनके साम्यवादी विचारो का महत्त्व कम करना चाहते है। प्रेमचन्द गाधी जी के विचारो से प्रभावित थे। इस भूमि पर वे समता और समृद्धि लहलहाती देखना चाहते थे। भारतीय आदर्शवाद कभी यह नही सहन कर सकता कि हमारे समाज मे सबल वर्ग निर्बल का शोषण करे।

अपने आदर्शो को प्रेमचन्द अपने साहित्य मे उतारना चाहते है। "अपने साहित्य के माध्यम से वह अपना श्रेष्ठतम अश देश की स्वाधीनता और उसके भविष्य को" देते है।[३] जीवनीकार प्रेमचन्द के विचारो को अपनी कल्पना से इस प्रकार बनाता है "जरा अपने समाज की हालत भी तो देखो—कैसी मुर्दे की नीद सो रहा है! उसका दिल बहलाने की जरूरत है कि झकझोर कर उसको जगाने की? न जाने कब से सो रहा है। इसी तरह। क्या कयामत तक सोता रहेगा! यह तो मौत है सरासर! अगर कुछ लिखना ही है तो ऐसा कुछ लिखो जिससे यह मौत और गफलत की नीद कुछ टूटे। यह मुर्दनी कुछ दूर हो।"[४]

अपने मित्र, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को प्रेमचन्द अपनी आशाओ और आकाक्षाओ के सम्बन्ध मे लिखते है "मेरी आकाक्षाएँ कुछ नही है। इस समय तो सब से बडी आकाक्षा यही है कि हम स्वराज्य-सग्राम मे विजयी हो। धन या यश की लालसा मुझे नही रही। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बगले की मुझे हवस नही है। हा, यह जरूर चाहता हू कि दो-चार ऊची कोटि की पुस्तके लिखू, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य-विजय ही है। मै शाति से बैठना भी नही चाहता। साहित्य और स्वदेश के लिए कुछ न कुछ करते रहना चाहता हू। हा, रोटी, दाल और तोला भर घी और मामूली कपडे मयस्सर होते रहे।"[५]

---

१ पृष्ठ ३७६ २ पृष्ठ ४१३ ३ पृष्ठ १६१
४. पृष्ठ ४३ ५ पृष्ठ ४५९

अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए उन्होने क्या नही किया ? "लेख लिखे, पत्रो की टिप्पणिया लिखी, असहयोग की कहानिया लिखी, पैम्फलेट लिख कर साधारण लोगो को साधारण ढग से स्वराज्य के फायदे समझाए है, प्रेमाश्रम-जैसा उपन्यास लिखा है जिसमे आने वाले आन्दोलन के प्रारूप के साथ-साथ उसके आगे की इन्कलाबी करवटे भी है।"[१]

यह जीवनी हिन्दी-ससार के प्रेमचन्द-सम्बन्धी ज्ञान को बहुत बढाती है। वह प्रेमचन्द के पूर्व पुरुषो के बारे मे अधिक जानकारी प्राप्त करता है, उनके पितामह, पिता, माता और विमाता के सम्बन्ध मे, उनके बचपन की शैतानियो के सम्बन्ध मे, किस प्रकार वे अमियो मे निशाना मारने मे तेज है, किस प्रकार उन्होने एक रुपया चुराया और उनके चचेरे भाई पिट गए। शायद पहली बार हम उनके पहले विवाह की पूरी दास्तान सुनते है—मोटी, काली, कुरूप, लगडी, झगडालू बहू, जिसकी कभी किसी से न पटी। दूसरे विवाह की कथा भी हम पहली बार पूरी तौर पर सुनते है—किस प्रकार उनका विवाह एक बाल-विधवा से हुआ। उनकी रचनाओ के लेखन की कथा हम पढते हे, किन सघर्षों मे यह विश्वामित्र की सृष्टि से भी अधिक सशक्त सृष्टि हुई। उनके जीवन के समस्त हर्ष-आल्हाद और विषाद को कथा हम पढते है। भारतीय लेखक का सम्पूर्ण दु खो और मुसीबतो से भरा जीवन हमारे नेत्रो के सामने साकार हो उठता हे।

पुस्तक मे प्रेमचन्द के कृतित्व से सम्बन्धित भी बहुत सी सामग्री है। उपन्यास-कहानियो की रचना से सम्बन्धित ज्ञान, अनेक पत्र, लेख, सम्पादकीय टिप्पणिया, भाषण, सस्मरण, जिनके कारण पुस्तक का आकार विराट् हो गया है। कुछ उद्धरण अनावश्यक रूप से बढ भी गए है और पुस्तक के एक तिहाई पृष्ठो को अवश्य घेर लेते हैं। इसी कारण पुस्तक का मूल्य भी इतना बढ गया है कि केवल सरकार अथवा पुस्तकालय ही इसे खरीद सकते है। परिच्छेद एक-दूसरे मे मिल गए है और सम्पूर्ण पुस्तक ही मानो एक परिच्छेद बन गई है। कभी कथा का तार आगे बढता है, कभी पीछे खिचता है। मानो सम्पूर्ण ग्रन्थ के लेखन के पीछे कोई योजना न हो।

यह निस्सन्देह है कि "कलम का सिपाही" हिन्दी के जीवनी-साहित्य मे एक नई परम्परा का सूत्रपात है और प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य से सम्बन्धित ज्ञान का एक अक्षय कोष है।

———

१ पृष्ठ ३२४–२५

ब्रजभाषा और खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम

हिन्दी-परिवार की भाषाओ के तुलनात्मक स्वरूप-विवेचन की परम्परा यद्यपि क्षीण नही है—बैलेण्टाइन, बीम्स, केलाग, ग्रियर्सन, श्यामसुन्दरदास, आचार्य शुक्ल, कपिलदेव आदि कितने ही व्यक्ति ब्रजभाषा, खडी बोली, अवधी आदि हिन्दी-विभाषाओ का तुलनापरक व्याकरणिक परिचय प्रस्तुत कर चुके है—तथापि इन भाषाओ के सूक्ष्म तुलनानुशीलन द्वारा इनकी पुरातन एवम् साम्प्रतिक स्थिति पर व्यापक प्रकाश डालने की आवश्यकता अभी बनी हुई है। डॉ० श्री कैलाशचन्द्र भाटिया की 'ब्रजभाषा और खडी बोली का तुलनात्मक अध्ययन' पुस्तक इस अभाव को दूर करने का एक श्लाघनीय प्रयास है। 'बुद्धचरित' की भूमिका मे प्रस्तुत आचार्य शुक्ल कृत ब्रजभाषा-खडी बोली तारतम्य से प्रेरित यह 'अध्ययन' निश्चय ही शुक्ल जी के कार्य को आगे बढ़ाता है। ब्रज-खडी बोली-प्रदेश का वासी और भाषा-शास्त्र का अध्येता होने के कारण लेखक जहा इस प्रकार के विषय-विवेचन का अधिकारी है, अपनी श्रमशीलता और सजगता के कारण उसके निर्वाह मे सफल भी ।

पुस्तक दो भागो मे विभक्त है। पूर्वार्द्ध भूमिका रूप मे है जिसमे लेखक ने ब्रजभाषा-खडी बोली विषयक उपलब्ध प्राचीन सामग्री का यथाशक्ति उपयोग कर भारतीय आर्य भाषा के विकास पर दृष्टि निक्षेप-किया है तथा ब्रजभाषा एव खडी बोली के उद्भव एवम् प्राचीन स्वरूप पर प्रकाश डाला है। उत्तरार्द्ध मे ब्रजभाषा और खडी बोली का तुलनात्मक परिचय देते हुए लेखक ने क्रमश इन भाषाओ की ध्वनियो, स्वर सयोग, व्यजन गुच्छ, अक्षर निर्धारण, ध्वनिपरिवर्तन, रूप रचना और अशत शब्द रचना पर विचार किया है। परिशिष्ट मे ब्रजभाषा और खडी बोली का अवधी से अन्तरा स्पष्ट किया है। प्रतिपादन-पद्धति मे वैज्ञानिक औचित्य के निर्वाह की सजगता प्राय सर्वत्र है। ध्वनिविचार के अन्तर्गत कुछ नवीन विषयो—स्वरानुक्रम, व्यजनगुच्छ तथा

लेखक	डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया
प्रकाशक	सरस्वती पुस्तक सदन, मोती कटरा, आगरा
मूल्य	७ रु०

आक्षरिक स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लेखक ने मौलिकता का पर्याप्त परिचय दिया है। परन्तु नवीनता और मौलिकता प्राय इसी प्रकरण तक सीमित हे। पुस्तक की अन्य विशेषताए है—साम्मुख्य शैली, सरल भाषा, अनुसधान प्रवृत्ति और लेखक के स्वानुभूत उदाहरण।

भूमिका भी पर्याप्त है, उसमेप्र चुर ज्ञान-सामग्री है। प्रारम्भ मे वैदिक, सस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रश भाषाओ का परिचय देते हुए सक्रातियुग के 'राउलबेल', 'सन्देशरासक', 'प्राकृतपैगलम्', 'पृथ्वीराज रासो', 'उक्ति व्यक्तिप्रकरण' आदि ग्रन्थो की भाषा का सक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर 'हिन्दवी', 'दक्खिनी', उर्दू और हिन्दुस्तानी की चर्चा करते हुए क्रमश मध्यदेशीय भाषा परम्परा, 'अर्द्धकथानक', ग्वालियरी, व्रजमडल, व्रजभाषा, कन्नौजी, बुन्देली प्रारम्भिक व्रजभाषा, प्रारम्भिक खडी बोली कौरवा, बागरू, साहित्यिक खडी बोली, खडी बोली शब्द, हिन्दी शब्द और अन्त मे हिन्दी के पश्चिमी और पूर्वी रूपो पर प्रकाश डाला गया है। भूमिका-गत यह विवेचन उपलब्ध सामग्री के आधार पर किया गया है और प्राय सुसम्बद्धतारहित 'नोट्स' के रूप मे है। जैसा कि पुस्तक-प्रस्तावना-लेखक डॉ० श्री हरवशलाल शर्मा ने स्वीकार किया है 'प्रथम भाग (भूमिका) मे पूर्णता तथा श्रृखलाबद्धता की आशा नही की जा सकती।' वस्तुत भाषा-सम्बन्धी यह परिचय शीघ्रता मे यथेष्ट चिन्तन-मनन के बिना ही उपस्थित किया गया है। हिन्दी भाषा के प्रारम्भिक अध्येता को यहा भारतीय आर्यभाषा की विभिन्न अवस्थाओ और रूपो के सम्बन्ध मे ज्ञान-सामग्री तो सप्राप्त होती है, कुछ सद्य शोधित तथ्य भी उपलब्ध होते है परन्तु व्रजभाषा और खडी बोली के विकास के सम्बन्ध मे उसकी जिज्ञासा तृप्त नही हो पाती।

भूमिकागत अनेक कथन 'चिन्त्य' है—अनेक बाते ऐसी है जिन पर अभी अध्ययन-मनन आवश्यक है। इस प्रकार के कुछ कथन है—'आधुनिक मराठी भाषा का महाराष्ट्री से कोई सम्बन्ध नही है' (पृ० १४), 'हमारे विचार से अवहट्ठ परवर्ती अपभ्रश का वह रूप है जिसके मूल मे परिनिष्ठित अपभ्रश यानी शौरसेनी है' (पृ० ४४), 'उकारान्त प्रातिपदिक (प्रथमा मे) हउ सर्वनाम का बहुल प्रयोग, परसर्गो की दृष्टि से व्रज के प्रयोग, साथ ही 'हि' विभक्ति का भिन्न कारको मे प्रयोग ('उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' मे) स्पष्टतया व्रज का पूर्व रूप सिद्ध करता है' (पृ० ५८), 'आधुनिक खडी बोली, व्रजादि पश्चिमी तथा कोशली भाषा के प्राचीन रूपो का भण्डार इसको ('उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' को) कहा जा सकता है' (पृ० ५९), 'रेख्ता हिन्दी की वह बोली है जिसमे फारसी शब्दो का सम्मिश्रण हो। रेख्ता उर्दू का पर्य्यायवाची नही है' (पृ० ६७), कबीर की बोली के प्रसग मे पूर्व की बोली का अर्थ 'आध्यात्मिक अनुभव की वाणी या आदिवाणी है' (पृ०७३) कुछ कथन स्पष्टत सदोष और विचित्र है। यथा—'इसका (पाली का) विकास उत्तर-कालीन सस्कृत की अपेक्षा वैदिककालीन सस्कृत और तत्कालीन बोलियो से मानना

अधिक समीचीन होगा'[1] (पृ० १२), 'ब्रज शब्द का सस्कृत रूप ब्रज है जिसके मूल मे सस्कृत धातु 'ब्रज्' है'[2] (पृ० ७८), 'इस ब्रज की सस्कृति व सभ्यता का प्रसार जितने व्यापक क्षेत्र मे हो गया उसको ब्रज प्रदेश कहते है जिसमे उत्तर प्रदेश के मथुरा, अलीगढ, बुलन्दशहर, एटा, मैनपुरी, बदायू तथा बरेली के जिले' है[3] (पृ० ८०)।

पुस्तक की सब से बडी और मूलगत दुर्बलता यह है कि खडी बोली के विवेचन में उसके शिष्ट साहित्यिक रूप को प्राधान्य दिया गया है और ब्रजभाषा विवेचन मे उसके बोलचाल के रूप को और इस प्रकार अधिकाश मे साहित्यिक खडी बोली की तुलना बोलचाल की ब्रजभाषा से की गई है। वस्तुत खडी बोली के जनरूप का विश्लेषण पुस्तक मे अत्यन्त विरल है। फिर ब्रज के कन्नौजी और बुन्देली रूपो की पृथक् विवेचना न कर, जैसा कि केलाग और अन्य विद्वानो ने किया है, लेखक ने इन तीनो भाषा रूपो का विवरण एक साथ दिया है। ब्रजभाषा के विवेचन मे कन्नौजी और बुन्देली के शब्द रूप स्थल-स्थल पर इन भाषाओ के नामोल्लेख के बिना ही दिए गए है। कुछ स्थलो पर लेखक इतना पराश्रित है कि वह अपने बुद्धि-विवेक का उपयोग ही नही करता। उदाहरणार्थ प्रेरणार्थक क्रिया का विवेचन जो धीरेन्द्र वर्मा के आधार पर किया गया है, अत्यन्त अपर्याप्त और एकपक्षीय है। इस प्रसग मे 'पकामतु','चलामतु', 'पकवामतु', 'खवाइबौ', 'प्याइबौ', ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रेरणार्थक ब्रजभाषा रूपो का कोई उल्लेख नही किया गया है। पुस्तक की अन्य उल्लेखनीय त्रुटिया है—ब्रजभाषा की उकारान्तता पर यथोचित विचार न होना, ब्रज के पु० एक व० सज्ञापदो को उदाहरणो मे उकारान्त रखने की सावधानी का अभाव, शब्दरूप उदाहृत करते हुए मध्य 'ह' ध्वनि के लोप का ध्यान न रखना, लिगप्रभाव-विवेचन मे यह स्पष्ट न करना कि हिन्दी मे शुद्ध क्रिया लिगप्रभाव से मुक्त है, केवल कृदन्त पद लिंग से प्रभावित है, वाक्य विचार का प्रकरण छोड देना, अनेक उदाहरणो का अशुद्ध होना और यत्र-तत्र प्रतिपादन अनौचित्य तथा भाषा दौर्बल्य।[1]

पुस्तक के उत्तरार्द्ध मे भी—मूल पुस्तक मे भी—अनेक कथन 'चिन्त्य' है—यथा- 'वस्तुत देखा जाए तो ब्रज की अनुनासिकता की ही प्रवृत्ति है जिसने इसमे कोमलता, सगीतात्मकता, लावण्य, मधुरता आदि गुणो का सचार किया'[2] (पृ० १२६), 'अकारान्त सज्ञाए वस्तुत अब खडी बोली मे स्वरान्त नही रही है'[1] (पृ० १४९), 'हिन्दी का

---

१ 'उत्तरकालीन सस्कृत की अपेक्षा' इस बात का प्रश्न ही नही उठता। 'वैदिककालीन सस्कृत' यह शब्दावली भी कुछ विचित्र है। पाली का उद्भव उत्तर वैदिककालीन जनभाषा के एक रूप से हुआ है।

२ वस्तुत सस्कृत रूप ब्रज है, धातु 'ब्रज्' है।

३ ब्रज प्रदेश मे आगरा जिला भी आता है। मैनपुरी, बदायू और बरेली का क्षेत्र 'शुद्ध' ब्रज प्रदेश के अन्तर्गत नही है।

सस्कृत के विभक्ति प्रधान रूपो से कोई सम्बन्ध नही रहा,[1] (पृ० १५७), 'सयुक्त क्रियाए दो प्रकार से बनती है अ—प्रधान क्रिया के साथ सहायक क्रिया,[2] आ—दो अथवा तीन क्रियाओ का सयोग (पृ० १९२)।

---

१ कुछ अशुद्ध उदाहरण द्रष्टव्य है—बु गाम कू जाइ रहयौ ऐ (पृ० १५८, शुद्धरूप है—बु गाम कू जाइ रौ ऐ।) 'रह्यौ' और 'मोहि' जैसे रूप आधुनिक व्रज मे नही है, 'ह' का लोप हो गया है, कारे मर्दन से कह दे ओ (पृ० १६८, शुद्ध रूप है—कारे मद्दन ते कै देउ), हो चलतु हो (पृ० १७८, शुद्धरूप—हू। हौ चल्तू), तू चलतु है (पृ० १७८, शुद्धरूप—तू चल्त्वै), तुम चलत् ही (पृ० १७८, शुद्ध रूप—तुम चल्नौ), चल्यौ हौ (पृ० १८० शुद्ध रूप—चल्यौ ऊ), चल्यौ हौ (पृ० १८०, चल्यौ ओ), चलि रो यृ (पृ० १८१, चलि रौ ऊ), चलि रऐ ऐ (पृ० १८१, चलि रए ए), ब्वाकु चलनु कैसो ऐ (पृ० १९०), बाकौ। ब्वाकौ चलनु कैसौ ऐ), तू कहा करतु रहतु ए (पृ० १९२) तू का/कहा कत् रेतु/रैतु ऐ)। क्रियार्थक सज्ञा के योग से बनी सयुक्त क्रिया के उदाहरण रूप मे 'रौयौ करि, बकौ करि' वाक्य दिया गया है, देखिए पृ० १९२। पुनरुक्त सयुक्त क्रिया का उदाहरण 'गु कछु बोलत् चलत्वै' (पृ० १९४) दिया गया है। लेखक के अनुसार 'मुजको' व्रज का शब्द रूप है (पृ० १६०)। यह वस्तुत व्रजभाषा का न होकर बोल-चाल की खडी बोली का रूप है। 'बो', 'बिसका', 'विसके', 'बिनका' व्रज के रूप बनाए गए है (पृ० १६२)। ये आगरे की बोली के शब्द है। व्रजरूपो के अन्तर्गत 'ताए' 'काए' (पृ० १६४) उदाहृत है परन्तु व्रज मे वस्तुत 'ताइ' 'काइ' है। 'सबरे' व्रज का है, खडी बोली का नही (पृ० १६५)। 'तितना' 'आतु' (पृ० १६७–१६८) ऐसे रूप विरल है। 'आतु' के स्थान पर व्रज मे 'आमतु'—'आमत' अधिक प्रचलित है। क्रियारूपो के अन्तर्गत व्रजभाषा मे और बोलचाल की खडी बोली मे भी 'हू' नही है, 'ऊ' है, 'हो', 'हौ', 'हो' 'है' 'है' (पृ० १७४) भी स्वल्पत है। 'है', 'है', 'हो' के स्थान पर क्रमश 'ऐ', 'ऐ', 'ओ' ही अधिक व्यवहृत होते है।

१ इस सम्बन्ध मे पृ० ४, ५, ६, १३, ४३, ४९, ७१, ८४, ११२, १४०, १५० और १५७ द्रष्टव्य है।

२ अनुनासिकता व्रज की माधुरी का एक कारण है। उसका विशिष्ट कारण है—सरल कोमल ध्वनियो के प्रति उसका आग्रह।

३ यह समस्त अकारान्त सज्ञाओ के सम्बन्ध मे सत्य नही है। फिर यह प्रवृत्ति एक सीमा तक वक्ता पर निर्भर करती है।

४ घोडो, लडके, मुझे, उसे, उन्हे, हमे, सहसा, शनै, अकस्मात्, पश्चात् ऐसे अनेक विभक्त्यत रूप खडी बोली मे प्रचलित है।

२ यह वस्तुत सयुक्त काल है। इस प्रसग मे तथाकथित सहायक क्रिया ही शुद्ध क्रिया है और तथाकथित प्रधान क्रिया शुद्ध क्रिया न होकर कृदन्त है।

वस्तुत पुस्तक शीघ्रता मे लिखी गई है। उससे भी अधिक शीघ्र उसका मुद्रण हुआ है। आवश्यक सावधानी न लेखन मे है, न मुद्रण मे। 'प्रूफ' की अशुद्धिया पुस्तक के सौष्ठव पर गहरा आघात करती है। भाषा शास्त्र के ग्रन्थो का प्रकाशन पर्याप्त सतर्कता से होना चाहिए। लेखक का अध्ययन-चिंतन भी परिपक्व नही है। वास्तव मे इस विषय पर अधिक सूक्ष्म और व्यापक अध्ययन अपेक्षित हे। फिर भी ग्रन्थकार अपने प्रयास मे असफल नही कहा जा सकता। त्रुटिया होने पर भी पुस्तक उपयोगी है। हिन्दी भाषा के अध्ययन की दिशा मे किया गया लेखक का यह योगदान निस्सन्देह अभिनन्दनीय है।

हिन्दी साहित्य (प्रथम खण्ड–भूमिका)

डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी

शिवसिंह सरोज, इस्त्वार द ल लितरेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदुस्तानी, माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान, मिश्रबन्धु विनोद, हिन्दी भाषा और साहित्य, हिन्दी साहित्य का इतिहास, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास प्रभृति हिन्दी के साहित्य-लेखन की शृंखला मे 'हिन्दी साहित्य (प्रथम भाग) भूमिका' एक महत्त्वपूर्ण एव आकर्षक कडी है।

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने स० २०१४ वि० मे 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग, हिन्दी साहित्य की पीठिका' का प्रकाशन किया था और इसके पाच वर्ष उपरान्त स० २०१९ वि० मे भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग ने 'हिन्दी साहित्य, प्रथम खड, भूमिका' को प्रकाशित किया। पूर्व के हिन्दी साहित्य के इतिहासो की अपेक्षा ये दोनो इतिहास व्यक्तिगत प्रयास न होकर 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इडिया' एव 'आक्सफोर्ड हिस्ट्री आव इग्लिश लिटरेचर' सदृश हिन्दी के विविध विद्वानो के सहयोग द्वारा आयोजित हुए है तथा यह हर्ष और गौरव का विषय है कि हिन्दी मे उसके साहित्य और उससे सम्बन्धित विषयो की विविध सामग्री के लेखक शीर्षस्थ पडितो की सख्या मे अभिवृद्धि हुई है। यद्यपि प्रस्तुत समीक्षा मे इन दोनो ग्रन्थो मे विवेचित सामग्री की तुलना अभीष्ट नही है, परन्तु इतना स्पष्ट है कि 'हिन्दी साहित्य' के कलेवर मे 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' के रिक्त का ध्यान है तथा उसमे 'हिन्दी भाषा का इतिहास' विषय पर एक अध्याय जोडकर उसे अधिक पूर्ण बनाने की अभिलाषा है।

'हिन्दी साहित्य' की भूमिका की मीमासाओ का लक्ष्य भारत मे मध्यदेश की प्रमुखता, उसकी भौगोलिक, राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, कलात्मक एव भाषावार स्थिति का सम्यक् निरूपण करते हुए प्रकारातर से यहा के निवासियो की सस्कृति और सभ्यता के विकास की गाथा, उनके गौरवपूर्ण सघर्ष की कहानी एव उनके बौद्धिक तथा चारित्रिक उत्थान-पतन का ऐतिहासिक मूल्याकन है। मध्यदेश के

सम्पादक	डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान)
	डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा (सहकारी)
प्रकाशक	भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग
मूल्य	१५ रु०

ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक महत्त्व पर 'हिन्दी साहित्य' के सुधी प्रधान सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा जी बहुत दिनो से गवेषणात्मक कार्य कर रहे थे। विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ने नवम्बर १४–१५, सन् १९५४ ई० मे उनको भारत राष्ट्र के हृदय अर्थात् मध्यदेश पर व्याख्यान देने के लिए आमत्रित किया था। ये सारगर्भित व्याख्यान १९५५ ई० मे परिषद् द्वारा 'मध्यदेश' नामक पुस्तक के रूप मे प्रकाशित भी हुए थे। मध्यदेश के जनपद-वासियो को उनके अत्यन्त उज्ज्वल इतिहास तथा असाधारण शक्ति के प्रति उदासीन पाकर उनके जागरण हेतु शखनाद की स्वर-लहरी मे 'मध्यदेश' के उपरान्त 'हिन्दी साहित्य' का प्रमुख स्थान है। मध्यदेश के निवासी अपने गौरवपूर्ण अतीत का चित्र देखकर प्रेरणा प्राप्त करेगे और अपनी मुचुकुद-निद्रा त्याग कर कर्म के विविध मार्गो पर अग्रसर होगे। इस सरणि मे अभी इतना लिखा जाना और वाछित है कि मध्यदेश के बहुजातिवादी रूढियो मे जकडे हुए निवासियो मे पारस्परिक विकट मतभेदो के क्या कारण रहे हैं जिन्होने उनकी शारीरिक और मानसिक शक्ति को सामूहिक और सगठित रूप मे नियोजित होकर शाश्वत प्रगति करने मे असीम बाधा डाली है तथा उसे राष्ट्र के लिए एक अमोघ वरदान नही होने दिया है। इनके विवेचन से जाग्रति की पृष्ठभूमि सुदृढ होने मे सहायता मिलेगी। अपनी सर्वांगीण समृद्धि के कारण मध्यदेश पर देशी और विदेशी आक्रमणकारियो के प्रक्षुब्ध नेत्र सदा ही केन्द्रीभूत रहे है। भारत का यह जनपद मध्यदेश ही हिन्दी भाषा भाषियो की जन्म और कर्मभूमि है।

'हिन्दी साहित्य' के इस भूमिका खड मे सकलित विविध सामग्री किसी नवीन शोध का परिणाम नही है और न ऐसा दावा ही उसके लेखको अथवा सम्पादको का है, परन्तु इतना निर्विवाद है कि हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्येता का अध्ययन बिना इस पृष्ठभूमि के अधूरा ही था। इससे एक ओर जहा हिन्दी भाषा एव साहित्य के बोध के साथ निष्कर्ष निकालने मे सहायता प्राप्त होती है वही दूसरी ओर उनके मूल स्रोतो तक पहुचने की गति मिलती है तथा अनुसधित्सुओ की कार्य-क्षमता प्रबुद्ध होती है।

सम्राट् अशोक के शब्दो मे 'समवाय एव साधु' जीवन-मत्र वाले मध्यदेश मे प्रस्तर-युग से लेकर हिन्दी भाषा और साहित्य के अभ्युदय तक अर्थात् १२वी शती के अन्त मे मुहम्मद गोरी द्वारा परस्पर सघर्षरत राजपूत सत्ताओ के पराभव तक—हमे सिन्धु सभ्यता, वैदिककालीन वैवस्वत मनु, भारतवश, महाभारत, बौद्धयुगीन महाजनपदो के परिचय के उपरान्त मौर्य, शुग, कण्व, सातवाहन, गुप्त, मैत्रक, मौखरि, उत्तर गुप्त, वर्द्धन, गुर्जर-प्रतिहार, चदेल, कलचुरि, परमार, चौहान, गाहडवाल और चालुक्य शासको के दर्शन होते है, जिस जनपद मे सिन्धु घाटी की सभ्यता के धर्म, पूर्व और उत्तर वैदिक धर्म, उपनिषद् कालीन विचारधारा, बौद्ध एव जैन धर्म, वैष्णव, शैव, मत्र-तत्र, वज्रयान, सहजयान, सिद्ध, नाथ, गोरख आदि के मत मतान्तर समय-समय पर प्रादुर्भूत और समृद्ध हुए, जहा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ, शूद्र आदि मे जाति-पाति के कठिन नियम प्रचलित हुए, जहा वैदिक, पालि, प्राकृत, अपभ्रश और हिन्दी भाषाए उत्तरोत्तर विकसित

और समुन्नत हुई, जहा वास्तु, मूर्ति और चित्रकलाए अपनी अभिनव विशिष्टता से सम्पन्न हुई, जहा वाल्मीकि, व्यास, शुकदेव, कालिदास, अश्वघोष, माघ, श्रीहर्ष, अमरूक, जयदेव प्रभृति कवियो और नाट्यकारो ने अपनी कृतियो द्वारा देववाणी को अमर किया, जहा बड़े-बड़े आचार्यो और वैयाकरणो ने जन्म लिया उस हिन्दी देश के विशिष्ट व्यक्तित्वो, उनके कृतित्वो एव युग-युग की विशेषताओ का ज्ञान हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन की उपयोगी आधारशिला है। 'हिन्दी साहित्य' के इस भूमिका खड मे इन सब का वाछित विवेचन होने से वह श्लाघनीय बन गया है।

इसके दूसरे सस्करण मे यदि आर्थिक और सास्कृतिक स्थितियो के परिचय के साथ-साथ उन प्रचलित ज्ञान-विज्ञानो पर भी प्रकाश डाला जा सके जो परिवर्तित परिस्थिति मे हिन्दी देश द्वारा समुन्नत न किए जा सके तो यह कृति अभिनन्दनीय होगी।

भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग इस प्रकाशन के लिए एव इसके सम्पादक इस आयोजन के लिए बधाई के पात्र है।

———

पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास

डॉ० ओमप्रकाश शर्मा

हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रादेशिक सम्बन्ध कभी सकुचित और सीमाबद्ध नही रहा। आदिकाल का जैन और सिद्ध सम्प्रदायो का अपभ्रश या पुरानी हिन्दी का साहित्य प्राय समस्त उत्तर भारत का साहित्य है। ब्रजभाषा ब्रज की भाषा होते हुए भी पजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, बगाल ओर दक्षिण के भी अनेक कवियो की वाणी बनी। वस्तुत हिन्दी के साथ प्रान्तीयता का भाव कभी नही रहा। हिन्दी-साहित्य-साधना मे समस्त भारत का योगदान समग्र और अश दोनो रूपो मे स्वीकरणीय है। साहित्य के इतिहास मे प्रदेश-भेद किए बिना ही समस्त कवियो एव लेखको का अपने महत्त्व के अनुसार उल्लेख होता है, परन्तु सम्पूर्ण साहित्य की एकतानता के साथ ही विभिन्न प्रदेशो की अपनी कुछ प्रादेशिक विशेषताए भी होती है, जो वहा के साहित्यकारो की रचनाओ मे दृष्टिगत हो सकती है। यह सत्य है कि वीरगाथाकालीन अथवा भक्तिकालीन भारत की सास्कृतिक चेतना प्राय सभी प्रदेशो मे समान रूप मे प्रवाहित रही है, फिर भी अपने विस्तार मे अनेक विशेषताओ को भी वे सजोये हुए है। दूसरे, उन विभिन्न प्रदेशो के साहित्य का पृथक् से अध्ययन करने पर ऐसे अनेक कवि-लेखक भी दृष्टिपथ मे आ जाते है, जिनका उल्लेख विशद इतिहास-फलक पर प्राय नही हो पाता। इन दृष्टियो मे हिन्दी-साहित्य के इतिहास का प्रदेशानुसार आकलन अत्यन्त उपयोगी हो सकता है और इसी परम्परा मे श्री चन्द्रकान्त बाली द्वारा लिखित 'पजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्यका इतिहास' को लिया जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने आरम्भ मे ही पजाब प्रान्त का विशेष ऐतिहासिक और सास्कृतिक परिचय प्रस्तुत करते हुए यह भी सिद्ध किया है कि हिन्दी भाषा पजाब प्रदेश की ही उपज हे। पजाब प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य के काल-विभाजन मे भी उसने सामान्य स्वीकृत पथ से कुछ हटकर विचार किया है और प्रमुखत उसे 'आदिकाल' और 'मिश्रित काल' इन दो शीर्षको मे विभाजित किया है।

आदिकाल (१००० से १५०० तक) की पृष्ठभूमि मे लेखक ने पजाब के राजनीतिक इतिहास का विवेचन किया है और उसके प्रकाश मे वहा की धार्मिक,

---

लेखक	श्री चन्द्रकान्त बाली
प्रकाशक	नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली
मूल्य	१५ रु०

सामाजिक, आर्थिक आदि अवस्थाओ पर विचार किया है। इसी प्रकरण मे लेखक ने हिन्दी का पहला कवि—फरीदुद्दीन शकरगज को सिद्ध किया है। 'आदिकाल कवि-परिचय' मे लेखक ने चौरगीनाथ, चन्दबरदाई, फरीदुद्दीन शकरगज, चर्पटनाथ, जयदेव, बालानाथ तथा बू अलीशाह कलन्दर का सामान्य परिचय देते हुए उनकी रचनाओ का उल्लेख किया है।

'मिश्रित काल (१५००–१९००) की पृष्ठभूमि' इस प्रकरण मे लेखक ने प्रस्तुत काल की विभिन्न स्थितियो पर विचार किया है, और इसके कवि-परिचय मे साईदास से लेकर नारायणस्वामी तक ६२ कवियो का परिचय दिया है। 'कुछ अन्य कवि' इस शीर्षक से लेखक ने एक और अध्याय जोडा है, जिसमे राय पुगर इत्यादि ५३ कवियो का सामान्य परिचय है। ग्रन्थ के अन्त मे परिशिष्ट सलग्न है, जिसमे पजाब-प्रदेश का मान-चित्र, अनेक वशावलिया एव अन्य पूरक सामग्री का निर्देश किया गया है।

इस प्रकार यह इतिहास ग्रन्थ पजाब के लगभग १,००० वर्ष मे होने वाले हिन्दी-साहित्य के निर्माण का दर्पण है। यह लेखक के ग्रन्थ का पहला खड है। दूसरा खड नवीन काल का होगा जो कि अभी प्रतीक्षित है।

यह ग्रन्थ लिख कर वास्तव मे श्री चन्द्रकान्त बाली ने स्तुत्य प्रयास किया है। हिन्दी-साहित्य-भडार मे पजाब अन्य प्रदेशो से किसी भी अवस्था मे पिछडा हुआ नहीं रहा। उसने अनेक ऐसे कवियो को जन्म दिया जो आदि काल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल मे शीर्षस्थ बने। महाकवि चन्दबरदाई, भक्तप्रवर सूरदास तथा आचार्य अमीरदास जैसे साहित्यकारो का नाम इसी श्रेणी मे अग्रणी है।

विद्वान् लेखक ने विषय-प्रवेश तथा अन्य दोनो 'कालो' मे पजाब मे होने वाले राज्य-परिवर्तनो का विशद विवेचन करते हुए हिन्दी-साहित्य के निर्माण की प्रगति का क्रमबद्ध इतिहास लिखा है, जो कि हिन्दी-साहित्य के पाठको को कई अज्ञातनामा कृति-कारो से परिचित कराता है। इस ग्रन्थ मे शोधार्थियो के लिए प्रचुर मात्रा मे सामग्री की सूचना भी सकलित हो गयी है। शोध के क्षेत्र मे जो कठिनाई नवीन विषयो को लेकर अनुभव की जा रही है, इस ग्रन्थ से उस क्षेत्र मे कार्य करने की प्रेरणा मिलेगी ही। पजाब मे भक्तिकाल और रीतिकाल मे कितना साहित्य लिखा गया, कितने ऐसे आचार्य हुए जिन्होने साहित्य के विभिन्न अगो पर लिखा, उन पर शोध-कार्य होने से अब तक के कई रीतिकालीन आचार्यो के सिहासन विकपित हो जाएगे। आचार्य अमीरदास, कवि निहाल, रसपुज तथा अन्य अनेक कवियो एव आचार्यो की रचनाओ का मूल्याकन होने पर ये भी हिन्दी-साहित्य मे अग्रगण्य स्थान प्राप्त करने के अधिकारी सिद्ध होगे। इस प्रकार पजाब के साहित्यकारो का परिचायक यह सन्दर्भ ग्रन्थ इन नवीन परिचयो की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की उपलब्धियो के साथ ही किसी समीक्षक का ध्यान लेखक द्वारा प्रस्तुत उन आधारभूत तथ्यो की ओर भी सहसा चला जाता है, जो सामान्य मान्यताओ

के प्रतिकूल भी है और लेखक जिन्हे पूर्णतया सिद्ध करने मे भी असफल रहा है। ऐसी कुछ बातो की ओर यहा इगित करना अपेक्षित है।

हिन्दी मुसलमानो की बोली

आरम्भिक प्रकरण 'विषय-प्रवेश' मे हिन्दी को 'म्लेच्छभाषा' सिद्ध करने मे लेखक ने बडा उत्साह दिखाया है। उन्ही के शब्दो मे उनका निर्णय है—"१३८४ विक्रमी सवत् से लेकर १८६० विक्रमी सवत् तक मुसलमानो ने अपने कथ्य को केवल हिन्दी कहा है। अत आरम्भ से लेकर आज से सौ वर्ष पूर्व तक मुसलमान हिन्दी को अपनी ही बोली बताते रहे, और हिन्दू भी उसे 'म्लेच्छ भाषा' ही मानते रहे।" (पृ० २८) इसी प्रसग के निष्कर्ष-रूप लेखक ने मान लिया है कि 'हिन्दी मुसलमानो की भारत को सास्कृतिक देन है।" (पृ० २९)।

'हिन्दी' के नामकरण और उसके उद्भव का निर्णय करना भाषा-वैज्ञानिको पर छोडना अधिक उपयुक्त होता। आज जिसे 'हिन्दी' कहा जाता है, इसी प्रकरण मे लेखक ने हिन्दुओ द्वारा इसी भाषा को 'म्लेच्छ भाषा' कहने की चर्चा उस कालक्रम मे की है। लेखक को अपने ये शब्द स्वय ध्यान मे रखने चाहिए थे कि विद्वान् लेखको ने बडी खोज के बाद प्रमाणित कर दिया है कि आरम्भ से लेकर अन्त तक उर्दू का एकमेव 'हिन्दी' नाम ही प्रचलित था। (पृ० २८) अत 'हिन्दी' नाम भले ही मुसलमानो द्वारा दिया गया हो, हिन्दी भाषा मुसलमानो द्वारा नही दी गई है, वैसे ही जैसे हिन्दू नाम विदेशियो का दिया हुआ है न कि हिन्दू जाति। और जहा तक नाम का ही प्रश्न है तो मुसलमान तो 'पजाबी' को भी हिन्दी कहते है, यह प्रस्तुत ग्रन्थ के ३८ पृष्ठ के अनेक उदाहरणो से स्पष्ट है। अत 'हिन्दी' शब्द के कथ्य को ध्यान मे रख कर ही यह विवेचन किया जाना चाहिए था। हिन्दी तो शौरसेनी अपभ्रश का ही प्रकृत विकास है।

हिन्दी पजाब की उपज

समीक्षक को भावावेश से पृथक् रह कर ही तथ्यो का विवेचन करना उचित होता है। हिन्दी को पजाब की उपज सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने भी जो थोडे-बहुत कथन इधर-उधर से एकत्र किए है उनके आधार पर उसका यह विचार कि चूँकि मुसलमान पजाब मे आकर पहले बसे थे, इसलिए हिन्दी भाषा वही की है और वही उसकी उद्भव भूमि है, एक अत्यन्त क्लिष्ट कल्पना है और उसके सम्बन्ध में निर्णायक फतवा देने के लिए अधिक वैज्ञानिक होने की आवश्यकता है। यहा यह भी द्रष्टव्य है कि क्या मुसलमानो ने सिन्ध की तब की भाषा को 'हिन्दी' की सज्ञा दी या नही जहा वे सबसे पहले आकर रहे या यह हिन्दी की सज्ञा देना उन्हे पजाब मे ही पहुचकर

हिन्दी का प्रथम कवि . फरीद

इस सम्बन्ध मे लेखक का निष्कर्ष भी अपने पूर्व तथ्यो पर आधारित है। लेखक के ही शब्दो मे —'हिन्दी मुसलमानो की भाषा है, और वह पजाब की उपज है, अत पजाब के प्रथम मुस्लिम कवि को हिन्दी-जगत् का आदि कवि तर्क तथा काल-गणना के अनुसार मानना अधिक यथार्थ है।' इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि लेखक ने अपभ्रश के कवियो को हिन्दी-कवि होने का गौरव नही देना चाहा है, और इसी आधार पर डॉ० सत्यदेव चौधरी द्वारा प्रस्तावित 'बीसलदेव रासो' के लेखक नरपति नाल्ह को, जो निश्चित रूप से फरीदुद्दीन शकरगज से पूर्ववर्ती है, लेखक हिन्दी का आदि-कवि होने का सौभाग्य नही देना चाहता। और यदि फरीद शकरगज को ही लेखक ने आदि-कवि मानना उचित समझा है तो आदि काल के कवि-परिचय मे फरीद को क्रम मे चौथा स्थान क्यो दिया है? इस कवि से पूर्ववर्ती कवि को 'अपभ्रश भाषा के कवि' शीर्षक के अन्तर्गत रखते, जैसा कि उनका अभिप्राय प्रतीत होता है।

'पृथ्वीराज रासो' तथा 'सन्देश रासक' मे मुलतानी भाषा ?

लेखक ने मुलतानी भाषा के सम्बन्ध मे भी आग्रह से काम लिया है। इसका प्रमाण नीचे लिखे स्थल है—

(अ) मुलतानी भाषा प्रदेश —बहावलपुर, मुलतान, मुज़फ्फरगढ, डेरागाजी खा, मिटगोमरी, मियावाली, झग और लायलपुर।

(आ) 'हमारे आलोच्य काल मे बहुत पहले केवल दो भाषाए, मुलतानी और ब्रज विद्वज्जनो मे लोकप्रिय हो चली थी और साहित्य क्षेत्र मे स्थान भी पाने लगी थी। मुलतानी तो केवल दो-तीन पीढी ही चल सकी, अधिक नही, पृथ्वीराजरासो तथा कतिपय अन्य सन्त वचनो मे अपने सकेत छोडकर वह लोक गीतो मे सिमट गई।'

(इ) 'मुलतानी को पजाबी नही कहा जा सकता।' (पृष्ठ २११)।

(ई) मुलतानी के इतिहास मे 'सन्देश रासक', 'पृथ्वीराज रासो' तथा आदि ग्रन्थ' के अनन्तर' फतहनामा' को गिनना एक अखडनीय वास्तविकता होगी। (पृ० ३२८)

ग्रन्थ के इन अशो को पढ कर यह धारणा बनती है कि लेखक को मुलतानी को, उसे प्रौढ साहित्यिक भाषा सिद्ध करने का विचार अन्तर्मन मे व्याकुल किए था, सो अवसर पाते ही पक्तियो मे उभर आया। 'आदि ग्रन्थ' से मुलतानी भाषा (पृ० १८८) के बडा, आखे, डिठा, आखण, कीतो, चारा, सवारण, कूर, खादा तथा सलाहणा शब्द प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किए है। निश्चय से ही लेखक यह नही कह सकता कि ये पजाबी भाषा के शब्द नही हैं।

मुलतानी भाषा के प्रदेशान्तर्गत झग और लायलपुर की भाषा को समाविष्ट कर देना उचित प्रतीत नही होता। झग की भाषा की क्रियाए एव शब्द सस्कृत भाषा के

विभक्तिगत रूपो तक आज भी प्रचलित हैं जैसे—यासि (तू जाता है) बहसि (तू उठाता है), चलसि (तू चलना है)। लायलपुर की भाषा झग से मिलती है, मुलतानी से नही। इसलिए मुलतान की भाषा का सम्बन्ध झग ओर लायलपुर की भाषा से जोडना यथार्थ नही है। 'पृथ्वीराज रासो' एव 'सन्देश रासक' मे लेखक ने मुलतानी शब्द नही चुने। 'रासो' प्रसग मे मुलतानी भाषा 'अथवा' शब्द के साथ पजाबी सहित क्यो खडी है? (पृष्ठ १२४)। इसकी सकारण चर्चा ग्रन्थ मे नही है।

म्लेच्छ देश की सीमा तथा म्लेच्छ-भाषा

प्रमाण पुरस्सर माना गया है कि आर्यजन जिस प्रदेश का परित्याग कर देते थे, वह म्लेच्छ देश कहलाता था। 'मनुस्मृति' एव 'अमरकोश' के प्रमाण भी दिए गए है।

म्लेच्छ देश स विज्ञेय आर्यावर्तः तत· परम्।
प्रत्यन्तो म्लेच्छ देश· स्यात् मध्यदेशस्तु मध्यमः॥ (पृष्ठ १००)

इन प्रमाणो को देखकर, एक जिज्ञासा जागती है, कि जब आर्य लोग पजाब से आगे आ गए, तब पीछे म्लेच्छ देश बनता गया, तब १९४७ मे पहले सभी पजाबवासी म्लेच्छ देशवासी स्वत हो गए? परन्तु दूसरी ओर लेखक मुलतान को म्लेच्छ देश नही मानना चाहते। देखिए

तथापि सूर्यमन्दिर के कारण चातुर्वर्ण्य मुलतान को सर्वथा नही छोड गया होगा मुलतान को म्लेच्छ देश कहने की युक्ति बुद्धिगम्य प्रतीत नही हो रही। (पृ० १००)। वस्तुत इसी सूर्यमन्दिर के ही कारण मुलतान को 'तपनतीर्थ' कहा गया। और शायद इसी 'तपनतीर्थ' सज्ञा की ही महिमा है कि मुलतान 'म्लेच्छ देश' की सीमा से बाहर निकल गया। अस्तु! इस प्रसग मे भी भट्टनारायण की भाषा के उदाहरण मे तथा गुरु गोविन्दसिह के कथन से हिन्दी को म्लेच्छ भाषा माना गया है। वास्तव मे उन्होने फारसी भाषा को ही म्लेच्छ भाषा कहा था हिन्दी को नही, स्वय लेखक ने यह तथ्य अन्यत्र माना है।

एक अन्य स्थान पर उन्होने अद्दमाण को डेरागाजीखा का निवासी माना है (पृ० १०२) मुलतान का नही, क्योकि डेरागाजीखा उन्हे म्लेच्छ देश लगता है, परन्तु दूसरी बार मुलतानी भाषा-प्रदेश मे डेरागाजीखा को भी गिन दिया है। ऐसी विसगति का निराकरण आवश्यक है।

लेखक ने सिख सस्कृति-सम्बन्धी धारणा मे कतिपय 'मौलिक' धारणाए प्रस्तुत की है—

"मुस्लिम सस्कृति के समागम से जिस नयी सस्कृति का प्रकाश हुआ, वह थी सिख सस्कृति। इसके सामने सनातन हिन्दू-सस्कृति तथा मुस्लिम-सस्कृति स्वय मन्द पड गईं। इस समूचे युग को सिख सस्कृति का काल मानना अनुचित न होगा।" (पृ० २१०)

एक अन्य प्रसग मे सिख और मुस्लिम सस्कृति की एकता को लेकर पैगम्बरवाद–गुरु परम्परा, हलाल-झटका, कर्मकाड का अभाव तथा धर्ममूलक समाज व्यवस्था का अभाव आदि धारणाए विचारणीय है ।

काल-विभाजन

दोनो कालो के ग्रन्थो को भाषा, काव्य-रूप, विषय आदि की दृष्टि से बाटा जाना गणना-प्रणाली का आश्रय है, जो इतिहास पढने मे सुविधा प्रदान करती है, परन्तु ४००-५०० वर्ष के दो कालो मे विभाजन वैज्ञानिक नही, जबकि अब तक मान्य काल-विभाजन के अन्तर्गत सभी कवि आ जाते है । यदि परम्परा से हट कर काल-विभाजन करने का प्रयास न किया जाता तो 'कुछ अन्य कवि' भी इसी मे समा जाते और इस प्रकार उनका स्थान महत्त्वहीन न होने पाता ।

कवियो के सम्बन्ध मे विद्वान् लेखक ने विभिन्न मतो को अवश्य प्रस्तुत किया है, परन्तु कही-कही भ्रातिया भी है । स्वामी हरिदास तथा बाबा लाल के सम्बन्ध मे धारणाए प्रमाणपुष्ट नही है । लेखक द्वारा स्वामी हरिदास नामक दो व्यक्तियो की कल्पना उचित नही है जबकि उनकी प्राप्त रचनाए परम्परा एव प्रमाण दोनो आधारो से एक ही व्यक्ति की कृति है । बाबा लाल की गद्दी वाले मठ बटाला तथा ध्यानपुर मे अब भी है । इन पक्तियो के लेखक ने दोनो मठ स्वय देखे है । बाबा लाल जी की समाधि ध्यानपुर मे है । उनके ग्रन्थो का भारी सग्रह भी मठ मे विद्यमान है । आशा है अगले सस्करण मे इन धारणाओ पर पुनर्विचार होगा । आगन्तुक कवियो मे 'भाषा-भूषण' के टीकाकार हरचरण दास का नाम आना चाहिए । पटियाला सेंट्रल लायब्रेरी मे इनके ग्रन्थ प्राप्त है । गोआवासी कवि हरि ने भी 'कवि वल्लभ वचनिका' ग्रन्थ पटियाला मे रह कर ही लिखा । इस ग्रन्थ मे रीति काल के प्रमुख कवियो के पदो मे दोष-निरूपण किया गया है । ग्रन्थ अपूर्व है । 'अलकार-माला' के लेखक कविदास का नाम भी ग्रन्थ मे नही आया । आशा है कि अगले सस्करण मे इन महत्त्वपूर्ण कवियो का सकलन भी हो सकेगा ।

इस विवेचन के उपरान्त भी इतना स्पष्ट है कि इस इतिहास-ग्रन्थ मे पजाब मे विद्यमान हिन्दी का प्राचीन साहित्य प्रकाश मे आया है । यह अपने आप मे एक विशद एव मौलिक तथा श्लाघ्य प्रयास है । इससे पजाब का साहित्यिक गौरव बढा है । भक्ति और रीति काल के साहित्य मे नवीन ग्रन्थो का नाम आ जुडा है । इन ग्रन्थो का भी मूल्याकन होगा । बाली जी ने जिन परिस्थितियो से जूझ कर यह महत्कार्य किया है, वह कर्मठता का अपूर्व उदाहरण है । प्रस्तुत ग्रन्थ का अन्यतम महत्त्वपूर्ण भाग हैं—इसके परिशिष्ट । ये ग्रन्थकार की आकलनात्मक प्रवृत्ति, ऐतिहासिक अन्वेषण तथा विशद एव गम्भीर अध्ययन के परिचायक है । इसी भाग मे तीनो मानचित्र, तिथिसारणी तथा शालिवाहन सम्बन्धी लेख अति महत्त्वपूर्ण है ।

इस सब प्रयास के लिए पडित चन्द्रकान्त बाली हिन्दी साहित्य के इतिहास अन्वेषकों के लिए अभिनन्दन के पात्र है ।

काशी का इतिहास

डॉ० राजबली पाण्डेय

यह ग्रन्थ दो खडो मे विभक्त है। प्रथम खड मे पन्द्रह अध्याय और दूसरे मे ग्यारह अध्याय है। इनके अतिरिक्त तीन परिशिष्ट और विस्तृत नामानुक्रमणिका है। प्रथम खण्ड मे क्रमश प्राकृतिक रचना और यातायात के साधन, काशी का इतिहास और वैदिक, पौराणिक तथा बौद्ध ग्रन्थो के साक्ष्य, प्राचीन साहित्य के आधार पर काशी का धार्मिक इतिहास, महाजनपद युग मे बनारस के सामाजिक इतिहास के कुछ पहलू और व्यापार, मौर्य और शुग युग की काशी, सातवाहनो से गुप्तो के उदय तक काशी का इतिहास, सातवाहन, कुषण और मघ काल मे बनारस की कला, धर्म और व्यापार, गुप्त युग मे बनारस का इतिहास, राजघाट से मिली गुप्तकालीन मुद्राओ से बनारस के शासन और व्यापार पर प्रकाश, ईस्वी ५५० से करीब ७०० तक काशी का इतिहास, आठवी सदी से गाहडवालो के पहले तक का काशी का इतिहास, करीब ३०० ईस्वी से ११वी सदी के अन्त तक बनारस की कला, काशी पर गाहडवालो का राज्य, गाहडवाल युग मे बनारस का शासन-प्रबन्ध तथा सामाजिक और धार्मिक अवस्था और गाहडवाल युग मे तीर्थक्षेत्र वाराणसी अध्यायो के विषय है। दूसरे खण्ड मे इसी प्रकार १२१० से १५१९ तक बनारस का इतिहास, मुगलकालीन बनारस, शाहजहा–ओरगजेबकालीन बनारस, १७०६ से १७८१ ईस्वी तक का बनारस, मराठे और बनारस (१७३४–१७८५), महीपनारायण सिह, डकन और बनारस, बनारस के महाजन, वजीर अली का मामला, १८०० से १८२५ तक का बनारस, बनारस शहर के लोग, घाट, मन्दिर, यात्रा, उत्सव इत्यादि और बनारस के पण्डित, कवि और सस्थाए अध्यायो के विषय है। तीन परिशिष्टो मे प्राचीन काशी मे वैशिक जीवन, हेस्टिग्ज द्वारा वनारस की शासन-व्यवस्था और बनारस के महाराज, रानी तथा दूसरे अफसरो, सरदारो, कुल स्त्रियो तथा बनारस के बाशिन्दो का हेस्टिग्ज की नेकचलनी के बारे मे परिपत्र के विवरण है। प्रथम खण्ड के अन्तिम तीन अध्याय गाहडवाल-युग का ही वर्णन करते है। इस युग का विस्तृत इतिहास लिखने का कारण यह है कि छठी शती ई० पू० के बाद फिर गाहडवालो के समय मे ही काशी को पुन राजधानी बनने का अवसर प्राप्त हुआ था।

लेखक	डा० मोतीचन्द्र
प्रकाशक	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई
मूल्य	बाईस रुपए

अभी तक काशी के जितने इतिहास लिखे गए है उनमे प्रस्तुत ग्रन्थ सबसे अधिक विस्तृत, सुव्यवस्थित और प्रामाणिक है। डॉ० मोतीचन्द्र पूरे बनारसी है और उनके जीवन की यह आकाक्षा थी कि काशी का सर्वाङ्गीण इतिहास वे लिखें। यद्यपि अपनी कृति से वे पूरे सन्तुष्ट नही है—और श्रेयसि केन तृप्यते ?—किन्तु इसमे सन्देह नही कि इस रचना से उन्होने ऐतिहासिक जगत् को अनुगृहीत किया है। काशी का इतिहास जितना आकर्षक और वाछनीय था उतना ही प्रणयन मे दुरूह। उन्होने वर्षो से काशी के इतिहास का सकलन और मनन किया है। सभवत 'सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन-ग्रन्थ' मे इस पर लगभग एक अध्याय प्रकाशित भी हुआ था। उनके दीर्घ परिश्रम ओर स्वाध्याय का यह फल है और सभी दृष्टियो से अभिनन्दनीय।

विद्वान् लेखक ने इतिहास के प्राय सभी उपकरणो का इस ग्रन्थ मे उपयोग किया है। साहित्यिक सामग्री, विशेषत धार्मिक, का इसमे प्रचुर समावेश है। वैदिक, पौराणिक, बौद्ध, जैन आदि सभी धार्मिक साहित्यो से यथासम्भव काशी के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। विदेशी पर्यटको, राजदूतो और इतिहासकारो के विवरणो से भी पर्याप्त सामग्री ली गयी है। कोष ओर व्याकरण ग्रन्थो का भी दोहन हुआ है। लेखक पुरातत्त्व के विशेषज्ञ है और शासकीय अभिलेखागारो की सामग्री भी उनको सुलभ थी। इन दो सामग्रियो का जितना उपयोग उन्होने किया है उतना और किसी काशी के इतिहासकार ने पहले नही किया था। इन सामग्रियो के उपयोग की एक और विशेषता है। लेखक ने तटस्थ इतिहासकार के रूप मे प्राय सामग्रियो का सयोजन करके उन्ही को अपनी कथा कहने दिया है और उन पर अधिक टीका-टिप्पणी नही की है। इससे ग्रन्थ का विश्लेषणात्मक और विवेचनात्मक पक्ष थोडा शिथिल पड गया है, परन्तु ग्रन्थ की रोचकता इससे बढ गयी है। लेखन-शैली सरल और वर्णनात्मक होने से पाठक पर पाण्डित्य का बोझ कम पडता है।

ग्रन्थ की पूर्णता की दृष्टि से एक बात की कमी खटकती है। १८२५ ई० के बाद का काशी का इतिहास छोड दिया गया है। १८५७ के राष्ट्रीय विप्लव मे काशी का महत्त्वपूर्ण योग था। आधुनिक सास्कृतिक तथा शैक्षणिक आन्दोलनो मे भी काशी की प्रमुख देने है, जैसे, थियोसॉफिकल सोसाइटी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, नागरी प्रचारिणी सभा, आर्य विद्या सभा आदि। देश के स्वातन्त्र्य सग्राम मे काशी का जो हाथ था उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। हिन्दी साहित्य और वाङ्मय के विकास मे काशी की सेवाये भी स्मरणीय है। सम्भवत लेखक ने इस काल के इतिहास को इसलिए छोड दिया है कि यह अभी स्थिर नही हो पाया है और इसका समुचित मूल्याकन नही हुआ है। परन्तु बिल्कुल अद्यतनकाल को छोड कर इसका निरूपण करना चाहिए था।

ग्रन्थ के विविध अध्यायो मे लेखक ने यत्र-तत्र जो मत और विचार प्रकट किये हैं उनमे से कुछ के साथ मतभेद हो सकता है। यह स्वाभाविक भी है, क्योकि प्रत्येक नयी और मौलिक कृति स्थिर विचारो को धक्का देती और मतभेद उत्पन्न करती है।

प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय के पृ० १ पैरा २ मे लिखा है "इतिहास की जाच-पडताल करने पर पता चलता है कि काशी और उसकी राजधानी वाराणसी का महत्त्व विशेष रूप से उसकी व्यापारिक और भौगोलिक स्थिति के कारण था।" इसके विरुद्ध सम्पूर्ण भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि काशी का महत्त्व धार्मिक और सास्कृतिक था। व्यापारिक और भौगोलिक स्थिति प्राथमिक हो सकती है, मौलिक नही। मनुष्य का पुरुषार्थ, साधना और भावना भूगोल को महत्त्व देते है, इनके बिना भूगोल और व्यापार जड है। इसी पैरा मे पुन लेखक कहते है "जब सरस्वती के किनारे से आर्यो का काफिला विदेघ माथव के नेतृत्व मे आधुनिक उत्तर प्रदेश के घने जगलो को चीरता हुआ सदानीरा अथवा गडकी के किनारे जा पहुचा और कोसल जनपद की नीव पडी, उसी समय सम्भवत: काश्यो ने बनारस मे अपना अड्डा जमाया।" वास्तव मे विदेघ माथव की अग्नि-यात्रा और कोसल तथा काशी की स्थापना से कोई सम्बन्ध नही है। विदेघ माथव की यात्रा भारतीय इतिहास की एक परवर्ती घटना है। इसके बहुत पूर्व मानवो (ऐक्ष्वाकुओ) द्वारा कोसल ओर ऐलो (क्षात्रवृद्धो) द्वारा काशी की स्थापना हो चुकी थी। इसका प्रमाण भारत का लिखित पौराणिक वशानुचरित है, जिसके विरुद्ध अनुमान बहुत ही दुर्बल पड जाता है।

काशी की स्थिति के सम्बन्ध मे पृ० ५ पैरा ४ मे लेखक का कथन है "गगा नदी इसके दक्षिण-पूर्व मुख की रक्षा करती है, और बरना नदी उत्तर और उत्तर-पूर्व मुखों की रक्षा एक छिछली खाई के रूप मे करती है। पश्चिम की ओर एक खालो नाला है, जिसमे होकर किसी समय बरना बहती थी।" विशेष रूप से ध्यान देकर देखने से पता चलेगा कि पश्चिम की ओर नाला अथवा नदी का छोडन नही, किन्तु परिखा अथवा खाई है। राजघाट की स्थिति त्रिकोण है जिसके एक ओर गगा, दूसरी ओर बरना और तीसरी ओर कृत्रिम परिखा बनी थी। परन्तु राजघाट तो केवल दुर्ग था। इसके पश्चिमोत्तर मे काशी का विपुल विस्तार था। यह भी कहना कठिन है कि मूल काशी की वही स्थिति थी जो मध्यकालीन और आधुनिक काशी की है। गगा-गोमती के सगम से पच-क्रोश की परिधि के भीतर काशी की स्थिति बदलती रही है। यह सच है कि काशी का इतिहास इस पूरे क्षेत्र को आच्छादित करता है।

ग्रन्थ के दूसरे अध्याय मे 'काशी का इतिहास और वैदिक, पौराणिक तथा बौद्ध ग्रन्थो के साक्ष्य' का विवेचन है। अभी तक प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण मे वैदिक, पौराणिक, बौद्ध तथा जैन साहित्यो का पृथक्-पृथक् उपयोग किया गया है। इससे इतिहास की एकसूत्रता नष्ट हो जाती है। विशेषकर वैदिक ओर पौराणिक परम्पराओ को एक दूसरे से तोड कर नही पढा जा सकता। पुराणो की सहायता के बिना वेदो मे प्रासगिक उल्लेखो का तिथि-क्रम नही स्थिर हो सकता और न आर्यो के विस्तार का दिशा-निर्धारण ही हो सकता है। शतपथ-ब्राह्मण मे वर्णित विदेघ माथव की कथा की व्याख्या भारतीय परम्परा के सन्दर्भ मे करनी चाहिए। काशी के प्रारम्भिक इतिहास मे कर्म-काण्डीय यज्ञ का विरोध प्रजातीय नही सास्कृतिक था। यज्ञ-विरोधी शिव का विवाह यज्ञ

के प्रवर्तक दक्ष प्रजापति की कन्या सती के साथ हुआ था। कुरु-पाचाल से यज्ञ का प्रसार प्रजातीय प्रसार नही, अपितु धर्म-साम्प्रदायिक प्रचार था। काशी जनपद इसके पूर्व बस गया था। अथर्ववेद मे ज्वर को समान रूप से गन्धार और काशी मे भेजा गया है। यदि इस कारण से काशी अनार्य हो तो गन्धार या मूजवन्त को क्या कहेगे ?

इसी अध्याय मे पृ० २६ पर बाबुल के कस्सी लोगो के साथ काशी (=काश्य) का सम्बन्ध जोडने का सकेत किया गया है और काश्मीर तथा काश्यपपुर (=मुलतान) के रास्ते भारत मे प्रवेश करने का। यह पूर्वापरावलम्बित दीर्घ कल्पना है। इसके विरुद्ध सुमेरी परम्परा मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि वरुण के सरक्षण मे समुद्र मार्ग से आने वाले लोगो ने कृषि, लेखन और धातु के उपयोग का वहा प्रचार किया। इसके बाद ही बाबुल पर उनका अधिकार हुआ। उनमे भारतीय देवताओ का पूजन इसी तथ्य का प्रमाण है। इसके अतिरिक्त पुराणो मे पश्चिमोत्तर दर्रो के रास्ते भारतीय आर्य राजवशो के मध्य और पश्चिमी एशिया मे जाने के स्पष्ट उल्लेख पाए जाते है। काश्यो मे से कुछ लोग पश्चिमी एशिया मे गए अथवा कस्सी भारत मे आए, इसका कैसे निर्णय होगा ? अनुमान अथवा लिखित परम्परा के आधार पर ? इसमे सन्देह नही कि उत्तर भारत (आर्यावर्त) मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया से प्रजातीय और सास्कृतिक दृष्टि से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध था। परन्तु प्रजातीय सक्रमण और सम्पर्क के सम्बन्ध मे सभी साक्ष्यो के सन्दर्भ मे विचार करने की आवश्यकता है।

बौद्ध-ग्रन्थो के साक्ष्य पर ब्रह्मदत्त-वश का इतिहास इस ग्रन्थ मे पाया जाता है, परन्तु इसके पश्चात् नाग-वश के इतिहास की चर्चा प्राय नही के बराबर है। इसी वश मे तीर्थकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था और सम्भवत मगध का शैशुनागवश इस उद्भूत था। ग्रन्थ मे इसकी अधिक विस्तृत चर्चा होनी चाहिए थी।

छठे अध्याय मे 'सातवाहनो से गुप्तो के उदय तक' के उलझे हुए काशी के इतिहास को सुलझाने का सराहनीय प्रयत्न किया गया है। फिर भी इसकी कई ग्रन्थिया अभी तक खुल नही पायी है। इस युग मे काशी का इतिहास साकेत और प्रयाग (कौशाम्बी) के इतिहास का ही एक अग है। इसके पूर्व साकेत शुगो का गढ था। उनकी साम्राज्यीय शक्ति के टूट जाने पर भी उनकी स्थानीय शाखाये बनी रही जो कभी सातवाहनो और कुषणो के अधीन और कभी स्वतन्त्र रूप से शासन करती थी। मित्र, देव, दत्त और सम्भवत मघ नामान्त वश शुगो और कण्वो के उत्तराधिकारी थे। वनस्थर की विश्व-स्फाणि के साथ अभिन्नता मनोरजक किन्तु अभी तक सदिग्ध है। काल-क्रम मे विश्व-स्फाणि भारशिव-नागो और वाकाटको के अधिक निकट है। नए क्षत्रिय बनाना विदेशियो का नही, ब्राह्मणो का काम था। वह शुगो और वाकाटको की परम्परा का व्यक्ति जान पडता है। तभी वह देव, पितृ और ब्राह्मणो को तृप्त कर सका।

तेरहवे और चौदहवे अध्यायो मे काशी पर गाहडवालो के राज्य और शासन प्रबन्ध का विस्तृत वर्णन किया गया है। बहुत दिनो के बाद काशी को राजधानी बनने

का अवसर इसी युग मे मिला। गाहडवालो के उद्गम को यूरोपीय इतिहासकारो और कतिपय भारतीय इतिहासकारो ने अभी तक उलझा रखा है। उनको न तो गाहडवालो की परम्परा पर विश्वास है और न दूसरी भारतीय परम्पराओ मे, जिनमे उनको क्षत्रिय कहा गया है। इन विद्वानो ने इतिहास की एक नयी परम्परा चलाई है, जिसके अनुसार बहुत से राजवश या तो विदेशी थे या आर्येतर निम्न वर्ण अथवा वर्ग के। वर्णो का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष तो भारतीय परम्परा मे मान्य था, परन्तु जहा वर्णोत्कर्ष हुआ उसका स्पष्ट उल्लेख है, उसमे कोई छिपाव अथवा घोखा-पट्टी नही। ब्रह्म-क्षत्र की प्रक्रिया मे बहुत से ब्राह्मण-वश क्षत्रिय हो गए, पुराणो के अनुसार कई क्षत्रिय-वश ब्राह्मण बन गए। वैदिक आख्यानो के अनुसार आर्येतर तत्त्व बराबर आर्यो मे मिलते रहे। गाहडवालो की उत्पत्ति के बारे मे डॉ० मोतीचन्द्र लिखते है

"गाहडवालो के उद्गम के बारे मे ठीक-ठीक पता नही चलता। लेखो मे वे अपने को सूर्यवशी अथवा चन्द्रवशी उद्घोषित न करके केवल क्षत्रिय कहते है। इस वश के भाटो की कल्पना से तो गाहडवाल राजा दिवोदास के वशधर है और शनि की दशा रोकने से इनका नाम ग्रहवर पडा जो बाद मे बिगडकर गाहडवाल हो गया। पर यह निरी कपोल-कल्पना है। सम्भव है कि ये किसी आदिम जाति के रहे हो जो राजसत्ता पाने पर और ब्राह्मणो को दान देने से क्षत्रियत्व को प्राप्त हो गए। (पृ० १२८)।" शनिग्रह से ग्रहवर की व्युत्पत्ति काल्पनिक हो सकती है। परन्तु गह्वर मे गाहडवाल की उत्पत्ति क्या कम काल्पनिक है? गुहा मे रहनेवाला पाषाणयुगीन मानव साम्राज्य बनाने मे अकस्मात् सफल हो गया, यह इतिहास का महत् चमत्कार होगा। भाटो और ब्राह्मणो की परम्परा अस्पष्ट हो सकती है, किन्तु असत्य और असिद्ध नही। ब्राह्मणो को सभी वर्णो ने दान और मान दिया, किन्तु उन्होने सभी का वर्णोत्कर्ष नही किया।

दूसरे खण्ड के प्रथम अध्याय मे १२१० से १५१९ तक का (सल्तनत काल का) इतिहास है। मुस्लिम आक्रमणकारियो द्वारा काशी के बारम्बार विध्वस और हिन्दुओ द्वारा उसके पुन पुन निर्माण का भीषण और करुण इतिहास है। परन्तु १४वी शती ई० के ग्रन्थ विविध तीर्थकल्प (ले० जिनप्रभ सूरि) से लगता है कि जैसे काशी मे कुछ हुआ ही न हो। इसका कारण यह है कि जिनप्रभ सूरि ने प्राय अत्यन्त प्राचीन गाथाओ और कथाओ को ही दुहराया है, उसमे समसामयिक घटनाए नही के बराबर है। लेखक ने समसामयिक इतिहास के लिए इस पर अधिक विश्वास कर लिया है, जब कि ठीक इसके बाद उन्होने फिरोज तुगलक की धर्मान्धता का उल्लेख किया है।

दूसरे खण्ड के दूसरे अध्याय मे मुगलकालीन बनारस का वर्णन है। लगता है कि इस काल के इतिहास के दो प्रमुख स्रोत टोडरानन्द और आइने अकबरी का उपयोग नही हुआ है। इनमे से प्रथम पूर्णत मुद्रित रूप मे उपलब्ध नही है, किन्तु इसकी हस्त-लिखित प्रति देखी जा सकती थी। टोडरमल का काशी से घनिष्ठ सम्बन्ध था। समसामयिक काशी पर इससे पर्याप्त प्रकाश पडता। पृ० २१८ पर लेखक का कथन है "हिन्दू धर्म

की इस दुरवस्था को देखते हुए भी गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित-मानस मे पुराण-सम्मत हिन्दू धर्म के विरोध मे अपनी आवाज नही उठायी। यदि वे तत्कालीन वर्णाश्रम की सत्ता पर आघात करते तो शायद उन्हे भी वही नतीजा मिलता जो रामानन्द और कबीर को मिला और जनता उनको सुनती ही नही।" परन्तु तुलसीदास का रोना तो यह था कि लोगो ने वेद-पुराणसम्मत वर्णाश्रम धर्म का पालन करना छोड दिया है और इस नास्तिकता के कारण काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद और मत्सर के वश मे हो गए है। फिर रामचरित-मानस मे श्रुति-स्मृति-पुराणसम्मत धर्म की दुहाई वे क्यो न देते? वास्तव मे कोई भी धर्म—वैदिक, पौराणिक, कुरानी, इजीली आदि—मनुष्य को दु शील होने का उपदेश नही करता। मनुष्य धर्मभ्रष्ट होने से शिश्नोदरपरायण होकर पशुवत् व्यवहार करता और दु ख पाता है। समय-समय पर धार्मिक और नैतिक मर्यादा स्थापित करने के लिए युग-पुरुष का अवतरण होता है। यही तुलसीदास के महाकाव्य रामचरित-मानस का विषय है। तुलसीदास ने अवैदिक, अनैतिक स्वच्छन्द कुपथो की कडी आलोचना की है। परन्तु समाज का सुधार केवल ध्वसात्मक प्रचार से नही होता। उसके लिए रचनात्मक आस्था, विश्वास और आचरण का आलम्बन भी चाहिए। तुलसीदास का साहित्य रचनात्मक है, जिसमे परम्परा और प्रगति का सुन्दर समन्वय है।

दूसरे खण्ड के चौथे अध्याय से काशी का आधुनिक इतिहास प्रारम्भ होता है। यह मगल-सत्ता का अधोमुखी काल था। दिल्ली के शक्तिहीन मुगल-सम्राटो, लखनऊ के लोभी और विलासी नवाबो तथा व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थ वाले स्थानीय जमीदारो और वणिको के व्यवहार से काशी क्षुब्ध और निष्प्रभ थी। इसी बीच अग्रेजो की गृध्र-दृष्टि काशी पर पडी। लेखक ने इस परिस्थिति का विस्तृत वर्णन किया है। परन्तु एक बात खटकती है। इन सब के बीच एक ही व्यक्ति था जो राजनीतिक धरातल पर कुछ ऊचा था। वह था चेतसिंह। ऐसा लगता है कि लेखक की समुचित सहानुभूति उसे प्राप्त नही हो सकी। इसलिए उसके राजनीतिक पक्ष का समुचित विकास इस ग्रन्थ मे नही हो सका है।

इन कतिपय मत-भेदो का उल्लेख करते हुए भी मेरा निश्चित मत है कि काशी का यह सर्वोत्तम इतिहास है। इससे काशी के अतीत के सम्बन्ध मे और गवेषणा करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा। आशा है सुधी-समाज मे इस ग्रन्थ का समुचित आदर होगा।

समय और हम

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

एक सीमित काल-खड मे जीते हुए भी हम काल की व्यापक समग्रता से सर्वथा असम्पृक्त तथा शाश्वत चेतना से विलग नही रह सकते। जो शका-समस्याए आज हमे सप्रश्न बनाती है, त्रैकालिक सत्य से सम्भूत होने के कारण अतीत, अनागत और वर्तमान के भेद को चीर कर सदा इसी प्रकार जिज्ञासाओ को जन्म देती रही है और आगे भी देती रहेगी। हम प्रश्नो के प्रति समाधान के आकाक्षी रहे है और कौन कह सकता है कि आगे आने वाले काल मे भी वे ही प्रश्न हमे आकुल नही करेगे जो आज हमारे अर्जित ज्ञान एव विवेक को चुनौती दे रहे है। जैनेन्द्र ने अपनी सूक्ष्म अन्तदृष्टि से ऐसे ही चिरतन प्रश्नो के आभ्यन्तर मे प्रवेश किया है तथा व्यक्ति चेतना एव काल खड से ऊपर उठकर उनका विवेक-सम्मत समाधान ढूढने का प्रयास किया है। 'समय और हम' केवल सम-सामयिक काल-बोध का सूचक न होकर मानवात्मा के शाश्वत प्रश्नो और जिज्ञासाओ का समाधान करने वाला एक मननीय एव पठनीय ग्रथ है। इस विशाल ग्रथो मे प्रश्नोत्तरो का ऐसा जाल फैला हुआ है कि मेरे जैसे साधारण योग्यता वाले पाठक को उसके तात्त्विक धरातल को पकड पाना कठिन हो जाता है। उसके अवगाहन और विवेचन की क्षमता तो बहुत कम पाठको मे ही होगी। प्रश्नकर्त्ता वीरेन्द्र गुप्त के मन मे मूल प्रश्न एक रहता है किन्तु समाधाता जैनेन्द्र उसे शाखा-प्रशाखाओ मे फैलाकर उलझट वाला वट वृक्ष बना देते है।

'समय और हम' साढे छह सौ पृष्ठो का विशाल ग्रथ है जिसमे साढे चार सौ गूढ गम्भीर प्रश्नो के उत्तर सकलित किए गए है। प्रश्नकर्त्ता श्री वीरेन्द्र कुमार गुप्त है और समाधाता श्री जैनेन्द्र कुमार। दादा धर्माधिकारी ने ग्रथ की प्रशस्ति लिखी है। उनके मत मे "जैनेन्द्र जी बिना प्रयोजन नही लिखते परन्तु प्रयोजन उनके स्वानन्द का सहोदर है। जीविका नीरवभाव से प्रयोजन और स्वानन्द की गैल चली चलती है। उनकी वाग् वैजयन्ती के सारे मौक्तिक कौस्तुभ ही है, शायद ही कोई अतिरिक्त या व्यर्थ शब्द होता है। उनकी प्रतिभा मे उनकी शैली दीप चढाती है। परिणाम बहुत मनोज्ञ होता है। जैनेन्द्रजी कोई तत्त्व-प्रचारक नही है। अपनी बात का प्रतिपादन करने के लिए वे युक्तियो

समय और हम	ले० जैनेन्द्र कुमार
प्रश्नकर्त्ता	श्री वीरेन्द्रकुमार गुप्त
प्रकाशक	पूर्वोदय प्रकाशन, दरिया गज दिल्ली
मूल्य	२० रुपए

का व्यूह नही रचते, क्योकि उनका अपना कोई पक्ष नही है, इसलिए उनके निरूपण मे बुद्धि की प्रगल्भता के साथ-साथ चित्त का प्रसाद और शैली की सहजता होती है।" दादा धर्माधिकारी की यह प्रशस्ति जैनेन्द्रजी के तत्त्व-चिन्तन पर उतना प्रकाश नही डालती जितना उनकी कथन शैली और विचार-प्रक्रिया को स्पष्ट करती है।

'समय और हम' के प्रश्नोत्तरो के सम्बन्ध मे अपना मत व्यक्त करने से पूर्व मैं यह आवश्यक समझता हू कि सक्षेप मे ग्रथ का सामान्य परिचय प्रस्तुत कर दू। साढे चार सौ प्रश्नो के उत्तरो से परिपूर्ण यह ग्रथ चार खडो मे विभाजित है। प्रथम खड, 'परमात्मा' शीर्षक से ईश्वर, आत्मा, कर्म, भाग्य, प्रतिभा, भविष्य, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, व्यक्तिचित् तत्र-यत्र, प्रजातत्र, समाजवाद, मार्क्सवाद, भाग्यवाद और वैज्ञानिक अध्यात्म विषयो पर उन्मुक्त शैली मे विचार व्यक्त किए है। द्वितीय खट का मुख्य शीर्षक है 'पश्चिम'। इस शीर्षक के भीतर जैनेन्द्रजी ने पराजित नारीत्व, वर्ग विचार और राष्ट्रवाद, हिसा-वादी सस्कृति, प्रेम-परिवार, मिक्का, उन्नति और नीति, अर्थ क्षेत्रो मे मूल्यो का सकट, अर्थ का परमार्थीकरण, अर्थ और काम, साहित्य और कला का विवेचन किया गया है। इस विवेचन मे सर्वत्र पश्चिम की दृष्टि पर नुक्ताचीनी की गई है, ऐसा नही है। पश्चिम की औद्योगिक क्राति ने जिस समाज का निर्माण यूरोप मे, अमेरिका मे, रूस मे, जर्मनी मे और फ्रास आदि देशो मे किया है उसकी झाकी अवश्य मिल जाती है। तृतीय खड के प्रश्नो का आधार है 'भारत'। भारत की सास्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिक, साहित्यिक और औद्योगिक समस्याओ पर बडे स्पष्ट रूप से समाधाता ने अपने विचार प्रस्तुत किए है। यह खड और खडो से आकार मे बडा है और इस खड के उत्तरो मे जैनेन्द्र की वाणी मे अपेक्षाकृत प्रखरता लक्षित होती है। भाषा का प्रश्न, हमारे दल और नेता, सुरक्षा, गृहनीति और विदेश नीति, और साहित्य क्षेत्र विषयक प्रश्नो के उत्तर तीखे और चोट करने वाले है। चतुर्थ खड 'अध्यात्म' शीर्षक है। अध्यात्म को जैनेन्द्र जी ने 'परमात्मा' से पृथक् स्वतत्र विषय क्यो बनाया यह स्पष्ट नही हो सका। इन्द्रिय, मन, अह, चेतना, कामासक्ति, रस, भाव, कल्पना, स्वप्न, इस्टिक्ट, बुद्धि और श्रद्धा, अह और आत्मा, कामाचार-बाह्याचार, भाव-विभाव तथा विराट्गत अह जैसे शीर्षक देखकर सामान्य पाठक अध्यात्म के इस अनचीने प्रपच से कुछ चौकता है किन्तु उनके अन्तरग मे पैठने से इस परिणाम पर पहुचने मे उसे कठिनाई नही होती कि जैनेन्द्र ने अध्यात्म को किसी सकीर्ण परिभाषा मे आबद्ध कर नही देखा है। जैनेन्द्र परम्परागत परिभाषाओ के कभी अनुगामी नही रहे। उनकी विचारणा-पद्धति मे अनुसरण तो होता ही नही है अत अध्यात्म को किसी सकुचित सीमा मे उन्होने नही देखा है।

पुस्तक के मोटे परिचय की बात कहने के वाद मै पुस्तक की शैली, उत्तरो का कोटिक्रम, प्रतिपादन का वैचित्र्य, व्यजना की विलक्षणता और निष्कर्षों की ग्राह्यता पर कुछ कहना आवश्यक समझता हू। प्रश्नकर्त्ता श्री वीरेन्द्र कुमार गुप्त के मत मे "जैनेन्द्रजी मूलत विचारक है। उनके कथा-साहित्य के मूल मे भी विचार का बीज गर्भित रहता है, कथा के पात्र तो व्याज मात्र होते है। अतलस्पर्शी गूढ गम्भीर विचारो को व्यक्त करने के

कारण जैनेन्द्र की शैली मे एक प्रकार की विलक्षणता दृष्टिगत होती है जो अन्य किसी कथा-लेखक मे नही मिलती। प्रश्नकर्त्ता के मत मे तो जैनेन्द्र उन सत्यो की प्रेरणा से लिखते है जिनका साक्षात्कार उन्होने अपनी बुद्धि से नही—सम्बुद्धि (?) से—अन्तर के गहनतम मे किया है।" प्रश्नकर्त्ता की श्रद्धा समवेत आस्था को मैं ठेस पहुचाए बिना यह कहना चाहता हू कि अनाविल सत्य-दृष्टि समन्वित होकर अथवा सत्य के साक्षात्कार से अनुप्राणित होकर ही जैनेन्द्र ने इन प्रश्नो के उत्तर दिए है—ऐसा स्वीकार करने को मेरा मन तैयार नही होता। अनुभूत और अभीप्सा से अलग, निरपेक्ष वस्तु सत्य की प्राप्ति होती है यह कहना भी सदिग्ध को स्वीकारना है। प्रतिपादन का आर्जव-शैली का गुण मानना चाहिए, उसके साथ सत्य का साक्षात् दर्शन भी अनायास हो जाता हो यह आवश्यक नही है। दूसरी बात मैं यह कहना चाहता हू कि इन प्रश्नो के समाधान मे जैनेन्द्र का रूप सर्वथा शास्त्र पराङ्मुख रहा है, ऐसा भी मै नही मानता। जैनेन्द्र शास्त्रवेत्ता या एकेडेमेशियन नही है यह बात उनके स्वत स्फूर्त चिन्तन को आगे लाने के लिए अक्सर कही जाती है किन्तु भारतीय तत्त्वचिन्ता से उनका गहरा परिचय है और उसके मन्तव्यो को उन्होने अपनी विचारणा मे पिरोया भी है। पश्चिमी दर्शन की अद्यतन मान्यताओ के सकेत उनके उत्तरो मे स्थान-स्थान पर मिलते है अत जैनेन्द्रजी को ऋषि-मुनि के आसन पर न बिठाकर विवेकशील विचारक एव मनीषी ही मानना चाहिए। हा, शास्त्र-शासन से जैनेन्द्र बचकर सोचते, लिखते और बोलते है, इसमे कोई सन्देह नही है। स्वतन्त्र चिन्तन जैनेन्द्र का मौलिक गुण है।

'समय और हम' के उत्तरो मे जैनेन्द्र वस्तुनिष्ठ कम और आत्मनिष्ठ अधिक रहे है। उन्होने युक्ति, तर्क और प्रमाण का आश्रय न लेकर बुद्धि-विवेक पूर्ण चिन्तन का आश्रय लिया है। अत उनके आत्मनिष्ठ उत्तरो को यथावत् स्वीकार करने की सहज प्रेरणा नही होती। उत्तर अभिभूत करते है, पूर्णतया आश्वस्त नही बनाते। शैली की दृष्टि से आकर्षक होते हुए भी प्रतिपाद्य के धरातल पर वे दुरूह और उलझे हुए प्रतीत होते है। बौद्धिक धरातल पर बहस और नुक्ताचीनी के लिए उनमे बडी गुजाइश दिखाई देती है। इन उत्तरो को पढकर लगता है कि वीरेन्द्रकुमार का प्रश्न जैनेन्द्र के समाधान से आन्दोलित तो हुआ है किन्तु सदैव परास्त नही हुआ, और मै यह भी कहने मे हिचकूगा नही कि अपनी चिन्तन-पद्धति की शक्ति के बावजूद जैनेन्द्र अन्तिम सत्य को कीलित कर पाने मे पूरी तरह समर्थ नही हुए है।

यह ठीक है कि जैनेन्द्र ने 'समय और हम' के प्रश्नो को बडी सहजता से ग्रहण किया है। प्रश्न सदा चुनौती नही होता—जिज्ञासा का ही शाब्दिक रूप है प्रश्न। प्रश्न उत्तरदाता के प्रति मात्र उद्दीपक है, समाधाता के मर्म को कुरेदने का साधन मात्र है। यदि प्रश्न मे गर्भित उद्दीपन को आवेश और आक्रोश से ग्रहण किया जाय तो प्रश्न खो जाता है और समाधाता वक्ता मात्र रह जाता है। जैनेन्द्र की सहजता के आगे प्रश्न अकड कर नही खडा होता—झुक कर विनीत भाव से खुलता है। यही जैनेन्द्र की जीत का रहस्य है। जैनेन्द्र की प्रखर बुद्धि का वैभव तो इन प्रश्नोत्तरो मे है ही किन्तु इनमे

जो तत्त्व अपनी पूर्ण समृद्धि मे मिलता है वह है विचार-विश्लेषण मे सूक्ष्मता एव तटस्थता। तटस्थ रहकर प्रश्न के आभ्यन्तर मे प्रवेश करने की जैनेन्द्र की अपनी मोहक शैली है। समाधाता पक्षधर न बने और 'उत्तरपक्ष' की स्थापना कर सके यह वडी बात है। प्रश्न को खोलने और फैलाने की शैली भी जैनेन्द्र की अपनी है। वे प्रश्न की पेचीदगी से—उलझन से विचलित नही होते—उलझन के पेच तो स्वय पैदा करते है। घूम-फिर कर उनमे उलझते-फसते है। प्रश्न को सुलझाने की यह उनकी स्वाभाविक प्रक्रिया बन गई है। चूकि अपने समाधान मे वे सतह के नीचे पैठकर अतल तक जाने का मोह छोड नही सकते इसलिए उलझन से उन्हे परेशानी नही होती। यही कारण है कि एक प्रश्न के उत्तर मे जैनेन्द्र ने प्रश्न के शब्दविन्यास मे से अनेकानेक प्रश्न स्वय उत्पन्न किए है और उनके उत्तर दिए है।

जैनेन्द्र ने अपने ग्रथ को जिन प्रमुख चार खडो मे विभक्त किया है उनके सम्बन्ध मे भी यहा निवेदन करना मै आवश्यक समझता हू। प्रत्येक खड के उत्तरो मे एक मूलभावना लक्षित होती है जिसकी ओर जैनेन्द्र ने 'स्वीकृति' के अन्तर्गत सकेत कर दिया है—"पदार्थ विज्ञान और समाज विज्ञान परस्पर तभी पूरक हो सकेगे, जब दोनो मे एक श्रद्धा और श्वास प्रवाहित होगा। अन्यथा विज्ञान यत्र-व्यापार को सम्पन्न करेगा और मानव व्यवहार को विपन्न करता जायगा। अवश्य कुछ है जो अमोघ और अखड है। उसी अटल नियम पर चेतन-अचेतन ससार थमा चल रहा है। इस धर्म मे द्वैत नही है। आइन्स्टाइन ने उसी अद्वितीय नियम को मस्तिष्क मे लेने और गणित मे देने की कोशिश की जब सापेक्षवाद प्रस्तुत हुआ। आवश्यकता है कि उस व्याप्त ध्रुव को जगजीवन पर समग्र भाव मे फलित और प्रतिफलित किया जाय।" उद्धृत अश मे जैनेन्द्र की एक व्यापक मान्यता का सार है। जैनेन्द्र व्यक्ति की नितान्तता (एक्स-क्ल्यूसिवनेस) से परे सापेक्षता के धरातल पर प्रत्येक तथ्य और सत्य को देखना चाहते हैं। उनके मन मे नितान्तता के लिए कोई स्थान नही है अत परस्परता और सापेक्षता को उन्होने सर्वत्र बडे आग्रहपूर्वक ग्रहण किया है। धर्म, दर्शन, अहिसा, प्रेम, करुणा, युद्ध, नियम, आचार-व्यवहार आदि सभी तत्त्वो के साथ सापेक्षता की स्थिति जैनेन्द्र ने अनिवार्य रूप से मानी है। जैनेन्द्र के सापेक्षवाद के इस आग्रह पर मेरी आपत्ति यह है कि आइन्स्टाइन के जिस सापेक्षवाद को जैनेन्द्र अपनी विचारसरणि मे ही नही, जगज्जीवन पर समग्र रूप से प्रतिफलित देखना चाहते है वह सिद्धान्त पश्चिम मे भी उस समारोह के साथ ग्राह्य नही रहा है। तर्कमूलक भाववाद ने सापेक्षवाद से अधिक स्थूल कसौटी प्रस्तुत कर सत्य की परीक्षा को वैज्ञानिक बनाया है। मै जैनेन्द्र के दर्शन मे तर्कमूलक भाववाद की स्थापना नही चाहता और न इस सिद्धान्त को उपादेय समझता हू किन्तु सापेक्षवाद को आमूलग्रहण करने पर मुझे विस्मय अवश्य है। मोटे तौर पर ऐन्द्रिय अनुभूति को यदि प्रतीति का धरातल बनाया जाय तो भी सर्वांगीण कथन या सत्य के लिए अवकाश नही रहता। तर्कमूलक भाववादियो ने कदाचित् इसीलिए विवादरहित सत्य को माना ही नही था। नीतिशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र मे गृहीत सत्यो को भी ज्यो का त्यो स्वीका

न करने मे तर्कमूलक भाववादियो का यही प्रबल तर्क रहा है कि जो सत्य ऐन्द्रिय नही उसे पूर्ण कैसे मान लिया जाय। सापेक्षवाद मे आस्था रखने के कारण जैनेन्द्र ने प्राय सभी प्रश्नो मे इसका प्रयोग किया है फलत प्रश्न की धुरी से छिटक कर समाधानो मे पारस्परिक विरोध पैदा हो गया है।

'परमात्मा' शीर्षक खड के समाधान तर्कमूलक तो है ही नही, विश्वासोत्पादक भी नही है। जो विवेचन केन्द्रच्युत होकर अतल स्पर्श करने की स्पर्धा मे लीन हो उसे ग्राह्य क्यो कर माना जाय। अपने कथन की पुष्टि मे मै केवल एक प्रश्न और एक शब्द का उदाहरण प्रस्तुत करता हू, वह शब्द है 'अह'। जैनेन्द्र ने अह शब्द का विवेच्य विषयो मे सब से अधिक प्रयोग किया हे। अह को निजता और विश्वता के बीच का द्वार स्थिर करते हुए उन्होने अह को जड और चेतन दोनो मे देखा है। अहता सर्वत्र विद्यमान है। अहता का अर्थ है अश का पूर्ण से भिन्न अस्तित्व। आत्मता अश का समग्र व्यक्तित्व बोधित कराती है। अह की सत्ता के साथ ही सृष्टि और जीवन का आरम्भ है, और उसके क्षय के साथ उसका विलय। । अह केवल अहकार का द्योतक न होकर प्रवृत्ति-निवृत्त्यात्मक मात्र का केन्द्र है। यह अह व्यक्ति के अतिरिक्त समूहनिष्ठ भी होता है। सम्प्रदाय, समाजवाद, राष्ट्रवाद, साम्यवाद आदि सिद्धान्तो के निकायो मे इस अह की प्रतीति स्पष्ट रूप से होती है। अह के विकास के लिए उसे स्वीकारात्मक अर्थात् समर्पणात्मक होना चाहिए। युद्ध और सघर्ष समूहात्मक अह की प्रतिक्रिया है और जब तक निषेधात्मक दृष्टि से वर्ग जुडे रहेगे तब तक ससार से युद्धो को टाला नही जा सकता। इसलिए जैनेन्द्र के मत मे वैज्ञानिक आविष्कारो का दुरुपयोग युद्ध के पीछे नही है वरन् अह के घात-प्रतिघात का परिणाम युद्ध है। जैनेन्द्र ने अह का विवेचन जिस रूप मे इस ग्रथ के उत्तरो मे किया है उसे पढ कर चार तथ्य पाठक के सामने आते है। प्रथम तथ्य है—अह जड-चेतन मे व्याप्त 'मै' या 'मैपन' की भावना है जो पूर्ण (ब्रह्म) से भिन्न अश रूप मे व्यक्ति मे स्फुटित होती है। दूसरा तथ्य है—अह, निषेध और स्वीकार दोनो प्रकार की प्रवृत्तियो से समन्वित होता है, ये दोनो प्रवृत्तिया हिसा और अहिसा द्वारा व्यक्त होती है। तीसरा तथ्य है—अह का सामूहिक रूप सम्प्रदाय, वाद, समाज, समूह द्वारा प्रकट होता है। यदि अह का सस्कार कर लिया जाय तो ससार से युद्ध की विभीषिका को हटाया जा सकता है। चौथा तथ्य है—अह वस्तुत अश मात्र होने से शेषी-ब्रह्म का अश रूप है और समग्रता के साथ जुडा हुआ है। दोनो मे—शेष और शेषी मे—पारस्परिकता अनिवार्य है, उसके बिना अह का पूर्ण विकास सम्भव नही। किन्तु इन चारो तथ्यो के अनुशीलन से अह का जो स्वरूप निरूपित होता है वह न तो दार्शनिक कसोटी पर खरा उतरता है और न व्यावहारिक दृष्टि से बुद्धिग्राह्य ही ठहरता है।

अध्यात्मसम्बन्धी प्रश्नो के समाधान मे जितनी उलझन है उतनी ही प्रेम, काम, सेक्स, यौन सम्बन्धी के निरूपण मे भी है। पाठक न तो प्रेम का स्वस्थ स्वरूप हृदयगम कर पाता है और न काम और यौन भावना मे भेद स्थापित कर पाने मे समर्थ

होता है। जैनेन्द्र की स्वीकृत मान्यताओ से सहज मे तादात्म्य होने का तो प्रश्न ही नही उठता। ब्रह्मचर्य जैसे स्वीकृत सिद्धान्त को जैनेन्द्र ने बिल्कुल नयी दृष्टि से देखा है ओर उसे इन्द्रिय-दमन की जिस स्थूल भावना का प्रतीक सिद्ध किया है वह स्वीकार्य नही लगता। इसी प्रकार कामवासना का सारा प्रपच जैनेन्द्र की सूक्ष्म दृष्टि से तो शायद खरा उतरे किन्तु सामान्य पाठक उसे भली भाति समझ नही पाता। मेरी शिकायत यही है कि विषयबोध का जो स्तर जैनेन्द्र अपने लिए रखते है वह पाठक के लिए भी ग्राह्य रहे तो समाधान की सार्थकता है। प्रश्नोत्तर की इस व्यापक परम्परा मे यह त्रुटि अधिकाश उत्तरो मे लक्षित होती है।

जैनेन्द्र ने राजनीतिक प्रश्नो पर भी अपने विचार बडे निर्भीक भाव से व्यक्त किये है। मुझे लगा कि राजनीति जैनेन्द्र का प्रत्यक्ष कार्यक्षेत्र न होने पर भी उसके भीतर वे गहरे उतरे है। राजनीतिक प्रश्नो के उत्तर विवेकसम्मत होने के साथ सामान्य पाठक के लिए भी ग्राह्य एव अनुकूल है। भाषा, साहित्य, शिक्षा आदि विषयो पर भी जैनेन्द्र ने बडी स्वस्थ एव सयत शैली मे विचार प्रकट करते हुए अपनी मनीषा का परिचय दिया है। भारतीय गणतत्र की विवेचना मे जैनेन्द्र ने काग्रेस तथा अन्य राजनीतिक दलो की तात्त्विक समीक्षा की है। राजनीतिक दलो के नेताओ की कार्य-शैली के भीतर प्रच्छन्न मनोव्यापार का जैसा विश्लेषण इस पुस्तक मे जैनेन्द्र ने किया है वैसा पहले कभी अपनी किसी रचना मे उन्होने नही किया था। ऐसा लगता है कि प्रजातत्रात्मक शासन की दुर्बलताओ को हृदयगम करने के बाद जैनेन्द्र ने उसके मूल को पा लिया है इसीलिए निर्भीकतापूर्वक वे उसका तटस्थ विश्लेषण कर पाने मे समर्थ हुए है।

'समय और हम' जैनेन्द्र के अट्ठावन वर्ष के जीवन के चिन्तन-मनन का निष्कर्ष है। उन्होने कारयित्री प्रतिभा से कथा-साहित्य मे जो क्रातिकारी परिवर्तन उपस्थित किये थे उनके मूल मे ये भाव और विचार थे जो 'समय और हम' मे लेखक ने गहन चिन्तन-मनन की शैली से रखे है। जैनेन्द्र की विचार-भूमि असाधारण है, अर्थात् उस भूमि तक पहुच कर जैनेन्द्र को पढ पाना दुष्कर है किन्तु उस असाधारणता मे सार है। तत्त्व की अपार निधि उसमे छिपी रहती है। ज्यो-ज्यो आप उस निधि के पाने के अधिकारी होते जायेगे आपके हाथ मोती-माणिक्य लगेगे और आप उन विलक्षण विचार-रत्नो से उल्लसित होने के साथ चकित भी हो उठेगे।

शोध-कार्य

रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन

डॉ० तारकनाथ बाली

रसगगाधर सस्कृत काव्यशास्त्र का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। वह जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही जटिल भी। पडितराज जगन्नाथ वास्तव मे पडितो मे राजा हैं। काव्यशास्त्र एव दर्शनशास्त्र दोनो मे ही उनकी विशेष गति है। साथ ही व्यवहारबुद्धि मे भी अत्यन्त तीक्ष्ण है। रसगगाधर की जटिलता केवल उसकी विषय-गहनता मे ही नही है वरन् शैली की गूढ़ता मे भी है। शैली की अनावश्यक गूढ़ता को मै एक त्याज्य दोष समझता हूँ किन्तु यहा उसके होने के युगीन एव कविपरक कारण भी है। समग्र दृष्टि से देखते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ विषय के गोरव एव शैली की जटिलता के कारण न केवल सम्भ्रम वरन् आतक का विषय भी बना हुआ है। डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त ने ऐसे ग्रन्थ पर शोध प्रस्तुत कर बडे साहस का परिचय दिया है और निस्सन्देह डॉ० गुप्त इस कार्य के करने के लिए अपेक्षित योग्यता-सम्पन्न है। शोध के पढने से यह बात पूर्णत प्रमाणित होती है।

जहा तक विषय-प्रतिपादन का प्रश्न है प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे एक वैज्ञानिक व्यवस्थित रीति अपनाई गई है। प्रत्येक विषय पर पण्डितराज के मत का विवेचन करने से पूर्व उसकी भूमिका रूप मे पूर्ववर्ती इतिहास दिया गया है। इससे न केवल प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण मे सहायता मिली है वरन् काव्यशास्त्र के ग्रन्थ के रूप मे भी पुस्तक का महत्त्व प्रतिष्ठित हो गया है। यह हो सकता है कि भूमिका रूप मे दिए गए कुछ मतो का विवेचन विस्तारपूर्वक हुआ है और कुछ का नही। इस असगति का कारण शोध-विषय की सीमा-रेखा हो सकता है।

भूमिका रूप से आए हुए कुछ मतो की नवीन व्याख्या का भी प्रयास किया गया है। उदाहरण के लिए भामह की परिभाषा को लीजिए। इसकी व्याख्या करते हुए लेखक ने शब्द से शब्दालकार और अर्थ से अर्थालकार की व्यजना मानी है। भामह के अनुसार काव्य मे शब्दालकार और अर्थालकार का सामजस्य माना है। वस्तुत यह एक मौलिक व्याख्या है। किन्तु मै इससे सहमत नही हू। कारण यह है कि यदि सीधा-सीधा शब्द और अर्थ का सामजस्य ही काव्य माना जाए तो भी लक्षण सगत सिद्ध होता है क्योकि

लेखक डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त
प्रकाशक भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ
मूल्य १५ रुपए

अन्य विषयो की तुलना मे काव्य ही एक ऐसा विषय है जिसमे अर्थ के साथ-साथ शब्द पर भी पर्याप्त बल दिया जाता है।

जहा तक पडितराज के काव्य-लक्षण का प्रश्न है उसकी व्याख्या विस्तार एव गाम्भीर्यपूर्वक करने का प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध मे पहली बात तो है 'रमणीयता' की व्याख्या और दूसरी, सामान्य परिष्कृत एव फलित लक्षण की व्याख्याए। जहा तक पहली व्याख्या का प्रश्न है लेखक ने सूक्ष्म एव गम्भीर विवेचन का प्रयास किया है, किन्तु फिर भी उसके विवेचन मे जैसी स्पष्टता आनी चाहिए थी वैसी नही आ पाई। सका एक कारण यह है कि इस प्रकार की स्पष्ट व्याख्या के लिए आधुनिक मनोविज्ञान का आधार आवश्यक है। लेखक की इस विषय मे अपनी सीमाए है जैसा कि इस कथन से स्पष्ट है--

"इस वर्गीकरण के साथ यह तथ्य हमे नही भूलना चाहिए कि न पश्चिमी मनोविज्ञान के आधार पर, और न भारतीय दर्शन के अनुसार बोध एव अनुभूति की सर्वथा स्वतन्त्र एव परस्पर निरपेक्ष रेखाए खीची जा सकती है।" (पृ० ३६)

यद्यपि भारतीय दर्शन मे पदार्थ विवेचन आदि के समान बोध और अनुभूति मे अन्तर स्पष्ट नही किया गया फिर भी यह अन्तर माना गया है और बहुत ही दृढता के साथ माना गया है। 'शब्दज्ञान' अथवा 'वाक्यज्ञान' और अनुभूति का ज्ञान दोनो भिन्न है। आचार्य शकर के इस कथन 'अनुभववासनत्वात् ब्रह्मज्ञानस्य' से भी यह अन्तर स्पष्ट होता है। अत यह निर्विवाद है कि भारतीय दर्शन मे बोध और अनुभूति मे मूलभूत अन्तर है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि दर्शन मे बोध और भाव का सामजस्य भी सम्भव है और यही सारे दर्शन का तात्त्विक लक्ष्य भी है। किन्तु खेद एव आश्चर्य की बात यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र मे जब भट्टनायक और अभिनव ने रस-विवेचन को दर्शन के माध्यम से व्यक्त किया तो दर्शन के अनुकरण मे उन्होने काव्यानुभूति मे भी बोध और भाव के सामजस्य का प्रयास किया जो न तो दार्शनिक दृष्टि से सगत है और न ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ग्राह्य है। आधुनिक मनोविज्ञान मे तो बोध और भाव का अन्तर बहुत ही स्पष्ट और निर्भ्रान्त रूप से व्यक्त है। मनोविज्ञान के परिचय के अभाव की सीमा अन्यत्र भी लक्षित होती है।

पडितराज जगन्नाथ ने रमणीयता के विवेचन मे बोध और भाव, ज्ञान और अनुभूति के समन्वय का प्रयास किया है। उनके अनुसार रमणीयता लोकोत्तर आह्लादजनक-ज्ञान-गोचरता है। पडितराज के काव्यलक्षण मे मूल शब्द रमणीयता ही है। डॉ० गुप्त ने रमणीयता के विवेचन का जो प्रयास किया है वह गम्भीर एव विस्तृत होते हुए भी अस्पष्ट है। ऐसा लगता है कि लेखक ने विषय-विवेचन से पूर्व व्यवस्थित रूप-रेखा नही बनाई और इसीलिए कभी क्रम टूटता है और कभी क्रम असहज हो जाता है। उदाहरण के लिए ये दो कथन देखिए

"रमणीयता' लोकोत्तर-आह्लाद-जनक ज्ञान का विषय बनने वाला एक वस्तु धर्म है। 'रमणीयता' एक 'ज्ञान-गोचरता' है, वह हमारे ज्ञान का विषय बनती है, साथ ही यह वह ज्ञान-गोचरता है जो लोकोत्तर आह्लाद प्रदान करती है।"

(पृ० ३६)

"पडितराज के इस रमणीयता-सम्बन्धी दृष्टिकोण मे रमणीयता को न तो मात्र विषयगत कहा जा सकता है, और न विषयि-गत। रमणीय विषय की विषयि-गत मानसी प्रत्युपस्थिति मे विषय-विषयि की परस्पर सापेक्षता एव सामजस्य ही स्वीकार किया जा सकता है।" (पृ० ३६)

प्रथम कथन मे जो 'वस्तु धर्म' है वह द्वितीय कथन मे 'विषय-विषयि की परस्पर सापेक्षता एव सामजस्य' हो जाता है। वस्तुत यह समस्या आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र की मूलभूत समस्या है। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र के ज्ञान की पृष्ठभूमि मे इस समस्या की विस्तृत समीक्षा सम्भव है।

लेखक ने 'फलित लक्षण' के स्पष्टीकरण का अपेक्षित विस्तार नही किया, वह सब से सक्षिप्त है। उसकी व्याख्या मे उपर्युक्त समस्या की विशद व्याख्या एव स्पष्टी-करण की सम्भावना है।

काव्य-हेतु का विवेचन स्पष्ट एव विस्तृत रूप से किया गया है। इसके अन्तर्गत न केवल पडितराज का मत स्पष्टता से व्यक्त किया गया है वरन् अन्य महत्त्वपूर्ण मतो का भी उल्लेख किया गया है।

काव्य-भेद का विवेचन करते हुए पडितराज ने चार भेद माने है—उत्तमोत्तम काव्य, उत्तम काव्य, मध्यम काव्य और अधम काव्य। लेखक ने इस काव्यभेद को स्वीकृति दी है। किन्तु यह भेद-रीति विवादास्पद है।

सबसे पहले तो यह जानना होगा कि उपर्युक्त विभाजन का आधार क्या है? इस विषय मे पडितराज ने दो आधार माने है—एक प्रधानता, द्वितीय चमत्कार। इन दो आधारो के अनुरूप उत्तमोत्तम और उत्तम काव्य का भेद किया है। यहा मूलभूत प्रश्न यह है कि क्या प्राधान्य और चमत्कार एक ही नही है? लेखक ने सामान्यत इस बात को स्वीकार भी किया है।

"सामान्यत दोनो बाते परस्पर सापेक्ष है। व्यग्यार्थ की प्रधानता का ही अर्थ उसका चमत्कारी होना लिया जा सकता है" (पृ० ७६)

साथ ही इन दोनो आधारो के अन्तर का विशद निरूपण नही किया। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के मत मे जहा व्यग्यार्थ की प्रतीति तुरन्त हो जाए वहा वह चमत्कारी है और जहा व्यग्यार्थ गूढ हो वहा उसके चमत्कार का ह्रास हो जाता है। यहा एक आक्षेप यह है कि अर्थ-प्रतीति के लिए हम एक विशेष स्तर वाले सहृदय की अपेक्षा करते है और उसको ध्यान मे रखकर जहा व्यग्यार्थ अति गूढ होगा वहा दोष मानना ही उचित होगा। दूसरी बात यह है कि यहा मूल प्रश्न तो है प्राधान्य और चमत्कार के सम्बन्ध

का। वस्तुत वही व्यग्यार्थ प्रधान है जो वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी है। अतएव चमत्कार आधार है प्राधान्य का और प्राधान्य आधार है काव्य की उत्तमता का। इन दोनो तत्त्वो को समस्तरीय मानकर काव्य की उत्तमता का आधार मानना हमारे मत से असगत है। वस्तुत इस प्रश्न पर विस्तृत समीक्षा की अपेक्षा थी।

प्रस्तुत प्रबन्ध मे रस-विवेचन बडे विस्तार से किया गया है। उपलब्धियो के आधार पर भी यह विवेचन महत्त्वपूर्ण है। सबसे पहली उपलब्धि तो यह है कि इस विवेचन से हिन्दी के रस-विवेचन मे जो किवदन्तिया स्वीकृत हो गई थी—जैसे लोल्लट मीमासक थे, शकुक नैयायिक थे, भट्टनायक साख्यमतावलम्बी थे—उनके निराकरण मे सहायता मिलेगी। इस सम्बन्ध मे हम लेखक से एक विषय मे असहमत है और वह यह कि शकुक बौद्ध नैयायिक थे। इस मत के लिए प्राप्त विवेचन मे उपयुक्त प्रमाण उपलब्ध नही होते।

रस-विवेचन के प्रसग मे अन्य प्रसगो की भाति डा० गुप्त ने पुरातन शास्त्रीय दृष्टि ही अपनाई है। आवश्यकता इस बात की है कि आधुनिक दार्शनिक, व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस सिद्धान्त की व्याख्या की जाए। यद्यपि प्राचीन शास्त्रीय दृष्टि से रस की व्याख्या का भी अपना महत्त्व है, फिर भी इस प्रकार की व्याख्या की एक परम्परा-सी रही है।

पडितराज के रस-विवेचन की व्याख्या के प्रसग मे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया जा सकता था जो प्रस्तुत शोध मे नही उठाया गया। वह है रस और रमणीयता के प्रसग का सम्बन्ध। पडितराज के मतानुसार रस एक लोकोत्तर आह्लाद है और रमणीयता एक ज्ञान-गोचरता है जो लोकोत्तर आह्लाद की जनक है। तो क्या यह नही कहा जा सकता कि पडितराज के मतानुसार रमणीयता रस का विषयपक्ष, वस्तुपक्ष अथवा बोध पक्ष है? क्या अर्थ की रमणीयता मे विभावादि की रमणीयता अन्तर्भूत नही है? यदि ऐसा है तो विश्वनाथ और पडितराज के काव्यलक्षणो मे क्या तात्त्विक अन्तर है? और यदि यह माना जाए कि रमणीयता के लोकोत्तर आह्लाद और रस के लोकोत्तर आह्लाद मे अन्तर है तो उस अन्तर की व्याख्या करनी होगी। जब तक यह व्याख्या न की जाएगी तब तक पडितराज और विश्वनाथ के काव्यलक्षणो का अन्तर स्पष्ट नही होगा। क्योकि फिर यह मानना पडेगा कि पडितराज के अनुसार लोकोत्तर आह्लाद दो प्रकार का है—एक रमणीयताजन्य और दूसरा रस रूप। इन प्रश्नो के विवेचन से न केवल विषय के विशद स्पष्टीकरण मे सहायता मिलती वरन् प्रबन्ध की उपयोगिता भी बहुत बढ जाती।

प्रस्तुत प्रबन्ध मे एक अभाव को देखकर आश्चर्य होता है। वह यह कि इसमे पडितराज के काव्यप्रयोजन-सम्बन्धी मत का विवेचन नही किया गया। काव्यलक्षण देने से पूर्व पडितराज ने कहा है

तत्र कीर्ति-परमाह्लाद-गुरुराज-देवता-प्रसादाद्यनेक प्रयोजनकस्य काव्यस्य···

(रसगगाधर—बदरीनाथ झा, मदनमोहन झा—पृ० ८)

इससे यह सिद्ध है कि उन्होने कीर्ति, परम आहलाद तथा गुरु, राजा और देवता का प्रसाद ये काव्य प्रयोजन माने है। वस्तुत काव्य प्रयोजन की समस्या भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी कि कोई अन्य समस्या। आशा है इसके द्वितीय सस्करण मे डॉ० गुप्त अपने शोध के इस अभाव को दूर कर देगे।

समग्र दृष्टि से देखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत प्रबन्ध एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या-प्रधान प्रयास है। इसमे रसगगाधर के विविध पक्षो की विस्तृत, सूक्ष्म और गम्भीर व्याख्या की गई है जो कही-कही सकुल और दुरूह हो गई है। व्याख्या का आधार प्राचीन काव्यशास्त्रीय एव दर्शनशास्त्रीय दृष्टि रही है। अपनी कतिपय सीमाओ के बावजूद भी हिन्दी के शोध-प्रबन्धो मे सामान्यत और काव्यशास्त्र के शोध-प्रबन्धो मे विशेषत इसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा।

बुद्धकालीन भारतीय भूगोल

डॉ० वासुदेव उपाध्याय

उन्नीसवी शती के तृतीयाश मे भारत तथा पश्चिम के कतिपय विद्वानो ने भारतीय भूगोल का अध्ययन आरम्भ किया था। कनिंघम ने अपने "एन्शेट जियोग्राफी आफ इडिया" मे भौगोलिक विषयो का सकलन अपनी यात्रा के प्रसग मे किया तथा अन्य पश्चिमी विद्वानो ने चीनी यात्रियो के यात्रा-विवरण का विदेशी भाषाओ मे अनुवाद किया जिनमे बौद्ध स्थानो का भूगोल मिलता है। उन ग्रन्थो का विवरण देना यहा अनुपयुक्त होगा। किसी रूप मे उन्हे विवेचनात्मक ग्रन्थ नही कह सकते, परन्तु यह सही है कि उनसे ऐतिहासिक भूगोल-सम्बन्धी अनुसधान को बल मिला। डॉ० बिमलचरण लाहा ने उसी भावना से प्रेरित होकर "हिस्टारिकल जियोग्राफी आफ एन्शेट इडिया" नामक ग्रन्थ मे ऐतिहासिक भूगोल का विवेचन विस्तृत तथा व्यापक ढग से किया है, एव "इण्डोलाजिकल स्टडीज" मे भी बुद्धकालीन नगरो पर सुन्दर लेख लिखा। इसी तरह श्री नन्दलाल दे ने "दि जियोग्राफिकल डिक्शनरी आफ एन्शेट एण्ड मेडिवल इडिया" का प्रकाशन किया तथा डॉ० मलतसेकर ने "डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स" मे पालिग्रन्थो के आधार पर एक नामकोश तैयार किया था। इतिहास अथवा भूगोल तभी सम्पन्न तथा प्रामाणिक हो सकते है जब वाड्मय के आधार पर लिखे जाए। अग्रेजी शासन मे भूगोल लिखने की पद्धति कुछ भिन्न थी और साहित्य का आधार अगीभूत न होने पर भूगोल पूर्णतया प्रामाणिक न बन सका। देश के स्वतन्त्र होने पर भारतीय विद्वानों का ध्यान इस ओर भी आकृष्ट हुआ। फलत वाड्मय के आधार पर भूगोल लिखने की पद्धति अपनायी गई। पौराणिक भूगोल तथा महाभारत-कालीन भूगोल का अध्ययन तथा अनुसधान प्रारम्भ हुआ। कतिपय विद्वानो ने इन पर प्रकाश भी डाला है। यह निर्विवाद है कि भारतीय इतिहास के विभिन्न अगो को तथा भूगोल को सजीव बनाने के लिए बौद्ध साहित्य से सामग्री सग्रहीत की जा रही है। डॉ० लाहा ने सर्वप्रथम बौद्ध साहित्य के आधार पर भारतीय भूगोल पर कुछ निबन्ध लिखे थे। "जियोग्राफी आफ अर्ली बुद्धिज्म" तथा "जियोग्राफिकल एसेज़" नामक स्फुट निबन्ध लिखकर उन्होने

लेखक डॉ० भरतसिह उपाध्याय
प्रकाशक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
मूल्य १२ रुपए
पृष्ठ-सख्या २७+६२१

इस दिशा मे अन्य लोगो का ध्यान आकृष्ट किया। डॉ० लाहा सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य के स्रोतो से सामग्री सकलित न कर सके, अतएव उनका कार्य सर्वांगीण नही हो सका। अन्य विद्वानो द्वारा बुद्धकालीन भूगोल के अनेक अशो पर स्फुट निबन्ध प्रकाशित किए गए जो विदेशी अथवा भारतीय अनुसधान-सम्बन्धी पत्रो मे यथासमय प्रकाशित हुए। महापण्डित राहुल साकृत्यायन का कार्य भी इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। डॉ० भरतसिह उपाध्याय का यह ग्रन्थ "बुद्धकालीन भारतीय भूगोल" एक विशेष स्थान रखता है और इसके द्वारा हिन्दी साहित्य के भण्डार मे एक उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई है। विदेशी भाषा मे भी इस तरह के स्वतन्त्र विवेचनात्मक ग्रन्थ प्रकाश मे नही आए है। डॉ० उपाध्याय का यह शोधपूर्ण ग्रन्थ बुद्ध के जीवनकालीन भारतीय भूगोल पर सर्व-प्रथम प्रकाशन है।

वस्तुकथा मे लेखक ने स्वय इस ग्रन्थ के स्रोतो का विवेचन किया है तथा पालि-तिपिटक तथा उनकी अट्ठकथाओ पर आधारित बुद्धकालीन भारतीय भूगोल का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पहले परिच्छेद मे इसका सम्पूर्ण विवेचन है। सस्कृत-पालि साहित्य के स्रोत का वर्णन नही के बराबर है। पालितिपिटक तथा सस्कृत-पालि साहित्य के तुलनात्मक विवेचन का अभाव पाठको को खटकता है। दोनो महत्त्वपूर्ण स्रोत है। ग्रन्थ की कलेवर-वृद्धि के भय से सस्कृत-पालि साहित्य का अध्ययन छोड देना उचित नही प्रतीत होता।

इस ग्रन्थ को पाच परिच्छेदो मे विभक्त किया गया है। प्रथम मे स्रोतो की प्रामाणिकता तथा भौगोलिक महत्त्व का सुन्दर विवेचन है। पालितिपिटक तथा अट्ठकथाए ही स्रोत के रूप मे वर्णित है। भौगोलिक दृष्टि से तिपिटक मे प्रथम दो—सूत्त तथा विनयपिटक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। लेखक ने सर्वप्रथम निकायो का अध्ययन उपस्थित किया है। भगवान् बुद्ध के वर्षावास तथा यात्रा सम्बन्धी भूगोल का सुन्दर वर्णन मिलता है। विभिन्न सूत्त तथागत की जीवन-घटनाओ का उल्लेख करते है और उसी प्रसग मे भूगोल तथा नगरो का नामोल्लेख भी मिलता है। उदाहरणार्थ, राजगृह से नालन्दा तक की भोगोलिक स्थिति ब्रह्मजाल सूत्त मे तथा महापरिनिब्बाण सूत्त मे छ प्रसिद्ध नगरो का वर्णन है। निकाय ग्रन्थो मे सयुक्त तथा अगुत्तर का नाम भौगोलिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बतलाए गए है। पहले मे कौशाम्बी के घोषिताराम का उल्लेख है जिसकी पुष्टि कौशाम्बी की खुदाई से प्राप्त एक अभिलेख से होती है। दूसरे मे षोडश महाजनपद का विवरण मिलता है तथा अनेक नदियो का भी उल्लेख है। लेखक ने इन स्थानो या नदियो के समीकरण की ओर समुचित ध्यान नही दिया है। यद्यपि अन्य स्रोतो से उनका यथास्थान समीकरण करना शास्त्रीय ढग से समुचित होता।

विनयपिटक को भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्रोत मानते है। तथागत ने नियमो का विधान जिन स्थानो पर किया वह हमारे लिए अनुसधान के विषय है। भगवान् के द्वारा कपिलवस्तु, श्रावस्ती, राजगृह, वाराणसी, पाटलिपुत्र, वैशाली, चम्पा,

कौशाम्बी तथा आलवी आदि नगरो मे विधान सम्पन्न किया गया। इस तरह प्रथम परिच्छेद मे केवल भौगोलिक विषयो की चर्चा तिपिटक ग्रन्थो के आधार पर की गई है।

दूसरे परिच्छेद मे जम्बुद्वीप के सम्बन्ध मे शोधपूर्ण विवेचन मिलता है। इस द्वीप के सम्बन्ध मे बौद्धविचारको ने चार महाद्वीपो मे इसकी गणना की है। चारो महाद्वीपो के पालि-विवरण आधुनिक भूगोल से सर्वथा भिन्न ज्ञात होते है। पालि तिपिटक मे जिस जम्बुद्वीप का वर्णन आता है वह हिमालय से दक्षिण मे अवस्थित था। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे "जम्बुद्वीपे भारतखण्डे" का उल्लेख मिलता है जो पालि-साहित्य के जम्बुद्वीप से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार पालि साहित्य मे जम्बुद्वीप के पाच प्रदेशो के नाम मिलते है। मध्यप्रदेश (सस्कृत मध्य देश) का नाम सर्वप्रथम आता है। बौद्ध साहित्य के आधार पर जम्बुद्वीप का सर्वश्रेष्ठ प्रदेश——मझिमदेश बतलाया गया है, किन्तु इसकी सीमा के सम्बन्ध मे कई मत साहित्य मे उल्लिखित है। लेखक ने मझिमदेश की पूर्वी सीमा कजगल को जातकट्ठकथा के उद्धरण पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। परन्तु ब्राह्मण धर्मग्रन्थो मे सरस्वती से लेकर प्रयाग तक के भूभाग को मध्य प्रदेश मे सम्मिलित किया गया है। मनु ने स्पष्ट तौर पर लिखा है——

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्य यत प्राग्विनशनादपि
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तित.

(मनुस्मृति २/२१)

डॉ० काने ने इस विषय पर चर्चा करते हुए स्पष्ट लिखा है कि धर्मशास्त्रकारो मे मध्यदेश की सीमा के सम्बन्ध मे विभिन्न मत रहा है, परन्तु आर्यावर्त को ही शिष्ट देश माना गया है। मेधातिथि ने अपनी टीका मे (मनुस्मृति २।२३–२४) इसको स्पष्ट कर दिया है कि आर्य सस्कृति के प्रदेश को ही आर्यावर्त (जो पीछे मध्यदेश के नाम से विख्यात हुआ) का नाम दिया गया था। उसके पूर्व का प्रदेश शिष्ट लोगो के निवास के लिए उपयुक्त न था। (हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जि० २, भाग २, पृ० १४) इससे यह प्रकट हो जाता है कि मगध को मध्यदेश मे सम्मिलित न किया गया था। लेखक का विचार प्राय सर्वमान्य होगा कि बौद्धो ने मगध को पवित्रभूमि घोषित करने के लिए पालि-साहित्य मे मझिमदेश की पूर्वी सीमा कजगल (भागलपुर के समीप) तक विस्तृत कर दी। इस अनुमान का आधार पालि तिपिटक मे मिलना सम्भव नही है पर इस सम्बन्ध मे अनुसधान की गुजाइश है।

मझिमदेश की विस्तारपूर्वक चर्चा करते हुए लेखक ने पृ० ११२–३ पर डॉ० मलतसेकर की सूची को उद्धृत किया है। जिन सत्तासी स्थानो का नाम उल्लिखित है वह परिपूर्ण नही है, तो भी उन स्थानो के समीकरण का प्रयास करना यथोचित प्रतीत होता है। यह कहना कठिन है कि बुद्ध ने श्रावस्ती मे २५ वर्ष तक वर्षावास करते हुए राजगृह भी पदार्पण किया था। अनाथपिण्डक के निमत्रण पर तथागत को श्रावस्ती जाना पडा था और उस ब्राह्मणधर्म के गढ को मिटाने का प्रयत्न हुआ था। उसी यात्रा के सम्बन्ध मे अयोध्या तथा साकेत के भी नाम आए हैं, पर लेखक के कथनानुसार दोनों

पृथक् स्थान थे (पृ० २५२–४) एक नही जैसा साधारण लोगो को ज्ञात है। इतना ही नही विष्णुपुराण मे साकेत को अयोध्या के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। इस दिशा मे भी अनुसधान की आवश्यकता है। पर्वतराज हिमालय की श्रेणियो ओर शिखरो का वर्णन जातको मे हमे उपलब्ध है, परन्तु पालि-साहित्य से भिन्न साहित्यिक साधनो मे हिमालय का विभिन्न वर्णन पाया जाता है। हिमालय तथा गगा नदी के विषय मे विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है, ताकि बौद्ध और ब्राह्मण-साहित्य मे वर्णित बातो का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव हो जाय।

तीसरे परिच्छेद मे बुद्धकालीन भारत के राजनैतिक भूगोल का विशद विवेचन किया गया है। लेखक ने प्राचीन षोडश महाजनपदो के विषय मे सुन्दर वर्णन उपस्थित किया है। इसका भारतीय इतिहास मे एक महत्त्व है कि हमारे देश का लेखबद्ध इतिहास वस्तुत भगवान् बुद्ध के उदय से ही प्रारम्भ होता है। उन प्रजातन्त्रो तथा राजतन्त्रो का वर्णन बुद्ध की यात्रा के प्रसग मे उपलब्ध है। इस परिच्छेद के अध्ययन से प्राय उत्तरी भारत की भौगोलिक परिस्थिति, प्रधान नगरो तथा पर्वतो एव मार्गो का अच्छा परिज्ञान हो जाता है। इस परिच्छेद का विवरण ही पुस्तक के आधे कलेवर को ढक लेता है। भूगोल से भी अधिक ऐतिहासिक बातो का विवरण हमे उपलब्ध हो जाता है। किसी स्थान पर लेखक ने प्रश्न उठाकर उसका निश्चित हल नही निकाला है। पालि-साहित्य के आधार पर पावा नगरी कुशीनगर (देवरिया, उत्तर प्रदेश) के समीप स्थित मानी गई है तथा यह भी वर्णन मिलता है कि जैन तीर्थंकर महावीर (निगण्ठ नाटपुत्त) की मृत्यु पावापुरी मे हुई थी। जैन विद्वानो के अनुसार बिहार शरीफ (पटना, बिहार) के पास पावापुरी महावीर का निवास-स्थान माना जाता है। अतएव इस विवाद का कोई समुचित हल उपस्थित करना उचित था, जिसे लेखक ने जहा के तहा छोड दिया है (पृ० ३२२–३२५)। तीसरे परिच्छेद से वास्तविक भौगोलिक (Topographical) विषयो की चर्चा प्राय समाप्त हो जाती है परन्तु चौथे तथा पाचवे परिच्छेदो मे लेखक ने भूगोल के दूसरे पहलू पर भी विचार किया है। मानव-भूगोल मे कृषि, पशुपालन, दास आदि विषयो की चर्चा की है। अन्तिम परिच्छेद मे आर्थिक तथा व्यापारिक भूगोल का वर्णन है। इन दोनो अध्यायो से तत्कालीन समाज का अच्छा परिज्ञान हो जाता है। मानचित्र तथा परिशिष्ट से इस पुस्तक की उपयोगिता बढ गई है। विषयक्रम से अनुक्रमणिका अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

डॉ० भरतसिह उपाध्याय का यह ग्रन्थ एक महत्त्वपूर्ण तथा श्लाघ्य कृति है। अध्ययन तथा अध्यवसाय का सुन्दर परिणाम हमे इस ग्रन्थ मे मिलता है। ऐतिहासिक भूगोल के विद्यार्थियो के लिए अत्यधिक पठनीय सामग्री इसके द्वारा उपलब्ध होती है।

वीसलदेव रासो

श्री अगरचन्द नाहटा

हिन्दी साहित्य के वीर-गाथा-काल की रचनाओ मे पृथ्वीराजरासो के पश्चात् वीसलदेव रासो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन हिन्दी साहित्य की खोज का कार्य सन् १९०० से प्रारम्भ होता है और सौभाग्यवश उसी समय वीसलदेव रास की एक हस्त-लिखित प्रति प्राप्त हाती है और तभी से इसके विषय मे चर्चा प्रारम्भ हो जाती है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे सन् १९०१ मे बाबू श्यामसुन्दर दास का "वीसलदेव रासा" नामक लेख प्रकाशित हुआ। इसके प्रारम्भ मे ही उन्होने लिखा है कि "सन् १९०० ई० मे हस्त-लिखित हिन्दी पुस्तको का अनुसधान करते-करते मुझे जयपुर मे 'वीसलदेव रासा' नामक एक अति प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त हुआ। यह ८॥ इच लम्बे और ८ इच चौडे देशी कागज के पत्रो पर कुछ मारवाडी से मिलते नागरी अक्षरो मे लिखा हुआ है, सब मिलकर ३२ पृष्ठ है और श्लोक-सख्या लगभग ६२४ के है। देखने मे यह जीर्ण और लिखावट प्राय अशुद्ध है। इस समय यह ग्रन्थ विद्या प्रचारिणी जैन सभा, जयपुर के अधिकार मे है। मैने इस ग्रन्थ के प्रथम पृष्ठ का फोटो और समस्त ग्रन्थ की नकल ले ली है। आशा है कि यह टिप्पणी सहित नागरी प्रचारिणी ग्रन्थमाला मे प्रकाशित हो।" वीसलदेव रास के सम्पादन का श्रीगणेश यही से माना जा सकता है। बाबूजी की आशा सफल तो हुई पर काफी वर्षो बाद। उनके शिष्य सत्यजीवन वर्मा ने सवत् १९८२ मे इस ग्रन्थ को सम्पादित कर नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित करवाया। वैसे इससे पूर्व भी इसका चतुर्थ सर्ग लाला सीताराम सम्पादित Selections from Hindi Literature Book I, Bardic Poetry नामक ग्रन्थ मे, जोकि सन् १९०१ मे कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ था, सकलित किया जा चुका था। इसी ग्रन्थ को परीक्षा के लिये अध्ययन करते समय श्री सत्यजीवन वर्मा का वीसलदेव रास से सम्पर्क हुआ जो आगे चलकर इस ग्रन्थ के सम्पादन का कारण बना।

वीरगाथाकालीन रचनाओ के सबध मे खोज एव विचार करते हुए इस ग्रन्थ

सम्पादक डॉ० तारकनाथ अग्रवाल
प्रकाशक हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
मूल्य ६ रुपए

की बहुत सी हस्तलिखित प्रतिया जैन भण्डारो* मे मुझे प्राप्त हुईं और उनका विवरण कलकत्ते से प्रकाशित "राजस्थानी" पत्रिका के तीसरे भाग (जनवरी, १९४० के अक) मे प्रकाशित किया गया। मेरे इस लेख को पढने पर डॉ० माताप्रसाद गुप्त को प्राप्त हस्तलिखित प्रतियो के आधार से एक सुसम्पादित सस्करण तैयार करने की प्रेरणा मिली। प्राप्त प्रतियो मे से मैंने १५ प्रतिया उन्हे भेजी और सवत् २०१० मे हिन्दी परिषद् याग द्वारा वीसलदेव रास का वह सुसम्पादित सस्करण प्रकाशित हुआ। उसके पश्चात् आलोच्य डॉ० तारकनाथ अग्रवाल सम्पादित "वीसलदेव रासो" गत वर्ष ही प्रकाशित हुआ है। डॉ० सुकुमार सेन के निर्देशन मे तैयार किये गये इस सस्करण पर सम्पादक को कलकत्ता विश्वविद्यालय की डी० फिल उपाधि प्राप्त हुई है। वैसे सम्पादक श्री अग्रवाल ने इस कार्य को कई वर्षो तक श्रम करके सम्पन्न किया है पर कई कारणो से इसका सम्पादन आशानुरूप नही हो पाया।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने मेरी प्रेषित प्रतियो के आधार से अपने ढग से जो सस्करण तैयार किया था उसको देखते हुए डॉ० अग्रवाल का सम्पादन और भी अच्छा होना चाहिये था, पर हुआ इसके विपरीत है। डॉ० गुप्त ने अपनी सम्पादन-पद्धति के अनुसार हस्तलिखित प्रतियो मे प्राप्त करीब ४७५ पद्यो मे से १२८ को ही मूल रूप मे स्वीकार किया है और शेष पद्यो को परिशिष्ट मे पाठ-भेद सहित दिया है। पर श्री अग्रवाल ने मुझे प्राप्त रासो की सवतुल्लेख वाली प्राचीनतम सवत् १६३३ की लिखी हुई प्रति को ही प्रमाणित मानते हुए उसी का मुख्याधार बना कर उसमे प्राप्त २४६ पद्यो के ही पाठ-भेद दिये है। यद्यपि सवतुल्लेख वाली प्राचीनतम प्रति को मुख्याधार मानना अनुचित नही है पर इस प्रति मे प्राप्त पद्य ही प्रामाणिक है, अन्य प्रतियो के नही, ऐसा नही कहा जा सकता।

वीसलदेव रास की पहले केवल एक ही प्रति प्राप्त हुई और उसमे यह ग्रन्थ चार सर्गों मे विभक्त था पर मैंने जब इस ग्रन्थ की करीब २५ प्रतिया जैन भण्डारो मे खोज निकाली तो उनमे तीन तरह के और भी रूपान्तर प्राप्त हुए जिन्हे लघु, मध्यम और बृहद् कहा जा सकता है और आश्चर्य है कि तीनो ही रूपान्तरो की प्रतिया १७वी शताब्दी की भी लिखित प्राप्त है। २५—५० वर्षों के अन्तर से लिखी हुई तीनो सस्करणो की इन प्रतियो मे पद्यो की न्यूनाधिकता ही नही पर बहुत अधिक पाठभेद भी है।

स० १६३३ वाली प्रति के पाठ को मूल पाठ मान लिया गया है चाहे वह अशुद्ध ही हो। दूसरी प्रतिया इतनी अधिक सख्या मे प्राप्त होने पर उनके शुद्ध एव सगत पाठ को महत्त्व नही दिया गया, अर्थात् डॉ० अग्रवाल सम्पादित सस्करण मे शुद्ध पाठ की गवेषणा का कोई प्रयत्न नही किया गया। सवत् १६३३ लिखित प्रति मे जो पाठ था उसे भी कही

---

*यहा यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत रास की करीब ३० प्रतिया अब तक मिली है, वे सभी जैन भण्डारो मे या जैन यतियो की लिखी हुई है।

कहीं पदच्छेद ठीक से नही करने से गडबड रूप उन्होने छाप दिया है और मुद्रण की अशुद्धियो ने उस पाठ को और भी भ्रष्ट कर दिया है। अत यह सस्करण डॉ० गुप्त के सस्करण से अधिक अशुद्ध और त्रुटिपूर्ण है। इसका सम्पादन भी सावधानीपूर्वक नही हुआ। एक शोध-प्रबन्ध मे इस तरह की बेपरवाही बहुत ही अखरती है। परिशिष्ट 'ग' मे दिये हुए अधिकाश शब्दार्थ भी अपूर्ण और अशुद्धिपूर्ण है। प्रतियो का वर्गीकरण भी सवतनुक्रम की अपेक्षा विभिन्न रूपान्तरो के अनुसार किया जाता तो काफी उचित होता। शब्दार्थ सभी शब्दो का नही दिया गया और कौन सा शब्द कहा प्रयुक्त है इस का भी निर्देश नही करने से अर्थ कहा तक ठीक है जाच करने मे बडी असुविधा होती है।

प्रस्तुत सस्करण की भूमिका मे प्राप्त प्रतियो का परिचय, ग्रन्थ की रचना-तिथि, काव्य-कथा एव काव्य का रचयिता, काव्य-सौष्ठव और भाषा के सबध मे सौ पृष्ठ लिखे गये है, और परिशिष्ट मे ग्रन्थ मे आये हुए नगरो का ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा जातियो सबधी विवरण दिया गया है। ग्रन्थ मे मुद्रण की अशुद्धियो की भरमार है। ऐतिहासिक विवरण बहुत कुछ टॉड राजस्थान आदि के आधार से दिया गया है, अत उसकी बहुत सी अशुद्धियो की यहा पुनरावृत्ति हो गई है। इतिहास एव भूगोल-सबधी कई भ्रमपूर्ण और कई गलत बाते विशेष रूप से अखरती है। मूल ग्रन्थ का पाठ भी इतनी असावधानी से उद्धृत किया गया है कि अनेक स्थानो मे उद्धृत पद्यो का पाठ मूल पाठ से ठीक से मेल ही नही खाता। सारे ग्रन्थ का यदि एक शुद्धि-पत्र बनाया जाय व भ्रमपूर्ण एव गलत बातो पर लिखा जाये तो एक स्वतन्त्र पुस्तक ही बन जायेगी। अत पाठको की जानकारी के लिये यहा थोडे से नमूने ही उद्धृत किये जा रहे है —

(१) ग्रथ मे एशियाटिक सोसाइटी की २ हस्तलिखित प्रतियो का उल्लेख किया गया है पर वास्तव मे प्रति एक ही है, दूसरी प्रति तो उसकी प्रतिलिपि है। प्रतिलिपि मे इसका स्पष्ट उल्लेख है।

(२) भूमिका के प्रबन्ध मे यह लिखा गया है कि "नाहटा जी के लेखो मे उन ४ तथा २ पत्रो वाली प्रतियो का भी उल्लेख नही है, जो मुझे देखने को मिली।" पर उनका यह लिखना ठीक नही है, मैंने राजस्थानी भाग ३ अक १ मे प्रकाशित अपने लेख मे इन फुटकर पत्रो वाली अपूर्ण प्रतियो के सबध मे यह लिखा था कि "उक्त भण्डार मे इन ७ प्रतियो के अतिरिक्त ४ प्रतियो के फुटकर पत्र भी है—किसी का १ किसी का २।"

(३) प्रतियो का परिचय देते हुए प्रारम्भ मे सवत् १६३३ वाली प्रति के आदि अन्त के जो २ पद्य उद्धृत किये गये है उनका पाठ कितनी असावधानी से दिया गया है यह बतलाने के लिये मूलग्रन्थ और भूमिका के पाठ के कुछ शब्द आगे दिये जा रहे हैं —

मल ग्रन्थ मे	भूमिका में	मूल ग्रन्थ मे	भूमिका मे
मुषि झलहलइ	मुषिक लहलह	रतन कचोल	रतनक चोल
	सन्दूरि	जिसी	सी
गवरका	गवर का	घीलइ	घालइ
जोडि	जोडी	धण जउ पीचइ	पूणजउ पाचइ
जिमि तपउ	जिमतपउ	गोरडी	गोडरी
ना सहइ	ना लहइ	जिउ	जिउ
मिलिज्यो सहु	मिलि ज्यो सह	कवीसरि	कविसरि
गुथया	गुथ्य	नक्षण	नक्षित्र
जोइसी	जोइसा		

(इनमे कुछ गलतिया मुद्रण की भी हो सकती है पर कई तो असावधानी की ही द्योतक है। इसी तरह आगे भी भूमिका मे उद्धृत पद्यो के पाठ मे भी बहुत गडबडी है।)

(४) प्रति न० २ की पद्य-सख्या ६२४ छपी है, वह गलत है। इस प्रति का जो पाठ उद्धृत किया गया है उसमे कितनी अशुद्धिया है इसका नमूना देखिये—

प्रकाशित सस्करण	उद्धृत पाठ
जिण	झिण
घर	घरी
जाइ दिहाडाउ झूरिता	जाई दीहाउड झूरिती
गौरी	गौरिका
उदर	उदिर
जोडे	जोड
सेदुर	स्यदूर
तप्पई सूर	नयर सूर
बहत्तरा	बहोतरा
आरभइ	अरभइ
मीली सो	मिलियो
उलिगाणइ	उलीगाणइ
घरि मिल्यो	घरी मील्यो
पूरज्य	पूज्यो

(५) प्रति न० ३ की पद्य-सख्या २४६ छपी है पर उस प्रति मे पद्याक २०० ही लिखे हुए है। 'राजस्थान भारती' मे प्रकाशित मेरे लेख मे भी यही लिखा गया था कि 'स० १६८१ लिखित प्रति मे पद्य-सख्या २०० ही है जो प्राप्त सभी प्रतियो से कम है।

(६) प्रति न० ६ के प्रथम २ खण्डो की पद्य-सख्या ३३ और ३९ छपी है पर है ७७ और ७९। अन्यथा कुल पद्यो की सख्या २९९ छपी है उसका मिलान नही होता। इस प्रति के भी उद्धृत पद्यो के पाठ मे काफी अशुद्धिया है।

(७) भूमिका के पृष्ठ १६ मे सवत् १६३३ वाली प्रति के सभी छन्दो को प्रामाणिक मानने के लिये जो तर्क दिया गया है या अनुमान लगाया गया है वह ठीक नही लगता। वही बात अन्य प्रतियो या रूपान्तरो के सबध मे भी कही जा सकती है। इसी तरह ग्रन्थ की रचना-तिथि के सबध मे भी वे किसी सही निर्णय पर नही पहुच सके। फिर भी पृष्ठ ३२ मे इसे ११वी (उत्तरार्द्ध) १२वी (पूर्वार्द्ध) शताब्दी के लगभग का मानना किसी भी तरह उचित नही लगता। ग्रन्थ की भाषा को ११वी–१२वी शती की बतलाना (पृ० २९) तो सर्वथा अनुचित है क्योकि उस समय की अन्य रचनाओ से इसकी भाषा मेल नही खाती। पृष्ठ २९ मे वीसलदेव रास की भाषा पृथ्वीराज रासो की भाषा से पुरानी है। लिखा गया है, पर इन दोनो ग्रन्थो की भाषा पृथक्-पृथक् है। वोसलदेव रास की भाषा पृथ्वीराज रासो से बहुत सरल है, यह कोई भी राजस्थानी भाषा का जानकार सहज ही कह देगा। वीसलदेव सबधी जो ऐतिहासिक विचारणा की गई है उसमे भी अनेक गलतिया है। इस सबध मे डा० दशरथ शर्मा जैसे विद्वान् ही विशेष प्रकाश डाल सकते है। वीसलदेव की पत्नी राजमती को धार के महाराजा भोज की पुत्री न होकर जैसलमेर के महाराजा भोजदेव की पुत्री बतलाना (पृ० ५०) भी विचारणीय है। श्री अग्रवाल ने यह सम्भावना की है कि जैसलमेर विजय करने के लिये राजा भोज मालवाधिपति कभी गये हो और वही उन्हे कन्या-रत्न की प्राप्ति हुई हो (पृ० ५१) और इसी कारण कवि ने उसे 'जनमी गोरी तू जैसलमेर' कहा हो, पर यह सम्भावना ठीक नही है। इसी तरह और भी बहुत-सी असगतिया है। कही कही नाम और सवत् लिखने मे भी सावधानी नही बरती गई। इससे और भी गडबडी हो गई है।

भूमिका के पृष्ठ ७२ से ८६ मे मूल ग्रन्थ के जो उद्धरण दिये गये है उनमे भी काफी अशुद्धिया है और आगे दिये हुए मूल पाठ से उद्धरण का पाठ मिलान नही खाता। पृष्ठ ७८ मे पद्याक ८८ की जो ४ पक्तिया छपी है वे मूल ग्रन्थ के पृष्ठ ६५-६६ मे छपे पाठ से पाठ की अशुद्धि के कारण भिन्न-सी मालूम देने लगती है। पृष्ठ ६५ मे बादीय शब्द है तो भूमिका के पृष्ठ ७८ मे बाद्दिय छपा है, और राज जतन की जगह राजमत छप गया।

कही-कही तो अग्रवाल जी शब्दो का अर्थ ठीक-से न समझने के कारण हास्यास्पद बाते लिख गये है, उदाहरणार्थ भूमिका के पृष्ठ ८२ मे भयसि पीडार' का अर्थ 'भैस का पाडा' समझकर यहा बीभत्स रस उपस्थित करने का लिख दिया है, वास्तव मे इस शब्द का अर्थ है मैस का पिंडार अर्थात् महिषपाल। इसी प्रकार मूगफली शब्द अर्थ ठीक से नही समझने के कारण "अगुलियो की उपमा मगफली से देकर हास्यरस उपस्थित

कर देता है" लिख दिया है पर यहा मूगफली का अर्थ मूग की फलिया है जो पतली होती है और अगुली की उपमा के लिये सर्वथा उचित है। वर्तमान मे जिसे मूगफली कहते है यहा उस अर्थ मे मूगफली शब्द प्रयुक्त नही है।

ग्रन्थ का नाम वीसलदेव रासो रखना भी अविचारपूर्ण है, क्योकि हस्तलिखित प्रतियो मे इसे रासो नही रास ही लिखा गया है। इसे रासो मान लेने के कारण ही भूमिका के पृष्ठ ७९ मे यह लिखना पडा कि वीसलदेव रासो एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमे वीर रस का तो सर्वथा अभाव है और शृगार रस की प्रधानता। अतएव प्राचीनतम ग्रन्थ होने के नाते यदि यह काव्य रासो काल का प्रतीक ग्रन्थ माना जाय तब तो इस काल को वीरगाथा काल कहना कहा तक सार्थक होगा, यह विवादग्रस्त प्रश्न हो जाता है।

परिशिष्ट मे जो स्थानो का विवरण दिया गया है उसमे मालूम होता है कि लेखक का इतिहास व भूगोल दोनो का सही ज्ञान नही है। दूसरे ग्रन्थो से कई विवरण तो ज्यो-के-त्यो उद्धृत कर लिये है, उदाहरणार्थ नागोर का विवरण ओझाजी के जोधपुर के इतिहास से पृष्ठ ४०—४२ से, मण्डोर का विवरण उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ २४—२७ से प्राय ज्यो-का-त्यो ले लिया है। इसी तरह पवार, चौहान, कच्छवाहा, भाटी जातियो का विवरण 'राजस्थान की जातिया' नामक ग्रन्थ से सामान्य हेरफेर करके ले लिया गया है। इस तरह का प्रयत्न किसी शोध-ग्रन्थ के लिये तो सर्वथा अशोभनीय है।

वीसलदेव रास मे प्रयुक्त कई स्थानो के नामो का विवरण देते हुए उन्हे वे है तो कहीं, पर बतला दिया और कही का है। जैसे चम्पावती को काश्मीर प्रान्त मे और कुडाल को सखनावाडी के रईस का दुर्ग था, लिख दिया है, पर ये दोनो स्थान राजस्थान मे ही है। ग्रन्थ के प्रसग से स्पष्ट है कि वे स्थान साभर और धार के बीच के थे, साभर से अधिक दूर नही थे। टोक के लिये लिखा गया है कि राजपूतो का शहर टोक अजमेर प्रान्त मे है। इसी तरह अजमेर के लिये लिखा है कि अजमेर मेवाड का प्रान्त राजपूताने के मध्य भाग मे बसा हुआ है। इसके अजमेर और मेवाड दो भाग है। मेवाड ४८ मील लम्बा और १५ मील चौडा है। पर वास्तव मे यहा मेवाड की जगह सम्भवत मेरवाडा शब्द होना चाहिये था ओर टोक अजमेर प्रान्त मे है ही नही। पृष्ठ १८० मे अजमेर की छत्रियो पर सवत् ८१७ और सन् ८४५, ८५४ और ८७१ के लेख बतलाये गये है पर वास्तव मे ये लेख इतने प्राचीन है ही नही, इस सबध मे डॉ० कैलाशचन्द्र जैन का लेख कई वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका है। अजमेर के राजा का नाम वीलमदेव पृष्ठ १८० और १८१ मे लिखा गया है पर यह नाम अशुद्ध या गलत है।

पृष्ठ १८२ मे जैसलमेर के स्थापित करने वाले भाटी वश के प्रसिद्ध राजा देवराज कहे जाते है, इन देवराज के सबध मे कहा जाता है कि "सन् ८३६ मे इन के जन्म के पश्चात् इनके पिता तथा सभी सगे-सबधी एक पहाडी जाति द्वारा मार डाले गये थे, ये एक योगी की कृपा से किसी प्रकार बच गये और जैसलमेर की स्थापना की", पर जैसलमेर की स्थापना तो जेसल ने १३वी शताब्दी मे की है, देवराज उनके पूर्वज अवश्य थे और उनके नाम से 'देवराजपुर' जिसे देरावर कहते है, बसाया गया, न कि जैसलमेर।

श्री मुकनसिह ने अपने सम्पादित 'बन्दी मोचन' की भूमिका मे डॉ० तारकनाथ अग्रवाल के वीसलदेव रासो की आधारशून्य और अनर्गल बातो के सबध मे लिखा है "डॉक्टर की उच्चतम उपाधि से अभिहित किये जाने वाले हमारे विशिष्ट विद्वानो द्वारा विश्वविद्यालयो के शोध-प्रबन्धो तक मे अनेक ऐसी आधारशून्य अनर्गल बातो का लिखा जाना कहा तक समीचीन कहा जा सकता है।" इसके कुछ उदाहरण भी उन्होने दिये है जिनमे से अजमेर और टोक सम्बन्धी विवरण का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सक्षेप मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि डॉ० अग्रवाल का सम्पादन प्रयत्न असफल और त्रुटिपूर्ण है। आलोचना भी छिछली है। ग्रन्थ भ्रान्तियो और अशुद्धियो से भरा पडा है।

कबीर ग्रन्थावली

प० कृष्णशकर शुक्ल

सवत् १९८५ मे स्वर्गीय श्यामसुन्दरदास ने 'कबीर ग्रथावली' नाम से कबीर की रचनाओ का एक सग्रह नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित किया। उन्होने इसका सपादन दो हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर किया था। इन मे से एक सवत् १५६१ की लिखी तथा दूसरी सवत् १८८१ की लिखी थी। पहली प्रति की तिथि को विद्वानो ने जाली माना। इस सपादित प्रति के विषय मे डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' नामक ग्रथ मे लिखा था "फिर भी यह प्रति जितनी सुसपादित है वैसी और कोई पुस्तक नही। इसीलिये मैने इस पुस्तक मे इस प्रति को प्रमाण रूप से बराबर व्यवहार किया है।" इस ग्रथावली मे साखियो की सख्या ८०९ है जो ५९ अगो मे विभाजित है। पदो की सख्या ४०३ तथा अन्त मे रमैणियाँ दी हुई हे। परिशिष्ट मे श्रीग्रथ साहब मे दिए हुए उन पदो का सग्रह कर दिया गया है जो ग्रथावली मे नही प्राप्त हुए। परिशिष्ट की साखियो की सख्या १९२ तथा पदो की सख्या २२२ है। सब मिला कर साखियो तथा पदो की सख्या इस प्रकार है —

	साखी	पद
ग्रथावली	८०९	४०३
परिशिष्ट,	१९२	२२२
	१००१	६२५

इस सख्या के साथ ग्रन्थावली मे दी हुई रमैणिया भी सम्मिलित करनी हैं।

इधर सन् १९६१ मे श्री पारसनाथ तिवारी ने हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय से स्वसपादित 'कबीर ग्रन्थावली' का एक नवीन सस्करण प्रकाशित करवाया है। इन्होने जिन रचनाओ को प्रामाणिक स्वीकृत किया है उनके विषय मे इनका कथन है "सन्तोष का विषय है कि इस प्रकार की भी जो वाणी हमे प्राप्त हुई हैं वह आकार मे कम नही है। दो सौ पद (या शब्द), बीस रमैनिया, एक सौ चौंतीस रमैनी तथा सात सौ चौवालिस साखिया प्रामाणिक रूप से कबीर की सिद्ध होती है। वास्तविक कबीर के

सपादक श्री पारसनाथ तिवारी
प्रकाशक हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय
मूल्य १२ रुपए

अध्ययन के लिए यदि हम किसी छोटी-से-छोटी सख्या के सम्बन्ध मे भी यह कह सकते हैं कि वह प्रामाणिक है तो उतना ही पर्याप्त है।"

श्री पारसनाथ जी ने इस ग्रन्थ के सम्पादन मे जो श्रम किया है उसे साहित्यिक तप कहना उचित होगा। कबीर की रचनाओ की जितनी प्रतिया प्राप्त हो सकती थी सब का सग्रह किया गया तथा उनके पाठो का सूक्ष्मता से मिलान किया गया और अर्थ को दृष्टि मे रखते हुए अक्षर-अक्षर और शब्द-शब्द का सम्पादन किया गया। आपने नौ शाखाओ को सग्रह प्रतियो को अपने सम्पादन का विशेष आधार बनाया। "इस प्रकार कबीर के नाम से प्रचलित प्रतियो की बडी सख्या मे से पाच प्रतिया दादू पथी शाखा की, एक प्रति निरजनी शाखा की, एक गुरु ग्रथ की, दो बीजक की, दो शब्दावलियो की, तीन साखियो की, एक 'सर्वंगी' की, एक 'गुण गज नामाकी' और एक आचार्य सेन की (आशिक रूप मे) अर्थात् नौ शाखाओ की कुल सग्रह प्रतिया ही ऐसी है जिनका विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन किया गया है और इन्ही के आधार पर प्रस्तुत ग्रथ मे कबीर की वाणियो का यथासभव प्राचीनतम तथा प्रामाणिकतम पाठ निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। ये प्रतिया कबीर के नाम पर उपलब्ध प्रतियो के विपुल समुदाय का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर देती है, अर्थात् कबीर की वाणी का पाठ जिन विभिन्न रूपो से होकर गुजरा है, उनके सम्बन्ध मे जितना उक्त प्रतिया बता देती हैं उसके बाहर जानने को प्राय कुछ नही रह जाता।"

उक्त शब्दो मे त्रिपाठी जी ने अपने सपादन का आधार प्रस्तुत किया है। इन्होने अपने सपादन के लिये कुछ सिद्धात बना लिये थे। ये सिद्धात प्राचीन हस्तलिखित ग्रथो के वैज्ञानिक सपादन मे प्राय सहायक होते है। प्रतियो के सकीर्ण सम्बन्ध के सिद्धात से इन्होने सपादन मे बहुत सहायता ली है। इस सिद्धान का स्पष्टीकरण इन्होने इस प्रकार किया है "हस्तलिखित प्रतियो का लेखन कार्य प्राय परपरा रूप मे चलता है। एक प्रति को देख कर या सुन कर ही दूसरी प्रति उतारी जाती है। इस प्रक्रिया मे प्राय ऐसा हुआ करता है कि पहली प्रति की प्रतिलिपि सबधी या अन्य भूले और प्रक्षिप्तिया दूसरी मे भी प्राय ज्यो-की-त्यो चली आती है और प्रत्येक प्रतिलिपि-पीढी मे नई भूलें और प्रक्षिप्तिया बढती चलती है। जब कई भूले या प्रक्षिप्तिया दो या दो से अधिक प्रतियो मे उन्ही स्थलो पर ज्यो की त्यो मिल जाती हैं और जब इस सन्देह के लिए स्थान नही रह जाता कि उनमे यह स्वतत्र रूप से आई हुई हैं तो उन प्रतियो को परस्पर सकीर्णरूप से सबद्ध माना जाता है। प्रतियो के परस्पर सकीर्ण रूप से सबद्ध होने का अर्थ यह है कि उनमे मिलने वाला समान पाठ निश्चित रूप से मूलग्रथ का तब तक स्वीकृत नही किया जा सकता जब तक कि उसकी पुष्टि अन्य किसी ऐसी प्रति से न हो जाय जो उनसे पृथक् किसी स्वतत्र परपरा का हो।"

सपादक को जो सब से प्राचीन प्रति प्राप्त हुई है उसका लिपिकाल सवत् १७१५ है। कबीर की मृत्यु सवत् १५७५ के आस-पास मान ली गई है। इस गणना से प्राचीनतम प्रति जो प्राप्त हुई है वह कबीर के निधन के प्राय डेढ सौ वर्ष बाद लिखी गई थी। जिस गति

ये क्षेपको मे वृद्धि हुई है उस गति से डेढ सौ वर्षों मे कितने परिवर्तन और परिवर्धन हो गये होगे । इस प्रति के अतिरिक्त अठारहवी शताब्दी की दो और प्रतिया भी प्राप्त थी जिनकी तिथिया क्रमश स० १७४१ वि० और स०१७६१ वि० दी गई है। इन प्रतियो के अतिरिक्त अन्य प्रतिया उन्नीसवी शताब्दी की है । ऐसी स्थिति मे सत्य तो यह है कि कबीर की वास्तविक रचनाओ को छाट निकालना बहुत ही दुष्कर कार्य है ।

श्री गुरुग्रथ साहब मे जो रचनाए कबीर की सग्रहीत है उनको भी सहसा अप्रामाणिक नही कहा जा सकता । यह प्रसिद्ध है कि गुरुग्रथ साहब का सकलन सवत् १६६१ वि० मे हुआ था । इस ग्रथ का सपादन जिन प्रतियो के आधार पर हुआ वे अब प्राप्त नही है । सभवत मौखिक परपरा तथा कुछ पुरानी हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर ग्रथ साहब मे कबीर की रचनाए ली गई होगी । परन्तु इस सपादन के समय भी कबीर की मृत्यु को ८० वर्ष से अधिक हो चुके थे । ऐसी स्थिति मे ग्रथ साहब की रचनाओ के प्रामाणिक होने के विषय मे अनेक मत उपस्थित किये जा सकते है। कबीर सप्रदाय की मान्यताए भी मूल तक पहुचने मे कुछ बाधा ही डालती है। पन्थ मे 'बीजक' ग्रन्थ का सर्वाधिक महत्व है। बीजक का प्रथम सपादन बिहार मे हुआ था। बिहार की बोली का उस पर बहुत प्रभाव है। यह प्रभाव कबीर की अपनी बोली के कारण है अथवा सपादको की असावधानी के कारण, इसका निर्णय कर सकना बहुत कठिन है। उधर ग्रथावली की भाषा पर राजस्थानी और पजाबी के प्रभाव को अस्वीकृत नहा किया जा सकता। श्री पारसनाथ तिवारी जी भी यह मानते है कि कबीर की भाषा पर पूर्वी प्रयोगो का अधिक प्रभाव होना स्वाभाविक है "यह प्राय निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि कबीर का अधिकाश जीवन काशी अथवा उसके आस पास के प्रदेशो मे व्यतीत हुआ। भाषा की दृष्टि से काशी अवधी तथा भोजपुरी की दोनो क्षेत्रा की सीमा पर स्थित है। इस से यह निष्कर्ष निकलता हे कि कबीर की भाषा मे पूर्वी प्रयोगो का अधिक मिलना नितान्त स्वाभाविक है।" तिवारी जी का यह सिद्धान्त प्रचलित 'बीजक' पर तो लागू होता है परन्तु ग्रथावली पर नहीं । इनकी सपादित ग्रथावली पर भी नहीं । कबीर के समय मे काशी की बोली का क्या स्वरूप था इसका निर्णय करने का कोई आधार नही हे। आग्रहवश उन्नीसवी शताब्दी की काशी की बोली को पन्द्रहवी शताब्दी की बोली मान कर कुछ निर्णय करना कहा तक उचित है ? इसकी भी सभावना है कि उस समय भोजपुरी गगा पार कर काशी न पहुची हो अथवा गाजीपुर की और काशी की बोली एक न रही हो ।

कबीर की रचनाओ का सपादन सदा अनेक समस्याओ मे उलझा रहा है। उन्हे सुलझा कर मूल तक पहुच सकना दुरूह ही नही असभव है ।

ऐसी स्थिति मे श्री पारसनाथ जी ने जो साहस किया है वह अत्यन्त श्लाघ्य है। उनकी लगन की तथा अध्यवसाय की जो भी प्रशसा की जाय वह उचित है। उन्होने बडे परिश्रम से छानबीन की है। उन्होने जो सार प्रस्तुत किया है उसमे प्रामाणिकता की कुछ सुगध मिलती है। यह कहा जा सकता है कि ये रचनाए कबीर की भावनाओं

और विचारो का प्रतिनिधित्व करती हैं। फिर भी इस ग्रथावली से कुछ रचनाए दिखाई जा सकती हैं जिनके प्रामाणिक होने मे सन्देह होता है। उदाहरण के लिए इन शब्दो पर विचार किया जा सकता है —

मन न डिगै तन काहे को डेगाई।
चरन कमल चितु रह्यौ समाई।
गग गुसाइनि गहिर गभीर। जजीर बांधि करि खरे कबीर।
गगा की लहरि मेरी टूटी जजीर। म्रिगछाला पर बैठे कबीर।
कहै कबीर कोऊ सग न साथ, जल थल मे राखै रघुनाथ।

इस पद मे कबीर की एक अलौकिक सिद्धि का वर्णन है। लोक मे तो कबीर की बहुत-सी सिद्धिया और करामाते प्रसिद्ध है, परन्तु उनकी प्रामाणिक रचनाओ मे यह पद स्वीकृत करते समय अनेक बातो पर विचार करना पडेगा। इस पद मे तीन बार कबीर पद आया है, वह भी सशय उपस्थित करता है।

स्वर्गीय श्यामसुन्दरदास सपादित ग्रथावली मे तथा श्री तिवारी जी सपादित ग्रथावली मे एक स्पष्ट अन्तर की ओर सहज ध्यान जाता है। इस ग्रथावली मे सग्रहीत पदो और साखियो की भाषा मे उतना अन्तर नही है। बाबू साहब द्वारा सपादित ग्रथावली मे साखियो पर राजस्थानी प्रभाव बहुत अधिक है, परन्तु पदो (शब्दियो) पर उतना नही है। इस से यह स्पष्ट निर्णय किया जा सकता है कि बाबू जी ने जिन प्रतियो को आधार बनाया था उनकी साखियो पर कृत्रिम रूप से लिपिकारो की अपनी भाषा का प्रभाव पडा।

त्रिपाठी जी ने भूमिका मे इन शब्दो मे अपने गुरुजनो तथा सहायको के प्रति आभार प्रकट किया है "यह सपूर्ण कार्य मैने डॉ० माताप्रसाद गुप्त के निर्देशन मे किया है और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से समय-समय पर अनेक उपयोगी सुझाव मिलते रहे जिनका यथास्थान समावेश करने से इस प्रबध की उपयोगिता मे निश्चय ही श्रीवृद्धि हो गयी है।" "श्रद्धेय श्री परशुराम चतुर्वेदी तथा श्री नरोत्तमदास स्वामी से अनेक विवाद-ग्रस्त स्थलो के अर्थ आदि की समस्याए सुलझाने मे विशेष रूप से सहायता मिलती रही।"

सपादक महोदय ने बहुत अधिक परिश्रम किया है, इसलिये वे हिन्दी साहित्य के अनुरागियो की प्रशसा के पात्र है। कबीर की रचनाओ के साहित्यिक अध्ययन के लिये इस ग्रथावली को आधार बनाना उचित होगा। साथ ही इतना स्मरण रखना आवश्यक है कि सपादक महोदय को जो पुरानी से पुरानी प्रति प्राप्त हुई वह कबीर की मृत्यु के करीब डेढ सौ वर्ष पीछे की है। ग्रथ की २८१ पृष्ठ की भूमिका के अध्ययन से सपादक का परिश्रम समझने मे सहायता मिलेगी तथा पादटिप्पणिया विविध प्रतियो के पाठो को एकत्र कर गभीर अध्ययन करने वालो के लिए बहुत सहायक होगी। इस बात की बहुत आवश्यकता है कि पुस्तक का एक सस्करण ऐसा भी निकले जिसमे इस लबी भूमिका का केवल सारमात्र हो तथा ग्रथावली हो। यह लबी भूमिका विद्वानो के जितने काम की है उतनी

छात्रो तथा अन्य पाठको की दृष्टि से नही। उच्च कक्षाओ के पाठ्य ग्रथ के रूप मे ग्रथावली का, भूमिका कम कर देने पर महत्त्व निस्सन्देह बढ जायगा। इस लबी भूमिका का डाक्टरेट की उपाधि के लिये तो अनिवार्य महत्त्व था।

एक बात और विचारणीय है। इस ग्रथावली मे जो रचनाए प्रामाणिक स्वीकृत हुई है वे कबीर की सपूर्ण रचनाओ का चतुर्थाश हैं। शेष रचनाओ का भी साहित्यिक महत्त्व है। वे रचनाए भी भारत की मनीषा और साधना को सामने लाने मे योग देती है। वे कबीर की न भी सही पर कुछ ऐसे नि स्पृह और त्यागी लोगो की है जो अपने नाम के भूखे तो नही थे पर अपने विचारो का प्रचार अवश्य चाहते थे। इन अज्ञातनामा त्यागियो की उत्तम रचनाओ का भी एक सग्रह अवश्य होना चाहिए। केवल नाम का लेबिल न होने से सच्चे हीरो को फेक देना बुद्धिमत्ता नही है।

हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्तकाव्य

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत

भारतीय सतो ने काव्य रचना नही की थी, फिर भी उनकी वाणिया सहज काव्य का सुन्दरतम उदाहरण है। शास्त्राचार्यों ने कुछ विशेष साहित्यिक उपादानो से विशिष्ट रचना को ही काव्य कहा है। उनके द्वारा निरूपित काव्य-प्रतिमान लौकिक काव्य की व्याख्या मात्र मे समर्थ होते है। काव्य के उदात्ततम रूप का निरूपण उन ऋषियो ने किया है जो काव्य को आत्मा की सहज अभिव्यक्ति और कवि को मनीषी मानते है। भारतीय सतो की वाणिया काव्य के इसी उदाततम स्वरूप का सुन्दरतम उदाहरण है। इनकी दृष्टि मे काव्य, ज्ञान, वाक् और ब्रह्म ये सब पर्यायवाची थे। काव्य के इस उदात्त स्वरूप की धारणा बहुत ही प्राचीन है। लौकिक काव्य की उद्भावना से पूर्व एक मात्र इसी धारणा की मान्यता थी। ऋग्वेद के वागारम्भणीय सूक्त मे 'वाक्' का प्रयोग 'ब्रह्म' के अर्थ मे ठीक उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार गीता मे कृष्ण का मिलता है। ऋग्वेद के ११४वे सूक्त मे ब्रह्म और वाक्तत्व की एकता स्पष्ट घोषित की गई है। इसी सहिता मे उसे एक दूसरे स्थल पर 'आनदरूप' और 'कामधेनु' रूप कहा गया है। भारतीय सत इसी कामधेनु की साधना मे सलग्न रहे है। भारतीय सतो की परम्परा किसी प्रात-विशेष या भाषा-विशेष तक ही सीमित नही रही। भारत के सभी प्रातो मे सत उत्पन्न हुए है और उन्होने अपनी-अपनी प्रातीय भाषाओ मे अपने-अपने ढग पर सहज-काव्य की झाकी सजोई है। इन विभिन्न प्रातीय भाषाओ मे पाए जाने वाले सतकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन अनुसधान की एक महत्त्वपूर्ण दिशा है। कुछ दिन पूर्व तक यह दिशा सर्वथा उपेक्षिता थी। हिदी के लब्धप्रतिष्ठ लेखक श्री प्रभाकर माचवे जी ने पी० एच० डी० उपाधि के लिए 'हिदी और मराठी का निर्गुण सतकाव्य' शीर्षक शोध प्रबन्ध लिखकर हिदी अनुसधान की इस नई दिशा का उद्घाटन किया है। उनका यह कार्य सर्वथा अभिनदनीय और महत्त्व-पूर्ण है।

दो भाषाओ के कवियो के तुलनात्मक अध्ययन का कार्य थोडा कठिन होता है। इसके लिए दोनो भाषाओ की सूक्ष्मताओ से परिचित होना नितान्त अपेक्षित होता है। माचवे जी हिदी और मराठी के अच्छे ज्ञाता है। मराठी उनकी मातृभाषा है और हिदी उनकी

लेखक प्रभाकर माचवे
प्रकाशक चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी
मूल्य १२ रुपये

प्रमुख सेव्या। अपनी इसी विशेषता के कारण वे अपने अध्ययन को इतना पूर्ण और प्रौढ बना पाए है।

माचवे जी ने अपने शोध-प्रबध को पाच खडो मे विभाजित किया है—प्रथम खड के अन्तर्गत पाच शीर्षक हैं। पहले शीर्षक मे लेखक ने भारतीय काव्य के स्वरूप की मीमासा करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उसमे सर्वत्र अभेदता दिखाई पडती है। पुनश्च, उसने भाषाओ के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया है जो उचित ही है। इसी खड के दूसरे शीर्षक मे उसने अपने अध्ययन के विशेष दृष्टिकोणो की चर्चा की है। तीसरे शीर्षक मे सत काव्य के वैज्ञानिक और शास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता का निर्देश किया गया है। चौथा शीर्षक रहस्यवाद-विषयक है। पाचवे शीर्षक मे प्रबध की विवेचन-पद्धति पर प्रकाश डाला गया है।

प्रबध के द्वितीय खड मे मराठी के निर्गुण सत साहित्य की मीमासा की गई है। तृतीय खड मे हिदी के निर्गुण सतकाव्य का परिचय दिया गया है। चतुर्थ खड मे दोनो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पाचवा खड उपसहारात्मक है। अत मे एक परिशिष्ट जोड गया है जिसके अतर्गत 'अध्ययन-सामग्री', तथा 'प्रस्तुत निबध के सबध मे एक परीक्षक की सम्मति' शीर्षको को सम्मिलित किया गया है।

लेखक ने प्रथम खड के द्वितीय अध्याय के प्रारभ मे अपने अध्ययन के दृष्टिकोणो को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उसने लिखा है, "हिदी और मराठी के निर्गुण सतकाव्य का यह अध्ययन प्रस्तुत करते समय मैने चार दृष्टियो से विशेष रूप से विचार किया है (१) निर्गुण सतकाव्य का काव्य कला की दृष्टि से साहित्यिक अध्ययन और समीक्षा, (२) निर्गुण सतकाव्य के निर्माण के पूर्व की दार्शनिक परम्पराओ और प्रभावो का विश्लेषण, (३) निर्गुण सतकाव्य के प्रादुर्भावकाल का ऐतिहासिक विवेचन, समाज-स्थिति और जातियो के सबध का विचार, (४) निर्गुण सतकाव्य के मूल मे दाक्षिणात्य, शैव मत, शिवशक्ति सयोग।"

लेखक उपर्युक्त प्रतिज्ञाओ के सफल-निर्वाह मे उतना समर्थ नहीं हो पाया है जितनी उससे आशा थी। इसका कारण सभवत प्रबन्ध का बहुत शीघ्रता मे लिखा जाना है। निवेदन मे लेखक ने स्वय लिखा है—"सन् १९५३ मे डार्जलिग मे मैने यह ग्रथ २ महीने मे लिख डाला।" निर्गुण सतकाव्य का काव्य कला की दृष्टि से साहित्यिक अध्ययन और समीक्षा करना लेखक का प्रथम लक्ष्य है। निर्गुण सतसाहित्य की मीमासा करते समय लेखक ने इन सतो की काव्य-कला की सम्यक् मीमासा की उपेक्षा की है। उसने इनके काव्य-सौदर्य के सबध मे दो शीर्षको से विचार किया है। पहले शीर्षक मे उसने महाराष्ट्र के निर्गुण कवियो मे प्रयुक्त सामान्य प्रतीको और सकेतो का विवेचन किया है। इन सकेतो और प्रतीको की व्याख्या करते समय उसने न तो उनसे उद्भूत काव्य-चमत्कार की विवेचना की है और न उनके ऐतिहासिक एव विकासात्मक पक्ष पर ही पूरा प्रकाश डाला है। शास्त्रीय और सूक्ष्म विवेचना के स्थान पर दो-दो, तीन-तीन पृष्ठो के लम्बे उद्धरणो से प्रबध के कलेवर को बढाने का अकारण और अनुचित उपाय किया गया है। अच्छा होता

कि ये उद्धरण छोटे होते और फुटनोट मे दिए गए होते। यदि लेखक उनकी प्रवृत्तियो से पाठको को परिचित कराना चाहता था तो उनको विस्तार से परिशिष्ट मे सकलित कर सकता था। दूसरा शीर्षक है—'लोकोत्तर अभिव्यजना की प्रवृत्ति'। इसके अन्तर्गत सतो के काव्य के मर्मगत चारुत्व की खोज नही की गई है, जिसका अभाव पढते समय वाचक को स्पष्ट खटकता है। विवेचना के प्रसग मे लम्बे-लम्बे उद्धरणो को देखकर वाचक का मन ऊब जाता है। ज्ञानवृत्ति की तृप्ति के स्थान पर लेखक की चयन वृत्ति के चमत्कार का प्रभाव अधिक अनुभव होने लगता है। यही अभाव हिदी के निर्गुणियाँ सतो की विवेचना के प्रसग मे भी खटकता है। लेखक की चयनवृत्ति कुशल अवश्य है किन्तु कही-कही शीघ्रता से प्रेरित होने के कारण अधूरी अभिव्यक्ति मे ही समर्थ हो पाई है। पृष्ठ १५ पर उसने "हिदी के कवि" शीर्षक के अन्तर्गत जिनदत्त, हेमचन्द्र, हरिभद्र, विद्याधर और शालिभद्र आदि बहुत से ऐसे कवियो के नाम निर्दिष्ट किए है जिनकी रचनाए अभी तक हिंदी-जगत् के सामने नही आई है। अनुसधाता ने इस तथ्य की उपेक्षा की है। उसे इन अज्ञात कवियो के नाम-निर्देश के साथ-साथ उनकी रचनाओ के प्राप्त-स्थान का भी उल्लेख करना चाहिए था। अच्छा होता कि वह परिशिष्ट मे इनमे से प्रत्येक की कुछ सुन्दर वाणियो को सकलित भी कर देता। इससे प्रबध का महत्व भी बढ जाता और पाठको की जिज्ञासा वृत्ति भी तृप्त हो जाती। साथ ही साथ अनुसधाता अपने कर्त्तव्य के निर्वाह मे भी सफल माना जाता।

निर्गुण सतकाव्य के निर्माण के पूर्व की दार्शनिक परम्पराओ और प्रभावो का विश्लेषण सक्षिप्त होते हुए भी प्रामाणिक, प्रौढ और पाडित्यपूर्ण है। अन्य दो प्रतिज्ञाओ के निर्वाह का भी लेखक ने समुचित प्रयास किया है।

मराठी और हिंदी के निर्गुणिया सतो का तुलनात्मक अध्ययन कई दृष्टियो से सुन्दर बन पडा है। किंतु फिर भी तुलना अपूर्ण-सी लगती है। लेखक ने दोनो कोटि के सतो के सामाजिक एव धार्मिक विचारो की समुचित तुलना नही की है। भारत के सामाजिक एव धार्मिक क्षेत्रो मे सतो की देने बहुत महत्वपूर्ण थी। धर्म के साधना-क्षेत्र मे उनकी उपलब्धिया अपूर्व थी। इन दृष्टियो से लेखक ने दोनो भाषाओ के सत कवियो का न तो अध्ययन ही किया है और न तुलना ही जिससे प्रबध का मूल्य कुछ कम हो गया है।

जहा तक प्रबध की भाषाशैली का सबध है वह प्रौढ, प्राजल और प्रवाहयुक्त है। किंतु लेखक कही-कही विषय-प्रतिपादन, वस्तुचयन आदि मे इतना अधिक रम गया है कि उसे भाषा और शैलीगत दोषो का ध्यान ही नही रहा है। सभवत इसीलिए उसके प्रबध मे कही-कही दूषित और शिथिल वाक्य-प्रयोग मिलते है। उदाहरण के लिए एक वाक्य है—"अन्यत्र भी जहा जहा कविता की आत्मा, काव्य के जीवित, या काव्य-शरीरादि की चर्चा की जाती है, कविता की सप्राणता पर केवल आलकारिक रूप से ही नही परन्तु सिद्धात रूप से बल दिया गया है।" (पृष्ठ १) इस वाक्य मे रचनागत शैथिल्य खटके बिना नही रहता है। वाक्य मे या तो 'जहा जहा' का प्रयोग ही न किया गया होता, और यदि किया

ही था तो उसकी पूर्ति के लिए 'वहा वहा' का प्रयोग अपेक्षित था। इसी प्रकार एक दूसरा वाक्य है—"भामह ने मम्मट के सख्या एक तथा पाच को मानकर साथ मे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारो पुरुषार्थों की प्राप्ति और चोसठ कलाओ मे प्रगति को भी काव्य प्रयोजन माना।" यह वाक्य भी उखडा-उखडा और अपूर्ण है। उसकी अभिव्यक्ति मे प्रवाह नही है। इस प्रकार के अन्य बहुत से वाक्य इस प्रबध मे मिलते है। कही-कही शब्दो के प्रयोग मे भी औचित्य की उपेक्षा की गई है, जैसे निम्नलिखित वाक्य मे 'अशक्य' शब्द का प्रयोग ऐसा ही है "जैसे आकाश के निस्सीम विस्तार को बाधना असभव है, पानी के रग का पता देना अशक्य है।"

उक्त सीमाओ और त्रुटियो के होने पर भी हम लेखक और उसकी कृति का मूल्य कम नही कर सकते। प्रस्तुत शोध-प्रबध कई दृष्टियो से बडा महत्त्वपूर्ण और बेजोड है। वह लेखक के रचना-कौशल, उसके मौलिक चिंतन, गभीर अध्ययन, सामग्री-सकलन की निपुणता, विवेचनात्मक गभीरता और सूक्ष्म अन्वेषणशक्ति का साक्षात् दर्पण है। इतने बडे प्रबध मे कुछ ऐसे स्थलो का रह जाना जिनसे सब लोग सहमत न हो सके, भाषा और शैलीगत कुछ दोषो का परिमार्जन न हो सकना, तथा यत्र-तत्र नव तथ्यो के उद्घाटन की कृपणता आदि का पाया जाना बडे आश्चर्य की बात नही है। लेखक का यह प्रयास सत साहित्य के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। हिंदी साहित्य को ऐसी मौलिक एव अनुसधानपूर्ण रचना भेट करके लेखक ने बडा अभिनदनीय कार्य किया है।

सूरसागर शब्दावली

डॉ० प्रेमनारायण ठडन

प्रस्तुत प्रबध प्रयाग विश्वविद्यालय की डी०फिल०उपाधि के लिए १९५८ मे स्वीकृत हुआ था और 'सशोधित-परिवर्द्धित रूप मे' प्रकाश मे आया चार वर्ष पश्चात् १९६२ मे। हिंदी मे कवि-विशेष की शब्दावली के सास्कृतिक अध्ययन का यह सर्वप्रथम प्रयास कहा जा सकता है, यद्यपि इसके दो वर्ष पूर्व, सन् १९६०मे, डॉ०मायारानी टडन, का 'अष्टछाप-काव्य का सास्कृतिक मूल्याकन' लखनऊ से प्रकाशित हो चुका था।

'सूरसागर शब्दावली' मे लेखिका के अनुसार, 'सूरसागर मे प्रयुक्त लगभग १७०० सज्ञा-शब्दो का सास्कृतिक विवेचन' है। प्रबध इन बारह खडो मे विभाजित किया गया है—वस्त्राभूषणो के नाम, खाद्य तथा पेय पदार्थ, स्थानवाचक शब्द तथा काल-विभाजन, व्यापार-व्यवसाय-कृषि-ग्राम-प्रबध तथा नग-धातु-सिक्के, राजदरबार शासन-व्यवस्था तथा युद्ध, सामाजिक सगठन सस्कार तथा त्योहार, धर्म तथा दर्शन, साहित्य-सगीत-नृत्य, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता-पुष्प, गृहस्थी की उपयोगी वस्तुए एव मनोविनोद तथा वाहन। इन १२ खडो के अतर्गत कुल १३ अध्याय है, और अत मे 'शब्दानुक्रमणिका' भी दी गयी है।

इस प्रकार विदुषी लेखिका ने 'सस्कृति' के अतर्गत परिगणित सभी विषयो का समावेश प्रस्तुत प्रबध मे कर तो लिया है परतु 'सस्कृति' के अगो की कही चर्चा न होने से खडो और अध्यायो के क्रम के सबध मे मतभेद के लिए अवकाश भी रह गया है। उदाहरणार्थ पाठक अनायास पूछ सकता है कि प्रबध का प्रारभ 'वस्त्राभूषणो के नाम' से क्यो किया गया, भौगोलिक स्थिति का परिचय देकर जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओ से सबधित वस्तुओ की शब्दावली से क्यो नही किया गया जिससे 'सूरसागर' मे वर्णित 'सास्कृतिक जीवन' का क्रमिक और व्यवस्थित रूप सामने आ जाता। ऐसा करने पर सभवत प्रबध को ७३ छोटे-बडे अध्यायो मे विभक्त करने की भी आवश्यकता नही रह जाती, अस्तु!

लेखिका डॉ० निर्मला सक्सेना,
प्रकाशक हिदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
मूल्य बारह रुपये

प्रस्तुत प्रबध की सब से बडी विशेषता यह है कि विदुषी लेखिका ने शब्दावली का सग्रह-कार्य जिस श्रम से किया है, उसका परिचय प्रत्येक पृष्ठ से मिलता है और यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वर्ण्य विषय से सबधित कोई शब्द तो उनसे छूटा ही नही है, शब्द-विशेष के सभी प्रयोगो को भी उन्होने सश्रम सकलित किया और सरुचि समझाया है। दूसरी विशेषता है वर्गीकरण की विशदता जिससे समस्त शब्दावली को, एक सीमा तक, व्यवस्थित रूप मे प्रस्तुत करने का उन्होने अध्यवसायपूर्वक प्रयास किया है।

कुछ बाते खटकती भी है जिनका सबध मुख्यत सकलित सामग्री के प्रस्तुतीकरण (Presentation) से है। सर्वप्रमुख बात है कही-कही शीर्षक एव वर्ण्य विषय की अनुकूलता का ध्यान न रखना। विषय-विशेष के सबध मे जो कुछ विदुषी लेखिका को कहना है, वह सब उन्होने शीर्षक की सीमा का ध्यान न कर के, एक ही स्थान पर एकत्र कर दिया है। उदाहरणार्थ 'खाद्य तथा पेय पदार्थ' के अतर्गत एक अध्याय है—'अनाज और तेल'। इसके ११वे परिच्छेद मे (पृष्ठ ८४ पर) 'तिल और तेल' की चर्चा का प्रारभिक वाक्य यह है—"सूरसागर नवम स्कध मे दशरथ-अत्येष्टि-क्रिया प्रसग मे तिलाजलि देने की प्रथा की ओर सकेत किया गया है—'भस्म अत तिल-अजलि दीन्ही, देव विमान चढायौ।' इस प्रकार अजलि मे तिल तथा जल लेने की प्रथा आज भी चल रही है। इसी से तिलाजलि शब्द निकला है जिसका अर्थ छोड देना है।" 'खाद्य तथा पेय पदार्थ' के अतर्गत यह प्रसग न देकर 'अत्येष्टि सस्कार' मे दिया जाता तो अच्छा रहता।

'शब्दावली' के अध्ययन मे पूरे 'पद-बध' या चरण को तभी दिया जाना चाहिए जब वह सदर्भ या अर्थ की पूर्णता के लिए आवश्यक हो और यदि वाक्याश या उपवाक्य ही पूर्ण अर्थ देता हो, तब उसे पूरा उद्धृत करना व्यर्थ स्थान घेरना है। प्रस्तुत प्रबध मे अनेक स्थानो पर यह बात खटकती है। पहले पृष्ठ मे 'बसन' शब्द का प्रयोग सूचित करने के लिए पूरे ही चरण—'इक पहिलै ही आसा लागे, बहुत निदति तै छाए, ते पहिरे कचन-मनि-भूषन नाना **बसन** अनूप'—अथवा पाचवे पृष्ठ मे 'चीर' शब्द के लिए पूरा एक पद-बध—'पहिरे **चीर** सुरग सारी, चुहचुह चूनरि बहुरगनौ, नील लहगा, लाल चोली कसि, केसरि अग सुरगनौ'—उद्धृत करना व्यर्थ ही स्थान घेरने का उपक्रम है। ऐसे अनेक उदाहरण प्रबध मे मिलते है।

इसी प्रकार 'वस्त्राभूषण' खड मे कृष्ण के 'रतिनागर' और 'छैल'-रूप मे वर्णन की, और इसी के अतर्गत 'लकुट' (पृ०३१) की, पृ०२६३ पर 'गायत्री', 'ऋचा' आदि की चर्चा भी समुचित नही प्रतीत होती। लोकगीतो के साथ 'रागो' की चर्चा की (पृ० २८०-२८१) उपयुक्तता भी सदिग्ध ही है।

प्रबध मे सर्वत्र एकरूपता का ध्यान भी रखने की आवश्यकता थी। पृ० ३१ पर एक नया शीर्षक 'तुलनात्मक' डालकर सूर-तुलसी के वस्त्राभूषण-वर्णन की तुलना की गयी है जिसका अन्यत्र निर्वाह नही किया गया है। पृ०५४, ६०, और ७१ पर 'परिशिष्ट'

के अतर्गत वर्ण्यविषय से सबद्ध जैसे पद उद्धृत किये गये है, वैसे अन्यत्र भी दिये जा सकते थे। प्रबध के लगभग प्रत्येक पृष्ठ पर 'पाणिनि', 'हर्षचरित', 'पद्मावत', 'रामचरितमानस', 'आइने अकबरी' आदि से अनेक उदाहरण और विवरण सकलित किये गये है। इनसे प्रबध की रोचकता तो बढी है, परतु सर्वत्र एकरूपता न रहने से कही-कही इनका अभाव खटकता भी है। ये सभी भूले सामान्य ही है और इनको सहज ही दूर किया जा सकता है ।

समग्रत 'सूरसागर शब्दावली', हमारी सम्मति मे, एक उपयोगी प्रबध है जिसको आधार बना कर अन्य कवियो की 'शब्दावलियो' के अध्ययन की निश्चय ही प्रेरणा मिलेगी। विदुषी लेखिका से भी हमे आशा है कि अपने 'अध्ययन' को सज्ञा-शब्दो तक ही सीमित न रख कर प्रबध का 'सूरसागर-शब्दावली ' नाम सार्थक करने को वे प्रवृत्त होगी।

ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य भक्ति

(स० १५५०—स० १६५०)

डॉ० सरनामसिंह शर्मा

स्थूल रूप से इस विषय के तीन प्रमुख अग दृष्टिगोचर होते है—(१) ब्रजभाषा काव्य, (२) वैष्णव भक्ति, तथा (३) माधुर्य भक्ति और उसके सिद्धान्त।

पहला अग ब्रजभाषा काव्य की परिधि की ओर इगित करता है। दूसरा ऐतिहासिक और तात्त्विक विवेचन की अपेक्षा रखता है और तीसरा दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक पर्यवेक्षण चाहता है। 'वैष्णव भक्ति के उद्भव और विकास' पर लेखक ने पर्याप्त श्रम किया है। अपेक्षित से भी अधिक प्रकाश डाल कर लेखक ने अपनी गवेषणा-शक्ति का ही नही, वरन् सतर्कता का भी परिचय दिया है। माधुर्य भक्ति के इतिहास और सिद्धात-विवेचन मे भी लेखक का श्रम, सकलन और समन्वय स्तुत्य है।

यो तो इस कृति से पूर्व अनेक कृतियो मे इस विषय का परिपार्श्व प्रस्तुत किया जा चुका है। सबधित विद्वानो मे डा० दीनदयालु गुप्त, डा० विजयेन्द्रस्ना तक, डा० रत्नकुमारी, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री बलदेव उपाध्याय, गो० ललिताचरण, प० परशुराम चतुर्वेदी और महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के नाम विशेष उल्लेखनीय है, किन्तु इन लेखको की अपनी सीमाए रही है और इन्होने अपने-अपने दृष्टिकोणो से माधुर्य भक्ति को अपने-अपने विषय की परिधि मे परिसीमित किया है। इनका मुख्य विषय माधुर्य भक्ति न होने से वर्ण्य की सीमाए सामान्य सिद्धातो की विवृति मे ही सनिहित हो गयी है किन्तु इस ग्रथ के लेखक डॉ० रूपनारायण ने सिद्धातो के विवेचन मे प्रातिभिक सूक्ष्मता से काम लेते हुए व्यापक तुलनात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। अत लेखक की अनुसधित्सा ब्रजमडलीय सभी सम्प्रदायो की माधुर्य भक्ति के स्वरूप को प्रस्तुत करने मे प्रवृत्त दृष्टिगोचर होती है।

माधुर्य भक्ति के रूप की विवृति की दिशा मे लेखक ने अनेक भक्ति-सम्प्रदायो की मधुर उपासना का मूल भाव एक ही निर्दिष्ट करते हुए भी उसके सम्प्रदायगत अन्तर को बडी सूक्ष्मता से देखा है। इस अन्तर को व्यक्त करने मे लेखक की तुलनात्मक दृष्टि का आधार सस्कृत और ब्रजभाषा के सभी प्रमुख ग्रथ रहे है। माधुर्य भक्ति के स्वरूप को

लेखक डॉ० रूपनारायण
प्रकाशक यगमैन एण्ड कम्पनी, दिल्ली
मूल्य १२ रु० ५० पैसे

स्पष्ट करने के लिए डॉ० रूपनारायण ने केवल साहित्यिक आधार को ही ग्रहण नही किया, प्रत्युत् दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार भी स्वीकार किये है । तीनो आधारो का विवेचन इस कृति का प्रमुख उद्देश्य रहा है । कुछ अज्ञात कवियो के सादर्भिक परिचय से भी इस ग्रथ की विशेषता प्रखर हो गयो है ।

प्रस्तुत ग्रथ बारह अध्यायो मे विभक्त किया गया है । प्रथम अध्याय मे 'वैष्णव धर्म और कृष्ण-भक्ति का आरभ' है । दूसरे मे कृष्ण-भक्ति का विकास और उसके अन्तर्गत माधुर्य भाव का आविर्भाव दिखलाया गया है । तीसरा अध्याय माधुर्य-भक्ति-परक कृष्ण-काव्य की सामाजिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है ओर चौथा अध्याय 'कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय तथा उनके भक्ति-सिद्धातो' की विवृति एव मीमासा करता है । इस प्रकार ये चार अध्याय विषय को पृष्ठभूमि का काम करते है ।

पाचवा अध्याय 'माधुर्य भक्ति' की मीमासा करता हुआ उसके दार्शनिक, साहित्यिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार को उपस्थित करता है । यह अध्याय आलोच्य ग्रथ की रीढ है और सब अध्यायो से बडा है । इसके बाद पाच अध्यायो मे ब्रजमडल के पाच कृष्ण-भक्त-सम्प्रदायो का स्वरूप निरूपित किया गया है । उनमे से पहला निम्बार्क सम्प्रदाय, दूसरा गौडीय सम्प्रदाय, तीसरा राधावल्लभ सम्प्रदाय, चौथा हरिदासी सम्प्रदाय और पाचवा वल्लभ सम्प्रदाय है । इनमे से प्रत्येक मे लेखक ने पहले सम्प्रदाय ओर सिद्धातो की अवगति करा के प्रमुख कवियो के परिचय के साथ उनकी माधुर्य भक्ति के उदाहरण प्रस्तुत किये है । कवि-विवेचन मे सिद्धात-निरूपण की अपेक्षा भक्त-कवियो के लीला-गान का वर्णनात्मक रूप ही प्रमुख रहा है । लीला-गान के पदो से एक ही साथ दो काम लिये गये है और वे है—साहित्यिक और सैद्धातिक मर्म की युगपद् अभिव्यक्ति ।

ग्यारहवा अध्याय 'माधुर्य भक्ति के अन्य कवि' शीर्षक को धारण कर के भी मीरा से ही सबद्ध रहा है । लेखक का मत है कि मीरा का सम्बन्ध प्रत्यक्षत ब्रजमडल के किसी सम्प्रदाय से नही था किन्तु माधुर्य भक्ति के कृष्ण-काव्य को समृद्ध बनाने मे इनका पर्याप्त योगदान है ।

अन्तिम अध्याय मे मधुरोपासक कृष्ण-कवियो का हिन्दी साहित्य को योगदान दिखलाया गया है और इसी अध्याय मे ग्रथ का उपसहार भी सन्निविष्ट कर दिया गया है ।

माधुर्य भक्ति के प्रमुख कवियो मे लेखक ने केवल उन्ही की चर्चा की है जिनकी रचनाओ मे या तो मधुर भाव की लीलाओ का ही वर्णन है अथवा उनका प्राधान्य है । इसी से वल्लभ-सम्प्रदाय के सूरदास, परमानन्ददास आदि कवियो की माधुर्य भक्ति पर विचार नही किया गया है, यद्यपि उनकी रचनाओ मे भी उसका अभाव नही है । विषय-शब्दावली की परिसीमाओ मे आबद्ध होकर लेखक ने उक्त कवियो को मूल प्रबन्ध मे न देकर परिशिष्ट मे दिया है ।

विपुल सामग्री से सम्पन्न यह कृति बडी उपयोगी है । इसकी शैली बडी रोचक तथा भाषा समृद्ध है । विषय-प्रतिपादन स्पष्ट और प्रतिपादन-पद्धति सक्रम है । यह कृति

साहित्यिक दृष्टि से ही नही वरन् धार्मिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी मूल्यवान् है। इसमे मूल विषय का स्पष्टीकरण बहुत ही स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त 'ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य' का पृथक् से कोई विवेचन नही किया गया। 'ब्रज-भाषा' शब्द से व्यक्त होने वाले भाव को 'ब्रजमडल' से व्यक्त किया गया है और यह विषय-शब्दावली से व्यक्त होने वाले अर्थ का व्यतिक्रम है। 'ब्रजमडल' शब्द 'ब्रजभाषा' का पर्याय है, इस प्रकार का स्पष्टीकरण ग्रथ मे कही नही मिलता।

मनोविज्ञान से सम्बन्धित पाश्चात्य विद्वानो के सिद्धातो को अति प्रामुख्य देने से भी एकबारगी विषयान्तर का आभास-सा मिलने लगता है।

फिर भी मै लेखक के अध्यवसायपूर्ण सामग्री-सकलन एव स्पष्ट तथा सतर्क निष्कर्षों के महत्त्व की प्रशसा किये बिना नही रह सकता। यह कृति ज्ञान-विकास की परम्परा की एक बहुत उपयोगी कडी है।

तुलसीदास—व्यक्तित्व : दर्शन : साहित्य

श्री कैलासचन्द्र मिश्र

प्रस्तुत ग्रथ आगरा विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए लिखित तथा स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। यह ग्रथ पन्द्रह अध्यायो मे विभक्त है।

प्रथम अध्याय मे विल्सन, ग्राउज, सर जार्ज आर्थर ग्रियर्सन, स्मिथ मैक्फी और कीने आदि योरोपीय विद्वानो द्वारा किए गए तुलसी-विषयक अनुसन्धानो का विस्तृत तथा परीक्षात्मक परिचय दिया गया है। विदेशी विद्वानो के मतो का सिंहावलोकन करते हुए लेखक ने कहा है कि "योरोपीय लेखको ने यह अच्छा किया कि गोस्वामी जी के जीवन से सम्बद्ध जनश्रुतियो तथा अनुमानो को लेखबद्ध कर लिया। यद्यपि परस्पर-विरोधी अनुमान ठीक नही है तथापि कुछ जनश्रुतिया अवश्य ठीक है। विदेशी लेखक गोस्वामी जी की जन्मभूमि के विषय मे एक मत नही है।" इनमे कुछ विद्वान् गोस्वामी जी की जन्म-भूमि हाजीपुर बतलाते है और कुछ तारी तथा राजापुर की ओर सकेत करते है। गोस्वामी जी की उपजाति के विषय मे भी इनमे मतभेद है। ग्रियर्सन उन्हे पराशर गोत्रिय सरवरिया दुबे मानते है। विल्सन उन्हे सरवरिया ब्राह्मण तथा ग्राउज उन्हे कान्यकुब्ज ब्राह्मण बतलाते है। गोस्वामी जी के गुरु के विषय मे भी इसी प्रकार विभिन्न मत है। विन्सन के अनुसार जगन्नाथ दास जी तुलसी के गुरु थे जबकि ग्रियर्सन उनके गुरु का नाम नरहरि बतलाते हैं।

इसी अध्याय मे भारतीयो की गवेषणा की चर्चा भी की गई है। मिश्रबन्धु, डॉ० श्यामसुन्दरदास एव प० रामचन्द्र शुक्ल आदि भारतीय विद्वानो के मन्तव्यो का उल्लेख करके लेखक ने सोरो से उपलब्ध महत्त्वपूर्ण सामग्री, जनश्रुतियो तथा सरकारी गज़टियरो के आधार पर गोस्वामी जी के जन्मस्थान, जाति, विद्यागुरु, विवाह, वैराग्य और यात्रा आदि का प्रमाणपुष्ट निर्णय किया है। एटा जिले के अन्तर्गत और गगा के उपकण्ठ मे अवस्थित शूकर क्षेत्र सोरो को ही लेखक ने महाकवि का जन्मस्थान और विद्या-स्थान प्रमाणित किया है।

द्वितीय अध्याय मे तुलसीचरित, मूल गोसाई चरित्र, घटरामायण, गोसाई चरित, गौतम चन्द्रिका तथा तुलसी प्रकाश नामक ग्रथो की परीक्षा की गई है और इन्हे भ्रात तथा इतिहास-व्यतिक्रमो से पूर्ण सिद्ध किया गया है।

लेखक डा० रामदत्त भारद्वाज
प्रकाशक भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा—दिल्ली
मूल्य १८)

तृतीय अध्याय मे सूकर-क्षेत्र कहा है ? इस प्रश्न पर विचार किया गया है। कुछ लोगो के अनुसार 'सूकर-खेत' एटा जिले का सोरो है, दूसरे लोग सरयू-घाघरा के सगम पर स्थित पसका नामक ग्राम को सूकर-क्षेत्र बतलाते है। पुराण, विष्णुस्वामी-चरितामृत, गर्गसहिता, मानस की प्राचीन टीकाओ, तथा इम्पीरियल गजटियर, एटा डिस्ट्रिक्ट गजटियर आदि के उल्लेखो द्वारा सूकर क्षेत्र (सोरो) की भौगोलिक स्थिति का प्रामाणिक तथा युक्तिपुष्ट निर्णय किया गया है। गोस्वामी जी ने बाल्यकाल मे अचेतावस्था मे 'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सु सूकर खेत', कह कर जिस सूकर-खेत मे गुरुमुख से रामकथा के श्रवण करने का उल्लेख किया है वह स्थल एटा जिले मे गगा के उपकण्ठ मे अवस्थित सूकर-क्षेत्र है जो आज कल सोरो नाम से अभिज्ञात है। तुलसी-पूर्व, तुलसी-कालीन एव तुलसी-पश्चात् की उपलब्ध विविध सामग्री के आधार पर इस तथ्य के पक्ष मे ऐसे ठोस एव पुष्ट प्रमाण दिए गये है कि लेखक की इस स्थापना को स्वीकार ही करना पडता है।

चतुर्थ अध्याय मे राजापुर, काशी, अयोध्या, तारी आदि उन स्थानो का, जिन्हे अनेक विद्वान् गोस्वामी जी की जन्मस्थली मानते है निराकरण करके सूकर क्षेत्र अन्तर्गत, गगा के उपकण्ठ मे निविष्ट रामपुर नामक ग्राम को महाकवि की जन्मभूमि प्रमाणित किया गया है। नन्ददास के पुत्र कवि कृष्णदास, रत्नावली तथा मुरलीधर चतुर्वेदी की उक्तिया और गोस्वामी जी के पदो की समष्टि ऐसी साक्षिया है जिनसे रामपुर ग्राम ही उनकी जन्मस्थली होने का अक्षुण्ण गौरव प्राप्त कर सकता है।

पचम अध्याय मे गोस्वामी जी की जन्मतिथि तथा निधन-तिथि पर विचार हुआ है। जन्मपत्री के आधार पर कवि के जीवन की कुछ घटनाओ का जो सामजस्य दिखलाया गया है वह वस्तुत चमत्कारपूर्ण और रोचक है।

षष्ठ अध्याय मे गोस्वामी जी की आकृति, प्रकृति, व्यक्तित्व, शारीरिक सौष्ठव तथा उनकी उपलब्ध प्रतिमाओ और चित्रो पर विचार किया गया है।

सप्तम अध्याय मे उस महत्त्वपूर्ण सामग्री का सिहावलोकन है जो 'सोरो' मे अथवा उसके निकटवर्ती स्थानो से उपलब्ध और सग्रहीत हुई है। यह सामग्री गोस्वामी तुलसीदास, साध्वी रत्नावली और नन्ददास जी के जन्मस्थान, वश, और रचनाओ पर प्रकाश डालती है। सोरो-सामग्री के भी दो रूप है (क) गृह्य, और (ख) बाह्य। गृह्य-सामग्री प्रचुर और षड्विध है। भवन, वशज, जनश्रुति, भाषा-शैली, गोस्वामी जी के वचन और अन्य कवियो की पाण्डुलिपिया इस सम्बन्ध मे प्रबल साक्ष्य उपस्थित करती है। बाह्य-सामग्री के अन्तर्गत विकीर्ण जनश्रुतिया, पाश्चात्य विद्वानो की गवेषणाए, वैष्णव वार्त्ताए तथा सोरो की गृह्य-सामग्री के पोषक लेख आते हे। यह सामग्री ही वह महत्त्वपूर्ण और ठोस आधार है जिस पर इस शोध-प्रबन्ध का भव्य-भवन विराजमान है। सोरो-सामग्री का महत्त्व, निषेधात्मक प्रामाण्य और भावात्मक प्रामाण्य के द्वारा और भी स्पष्ट कर दिया गया है।

अष्टम अध्याय मे तुलसी की सती साध्वी पत्नी रत्नावली का विस्तृत परिचय दिया गया है। रत्नावली का पितृनाम, जन्ममूमि, पति का जन्म-स्थान और देश, उपालम्भ और खेद, पश्चात्ताप, वियोग की तीव्रता, और वियोग का जीवन आदि प्रचुर तथ्य पाठक के हृदय मे इस गरिमामयी पुण्य नारी का, त्याग और प्रेम की महिमा से मण्डित करुण-चित्र सहानुभूति के विषण्ण आलोक से उद्‌भासित होकर सदा के लिए अकित हो जाता है।

रत्नावली की रचनाए, उनके उपदेश, आदर्श और दार्शनिक विचारो से परिचित होकर पाठक इस पावन नारी के अन्त सौन्दर्य और काव्य-प्रतिभा से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता।

नवम अध्याय मे गोस्वामी जी की विस्तृत जीवन-गाथा वर्णित है। महाकवि का जन्मस्थान, जन्मस्थान-परिचय, जाति, आस्पद, नाम, मातृनाम, गुरुदेव, विद्यास्थान, सम्प्रदाय, विवाह, विरक्ति, चित्रकूट, प्रयाग, सीतामढी, काशी आदि स्थानो मे निवास, तथा यात्रा आदि विषय यहा समाविष्ट किए गए है।

दशम अध्याय मे कवि के ग्रथो का रचना-काल, तथा हस्तलेख एव एकादश अध्याय मे गोस्वामी जी की साहित्यिकता काव्य-रूप, भाषा, रचना-शैलीआ दि विषयो का विस्तृत विवेचन किया गया है। लेखक के मत से गोस्वामी जी की भाषा प्रधानत व्रजी एव व्रजावधी हैं। चूंकि उन के रामचरितमानस मे अवधी के साथ-साथ व्रज के अनेक पदो का समावेश हुआ है अत लेखक की दृष्टि मे इसे व्रजावधी कहना अधिक उपयुक्त है। यह मत अधिक युक्ति-सगत नही है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के अनुसार 'मानस' की भाषा को अवधी या साहित्यिक अवधी कहना ही अधिक सगत है। कुछ पदो के समावेश से अवधी का प्राधान्य तिरोहित नही होता।

द्वादश अध्याय मे गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार पर प्रकाश डाला गया है। सम्प्रदाय की दृष्टि से कवि के विषय मे लेखक का कथन है कि "गोस्वामी जी को अब तक रामानन्दी माना जाता रहा है, किन्तु सतर्क विवेचन पर वे रामानन्द के अनुयायी नही ठहरते। वे स्मार्त वैष्णव थे। यद्यपि, वास्तव मे, वे किसी आचार्य के अनुगामी नही थे, तथापि उनका स्थान श्री रामानुजाचार्य से सुदूर किन्तु जगद्‌गुरु श्री शकराचार्य एव महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के निकट-मध्य है।" लेखक के इस कथन से हिन्दी के अनेक विद्वान् सहमत नही हो सकते। अपने कथन की पुष्टि के लिए शाकर अद्वैत और वल्लभ के शुद्धाद्वैत सिद्धातो का उल्लेख करके गोस्वामी जी के ग्रथो से उनका समन्वय दिखलाने के लिए जिस विस्तार और सूक्ष्म दार्शनिक विवेचन की आवश्यकता है उसकी उपेक्षा कर दी गई है। जो थोडी सी युक्तिया एव प्रमाण अपने इस नूतन किन्तु अपरिपुष्ट मत की स्थापना के लिए लेखक ने प्रस्तुत किए हैं वे भी अकाट्य और पूर्णत निश्चायक नही कहे जा सकते। शाकर अद्वैत और वल्लभ का शुद्धाद्वैत, अनेक रूपो मे, परस्पर-विरोधी दर्शन हैं। अत गोस्वामी जी को इन दोनो के 'निकट-मध्य' बतलाने से लेखक का क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नही होता। नाना-पुराण-निगमागम-सम्मत जिस सिद्धात की ओर

गोस्वामी जी ने सकेत किया है उसका स्पष्टतर निरूपण अब भी अपेक्षित रह गया है। 'श्रुति-सम्मत भक्ति-पथ' कह कर विशेषण के द्वारा किस भक्ति-पथ का ग्रहण और किस भक्ति-पथ का परित्याग करने का सकेत कवि ने किया है इसको स्पष्ट नही किया गया है। गोस्वामी जी के ग्रथो मे, विशेष कर के, 'मानस' और 'विनयपत्रिका' मे उपनिबद्ध विचार-धारा के सम्यक् और सूक्ष्म निरूपण की आवश्यकता अभी शेष रह गई है। इन ग्रथो के उपक्रम, अभ्यास ओर उपसहार का मनोयोगपूर्वक अध्ययन और मनन करने से, हमारा दृढ विश्वास है कि प्रत्येक मनीषी स्पष्ट रूप से उस अन्त प्रवाहिणी दार्शनिक ज्ञान-ज्योति का दर्शन कर सकता है जिसके आलोक मे गोस्वामी जी की ज्ञान, कर्म, भक्ति, अवतारवाद, माया, जीव, जगत्, ईश्वर, ब्रह्म आदि विषयक मान्यताए दार्शनिक सुदृढ भित्ति पर आश्रित और समन्वय की परम-तृप्तिकर सुषमा से उद्भासित हो उठेगी।

इस शोध-प्रबन्ध मे गोस्वामी जी के राजनीतिक विचार, शास्त्रमूलक सदाचार, राजा-प्रजा आदि के कर्त्तव्य और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जटिल मनोवृत्तियो के सुन्दर और सूक्ष्म विश्लेषण पर भी सफल प्रकाश डाला गया है।

हिन्दी मे गोस्वामी जी पर विपुल साहित्य उपलब्ध है। फिर भी गोस्वामी जी के गरिमा-मण्डित ग्रथो का अध्ययन करने वाले विश्वविद्यालय के प्रत्येक छात्र और साहित्य-रसिक विद्वान् के लिए प्रमाण-पुष्ट और प्रमेयबहुल इस उत्कृष्ट शोध-प्रबन्ध का परिशीलन अपरिहार्य है। सोरो-सामग्री की ओर हिन्दी-जगत् का ध्यान आकृष्ट करके लेखक ने जहा एक ओर गोस्वामी जी विषयक शोध-धारा की गति का अवरोध दूर किया है वहा दूसरी ओर शोध-कार्य मे सलग्न कर्मठ मनीषियो के लिए एक नई दिशा की ओर सकेत किया है। तुलसी पर लिखित विशाल साहित्य और शोध-ग्रथो मे इस शोध-प्रबन्ध का स्थान नि सन्देह अत्यन्त ऊचा है। ग्रन्थ के अन्त मे अत्यन्त उपादेय और दुर्लभ सामग्री से युक्त परिशिष्ट तथा अध्ययन के लिए परम सहायक ग्रथो की तालिका का समावेश कर देने से इसकी महत्ता और भी बढ गई है। ग्रन्थ सर्वथा सग्रहणीय है। हिन्दी वाङ्मय मे मौलिक तथ्यभूयिष्ठ और स्तुत्य इस शोध-प्रबन्ध का हम सहर्ष अभिनन्दन करते है।

रामचरितमानस का काव्यशास्त्रीय परिशीलन

डॉ० रामसागर त्रिपाठी

कला जीवन की आलोचना है और आलोचना उस आलोचना की आलोचना। कला कितनी ही प्रतिबिम्बात्मक हो अपने साथ कलाकार के जीवन-विषयक दृष्टिकोण को अनिवार्य रूप से लिये रहती है। साथ ही कलाकार अभिव्यक्ति के साधनो की भी आलोचना करता है और अपने व्यापार के लिये सर्वोत्तम उपकरण जुटाने की चेष्टा मे लिप्त रहता है। इस दिशा मे वह अपने समय तक परिनिष्ठित काव्यसिद्धातो से सर्वथा अछूता नही रह सकता और जाने-अनजाने, इच्छा-अनिच्छा से वह अपनी कलाकृति मे उन सिद्धातो को प्रश्रय देने के लिये बाध्य हो जाता है। "वस्तुत कोई भी उच्च कोटि का कवि या स्रष्टा आ.ख मूद कर कला-निर्माण के कार्य मे अग्रसर नही होता, यह सत्य है कि उसका प्रमुख अभिध्येय तो कलात्मक सविधान ही है किन्तु वह उसके शास्त्रीय सविधान की ओर भी दृष्टि डालता चलता है। कलाकार अपने कलात्मक सविधान के साथ ही कला-सम्बन्धी घटको एव उपादानो को भी सम्यक् रूप से परखने का प्रयत्न करता है। जिस सीमा तक वह अपनी कला के इन घटको एव सयोजक उपादानो को परखने और उनके सम्बन्ध मे अपना निश्चित मत स्थिर कर सकने की सामर्थ्य प्रदर्शित कर सकता है कहना न होगा कि वह कलाकार उस सीमा तक अपनी कला का विशुद्ध समीक्षक एव शास्त्रीय भी होता है।" गोस्वामी तुलसीदास जी जैसे प्रबुद्ध कलाकार से इस बात की और अधिक सम्भावना की जा सकती है। ये उन कतिपय महाकवियो मे है जो कला-सम्बन्धी शास्त्रीय मर्यादाओ से उपकृत ही नही होते अपितु अपने मन्तव्य की दिशाओ का भी निर्वचन करते चलते है। कहना न होगा कि ऐसे कलाकारो की कलाकृतिया शास्त्रीय मर्यादाओ की उपजीविनी होती है और उनके अन्तस्तल को ठीक रूप मे हृदय-ङ्म करने के लिये उन मर्यादाओ का परिशीलन तथा उनके प्रतिफलन की विचारणा अनिवार्य हो जाती है। इस महत्वपूर्ण तथा दुष्कर कार्य को मूर्तरूप देकर डॉ० राजकुमार पाण्डेय ने साहित्य-जगत् का जो उपकार किया है उसके लिये वे निस्सन्देह बधाई के पात्र है। यह सुयोग ही है कि उन्हे आचार्यप्रवर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के निर्देशन का सौभाग्य प्राप्त हो गया।

प्रस्तुत ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच०डी० की उपाधि के निमित्त

लेखक डॉ० राजकुमार पाण्डेय
प्रकाशक अनुसन्धान प्रकाशन, कानपुर
मूल्य १२ रुपए

स्वीकृत किया गया शोध-प्रबन्ध है। शोध-प्रबन्ध मे अनुसन्धाता को कतिपय अनुबन्धो और उपबन्धो का भी समावेश करना पडता है, फलत वह मुख्य विषय की पृष्ठभूमि के रूप मे बहुत कुछ दे देने के लिये बाध्य हो जाता है। ग्रन्थशय्या परिपूरण की प्रवृत्ति भी विषय-निष्ठता की प्रतिबन्धक होती है। इस प्रकार प्रस्तुत रचना की वस्तु दो स्थूल रूपो मे विभाजित की जा सकती है—मुख्य-वस्तु और अमुख्य-वस्तु। मुख्य-वस्तु के तीन उपविभाग किये जा सकते है—(१) कवि का काव्यशास्त्र-विषयक दृष्टिकोण और उसकी मानस मे अभिव्यक्ति, (२) पूर्ण शास्त्रीय परम्परा पर आधारित मानस-मन्थन, और (३) अर्वशास्त्रीय विचारधारा। अमुख्य-वस्तु को भी दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—पृष्ठभूमि निमित्तक वस्तु और ग्रन्थशय्या परिपूरण निमित्तक वस्तु।

प्रबन्ध के तृतीय परिच्छेद मे तुलसी के अभिमत का विश्लेषण किया गया है। इस प्रसग मे काव्य के प्रयोजन, नैसर्गिक प्रतिभा, भाषा का आदर्श, प्रबन्ध परिकल्पना, चरित्रतत्त्व की प्रतिष्ठापना इत्यादि पर प्रकाश डाला गया है। इनमे अनेक विषय तो ऐसे है कि जिनका काव्यशास्त्र से बादरायण सम्बन्ध ही है, प्रयोजन इत्यादि का प्रत्येक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ मे उल्लेख किया गया है, किन्तु उसका उपादान अनुबन्धचतुष्टय के रूप मे प्रासगिक ही कहा जा सकता है, काव्यशास्त्र का वह मुख्य प्रतिपाद्य नही है। काव्यहेतुओ पर विचार भी अपेक्षित था और प्रतिभा के विषय मे लेखक ने कुछ कहा भी है। प्रतिभा के साथ ही श्रुत और अभ्यास भी आते है। कतिपय आचार्यो ने इस सूची का कुछ अधिक विस्तार किया है। अत हेतुओ मे उन पर विचार भी अपेक्षित है। साथ ही अधिकारी का भी प्रश्न है। नारी के वस्त्र उसके बाह्यावरण मात्र है, इनसे काव्य के बाह्यावरण की उपयोगिता तो व्यक्त होती है, 'सोह न वसन विना वर नारी' से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि काव्य का जो चित्र तुलसी की आखो मे बसा हुआ था वह अपनी सौन्दर्य-चेतना मे नारी के चिरन्तन शील गुण और आदर्श आदि आन्तरिक तत्त्वो से ही प्रभावित था, उसके आभूषणो या अलकारो से कम। इस प्रकार हमारा यह कथन भी असगत न होगा कि गोस्वामी जी एकान्तत अलकारवादी या चमत्कारवादी नही थे। यह निष्कर्ष भी कुछ विचित्र सा ही है।

तो क्या इतना ही काव्यशास्त्र है? भरत से लेकर पण्डितराज तक प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र का सुदीर्घ इतिहास है जिसमे काव्य के बाह्याभ्यन्तर की मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक परीक्षा कर अनेक सम्प्रदायो और मतवादो का पूर्ण पल्लवन हुआ है। प्रश्न यह है कि क्या तुलसी उन समस्त विचारधाराओ से अपरिचित थे या उनका अपना कोई परिनिष्ठित दृष्टिकोण नही था? दोनो प्रश्नो का नकारात्मक उत्तर ही होगा। तुलसी जैसा प्रबुद्ध कलाकार उन चिन्ताधाराओ से न असम्पृक्त रह सकता था और न तुलसी ने उनसे बचने की चेष्टा ही की है। उन्होने प्रस्तावना-भाग मे और अन्यत्र भी अनेकश अपनी काव्यशास्त्रीय चेतना का परिचय दिया है। मानस-रूपक मे तो यह तत्त्व पराकाष्ठा पर पहुच गया है जहा कवि ने अपना दृष्टिकोण उन्मुक्त रूप मे अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण, जाति को सचेतन की उपमा क्या कुछ अभिप्राय नही रखती?

'नव रस, जप, तप, योग, विराग' को जलचर कहने का क्या अभिप्राय है ? उपमा को बीचि-विलास 'अरथ अनूप स्वभाव' (स्वभावोक्ति) और 'सुभासा' को 'मकरन्द सुवास' की उपमा कुछ अर्थ रखती है। यदि इनकी अभिव्यजनाओ पर विश्लेषणात्मक विचार किया जाय तो सरलतापूर्वक तुलसी को काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे भी समन्वयवादी सिद्ध किया जा सकता है। कम से कम काव्यशास्त्रीय प्रगाढ पाण्डित्य तो सिद्ध ही होता है और इसमे भी सन्देह नही रह जाता कि तुलसी इन सम्प्रदायो और परम्पराओ के प्रति सर्वथा जागरूक थे। 'हमे यह कहने मे कोई आपत्ति नही रह जाती कि इस दिशा मे उन्होने सब से अधिक महत्त्व प्रदान किया है व्यापक सौन्दर्यानुभूति के तत्त्व को।' यह निष्कर्ष अनायास ही पाश्चात्य काव्यशास्त्र की ओर ध्यान आकर्षित कर देता है। सहृदयता की सार्वभौम सत्ता स्वीकार करते हुए यदि उदात्तता इत्यादि पाश्चात्य दृष्टिकोण से भी तुलसी का मूल्याकन किया गया होता तो सम्भवत अनुचित न होता।

पूर्ण शास्त्रीय परम्परा पर आधारित मानस-मन्थन दूसरा विचारणीय उपविभाग है। वस्तुत शोध का प्रवृत्ति निमित्त यही है। इस दिशा मे लेखक का आधार-फलक बडा ही विशाल और व्यापक है। लेखक ने भावयोजना, रस-निष्पत्ति, कलापक्ष, शब्दशक्तियो का सौष्ठव, रीति-वृत्ति-वैशिष्ट्य, गुण-विवेचन, अलकार-नियोजना इत्यादि अनेक तत्त्वो की दृष्टि से मानस का अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इनमे प्रत्येक तत्त्व स्वतत्र रूप से अनुसन्धेय हो सकता है। अत शोध-प्रबन्ध का महत्त्व उसके विस्तार मे ही देखा जाना चाहिए, गहराई मे नही। यदि पाठक किसी एक दृष्टि मे रामचरितमानस के पूर्ण मूल्याकन की आशा से विरहित होकर तुलसी के काव्यशास्त्रीय दृष्टि-विस्तार के मन्तव्य से इस रचना मे प्रवृत्त होगे तो सम्भवत उन्हे निराश नही होना पडेगा। इसमे सन्देह नही कि औचित्य-सम्प्रदाय को छोड कर लेखक ने रामचरितमानस के कलेवर मे प्राय समी सम्प्रदायो के दर्शन करने का प्रयास किया है। मैने 'प्राय' शब्द का सप्रयोजन ही प्रयोग किया है क्योकि वक्रोक्ति-सम्प्रदाय प्रश्न चिह्न से चिह्नित है। लेखक का ध्यान कुन्तक की वक्रोक्ति की ओर नही है।

सप्तम परिच्छेद को स्थायिभाव प्रकरण के अभिधानान्तर से अभिहित किया है। किन्तु इसका सम्बन्ध शास्त्रीय स्थायिभाव से नही है। लेखक ने इस प्रकरण मे शील सविधान पर विचार किया है जो चरित्र-चित्रण के निकट अधिक आता है। नवम परिच्छेद रसनिरूपण-परक है जिसका प्रारम्भ मानस मे भाव-सस्थापन की पद्धति से हुआ है। इसमे भी सञ्चारीभावो का विवेचन ही नही है अपितु भाव-विकास के दो उदाहरण देकर लेखक ने सन्तोष किया है। वैसे तो भाव शब्द द्रव्य अर्थ तक मे प्रयुक्त होता है किन्तु इस शब्द के शास्त्रीयतासवलित हो जाने के कारण इसके आलम्बन और उद्दीपन ये दो भेद कुछ अधिक सगत नही कहे जा सकते। लेखक ने सभी रसो का एक-आध उदाहरण दिया है। किन्तु रामचरितमानस का अगीरस तो भक्ति ही है। उसको काव्यशास्त्र से सर्वथा असम्बद्ध केवल रामायण-पथियो की वस्तु कह कर उपेक्षित करना कहा तक ठीक है ? सवेदना एक सामान्य तत्त्व है जो प्रत्येक रस मे सन्निहित रहती है। भले ही

करुणा मे उसका तारतम्य-विस्तार हो । किन्तु करुणा का पर्याय सवेदना हो यह कुछ विचित्र सी बात है। सभी रसो की लोक-सामान्य भूमिका होती ही है। शृगार रस इस दिशा मे सम्भवत सब से आगे है। ऐसी दशा मे करुणा मे साधारण से साधारण पात्र के आलम्बन होने की क्षमता उस रस के सर्वोच्च होने का कारण नही हो सकती ।

ध्वनि-सिद्धात व्यापकता की दृष्टि से सर्वातिशायी है। इसमे बहिरगतम अलकारो से लेकर अन्तस्तम रस तक सभी तत्त्व समाहित हो जाते है। लेखक ने ध्वनि-सिद्धात के अन्तर्गत काकु ध्वनि पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रक्खा है । असल्लक्ष्यक्रमव्यग्यध्वनि रसध्वनि का पर्याय है। इस तथ्य पर ध्यान न देकर उसके अन्तर्गत नारदमोह तथा जटायु-मरण के अवसर पर राम के वचनो का उदाहरण देकर सन्तोष किया गया है। इसके लिये हम लेखक को दोषी नही ठहरा सकते, जैसा कि बतलाया जा चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ का महत्व उसके विस्तार मे है गम्भीरता तथा पूर्ण-विवेचन की ओर लेखक का ध्यान नही है। केवल चार या पाच अलकारो के उदाहरण देकर सतोष कर लेना इसका सब से बडा प्रमाण है। यही बात रीति-वृत्ति विवेचन के विषय मे भी कही जा सकती है।

मुख्य विषय के अन्तर्गत ही ऐसे भी प्रकरण आते है जिन्हे हम पूर्ण शास्त्रीय नही कह सकते। उनको अर्धशास्त्रीय के उपविभाग के रूप मे ग्रहीत किया जा सकता है। पूर्ण शास्त्रीय प्रकरणो की अपेक्षा इस प्रकार के विषयो का विस्तार भी अधिक है और उनमे लेखक का अभिनिवेश भी अधिक है। भारतीय काव्यशास्त्र मे चरित्र-चित्रण का महत्त्व अवश्य है। 'वस्तु नेता रसस्तेषा भेदक' कह कर मुनि ने वस्तु और रस के साथ चरित्र-चित्रण की उपयोगिता बतलाई है। रस के विभाव-प्रकरण मे नायक-नायिका के गुणो का विवेचन भी किया गया है और वर्गीकरण भी। आचार्य शुक्ल के अनुसार भाव का सातत्य शीलदशा पर आरूढ होता ही है। प्रबन्धकाव्य होने के नाते रामचरितमानस मे शील-विधान और चरित्र-चित्रण का समावेश स्वाभाविक ही है। किन्तु शास्त्रीय अध्ययन मे इसका विचार शास्त्रीय मर्यादाओ के साथ ही किया जाना चाहिए। इसी प्रकार प्रकृति का उपयोग काव्य मे अनिवार्य है। आलम्बन-उद्दीपनादि रूपो मे प्रकृति का उपयोग चिरन्तन काल से किया जा रहा है। प्रकृति-चित्रण पर पृथक् परिच्छेद और विस्तृत विवेचन काव्यशास्त्रीय व्यवस्थाओ मे किसी सीमा तक ही आबद्ध किया जा सकता है। भाषा पर व्यजक रूप मे विचार उसे शास्त्रीयता प्रदान कर सकता हे। छुटपुट विचारो को काव्यशास्त्रीय मर्यादाओ मे सन्निविष्ट करना कुछ दुष्कर है। छन्द-योजना की भी ऐसी ही कथा है। काव्य विधायको के विवेचन मे महाकाव्यत्व पर विचार प्रासगिक ही कहा जा सकता है। काव्यशास्त्रीय ग्रथो मे काव्य-भेदो के प्रसग मे महाकाव्य की विशेषताओ पर विचार किया गया है। प्रबन्ध-परिकल्पना की भी यही दशा है। किन्तु काव्य-भेदो की अन्य भी दिशाएँ है। इन सब विवेचनो मे लेखक को सफलता भी मिली है और मौलिकता के भी दर्शन होते हे। फिर भी काव्यशास्त्र के प्रमुख विषय तो अनुभूति और अभिव्यक्ति ही है जिनके प्रकारो का विश्लेषण करने मे काव्यशास्त्र मे सम्प्रदायवाद की प्रतिष्ठा हुई है, अन्य विषयो का उपादान प्रासगिक ही है। अत

लेखक की सफलता का अभिनन्दन करते हुए भी हम इन प्रसगो को अर्धशास्त्रीय ही कहने के लिये बाध्य है ।

अब पृष्ठभूमि का प्रश्न सम्मुख आता है । सर्वप्रथम तुलसी-विषयक साहित्य और परम्परा पर प्रकाश डाला गया है । पुस्तक का यह अश सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और लेखक की शोध-दृष्टि के साथ उसके परिचय विस्तार का भी द्योतक है । मानस के पाश्चात्य तथा भारतीय अध्येताओ का तो विस्तृत परिचय दिया ही गया है , साथ ही कथावाचको की परम्परा पर भी यथेष्ट विचार किया गया है । इससे पाठक तुलसी-विषयक साहित्य से पूरा परिचय प्राप्त कर सकता है । इसी प्रकार चतुर्थ परिच्छेद मे गोस्वामी जी की सामाजिक, आध्यात्मिक एव धार्मिक साधना के स्वरूप और मानस पर उसके प्रभाव का विश्लेषणात्मक परिचय दिया गया है । काव्यशास्त्रीय अध्ययन मे आप उसकी उपयोगिता पर प्रश्नसूचक चिन्ह भी लगा सकते है । किन्तु तुलसी के सर्वांगीण अध्ययन मे उनकी सास्कृतिक चेतना के अध्ययन की उपयोगिता पर किसे सन्देह हो सकता है । हा, यह कहा जा सकता है कि यदि काव्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि पर भी विचार कर लिया गया होता तो अधिक अच्छा होता । सामाजिक पृष्ठभूमि इत्यादि के साथ साहित्यिक पृष्ठभूमि की उपेक्षा कुछ खटकती अवश्य है ।

ग्रन्थशय्या-निमित्तक अशो के विषय मे भी दो शब्द कह देना अप्रासगिक न होगा । लेखक ने तुलसी की पुराने काव्यो के प्रति उपजीविता के लिये एक पृथक् परिच्छेद रक्खा है । एक दूसरे परिच्छेद मे महाकाव्य की विकास परम्परा दिखलाई गई है जिसमे रामायण, महाभारत, रघुवश, बुद्धचरित्र इत्यादि सस्कृत-महाकाव्यो, पृथ्वीराज रासो, पद्मावत इत्यादि हिन्दी के महाकाव्यो और अपभ्र श के महाकाव्यो पर विस्तृत विचार किया गया है । इसी प्रकार छन्द-नियोजना मे लोक-जीवन का उपयोग, मानस की पौराणिकता, जैन-महाकाव्यो का प्रभाव इत्यादि इसी श्रेणी मे आते है । भक्ति-सम्बन्धी एव दार्शनिक विचारणा को लेखक ने अपने क्षेत्र से बाह्य वस्तु समझकर उपेक्षा की है । प्रारम्भ से ही यह तथ्य सामने आ जाता है कि आज तक तुलसी पर भक्ति और दर्शन की दृष्टि से ही विचार किया गया है जो कि लेखक की समझ मे तुलसी के प्रति एक अन्याय है । अत लेखक उसके प्रतिरोध मे काव्यशास्त्रीय और सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचना मे प्रवृत्त हुआ है ।

उपर्युक्त सक्षिप्त विषय-वस्तु विश्लेषण से यह निष्कर्ष अनायास ही निकाला जा सकता है कि लेखक ने तुलसी की काव्यशास्त्रीय विचारणा के लिये दिशा-निर्देशन कर साहित्य-जगत् का महान् उपकार किया है । वैसे उसकी कुछ अपनी सीमाए है जिनसे अधिक न हम उससे आशा ही कर सकते है और न उसके पूरा करने के लिये लेखक को दोष ही दे सकते है । तुलसी के भावी अनुसन्धाता निस्सन्देह इस रचना से प्रेरणा भी प्राप्त करेगे और इससे उपकृत भी होगे, ऐसा मेरा विश्वास है ।

तुलसी की काव्य-कला

डॉ० मनमोहन गौतम

प्रस्तुत ग्रन्थ लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच०डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। तुलसी-साहित्य के विविध पक्षो पर श्रेष्ठ समीक्षा-ग्रथ और शोध-प्रबन्ध पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है। काव्य-कला पर भी अनेक ग्रन्थो मे अच्छे प्रकरण लिखे गये थे फिर भी काव्यकला-मर्मज्ञ और सिद्ध कवीश्वर गो० तुलसीदास जी की काव्य-कला को ही प्रमुख विषय बना कर कोई ग्रन्थ प्रकाश मे न आया था। लेखिका ने ठीक ही कहा है कि "गोस्वामी जी की कला के प्रत्येक अग पर पूर्ण रूप से व्यवस्थित और वैज्ञानिक विवेचना प्रस्तुत नही की गई थी।" इस दृष्टि से प्रस्तुत शोध-ग्रथ समीक्षा की दिशा मे अपेक्षित एक स्तुत्य प्रयास माना जाना चाहिए।

प्रबन्ध मे बारह अध्याय है। पहले अध्याय मे काव्य और कला शीर्षक से काव्य और कला के सम्बन्ध मे भारतीय और पाश्चात्य विद्वानो के मत दिये गये है। फिर अलकार, रीति अथवा शैली, ध्वनि, छद, सगीत, चित्रकला, प्रबन्ध-कला और चरित्र-चित्रण को काव्य-कला का प्रमुख अग कहा गया है। दूसरे अध्याय मे काव्य और कला सम्बन्धी गोस्वामी जी के निजी दृष्टिकोण उनके ग्रथो से सकलित किये गये है किन्तु उनसे ऐसे निष्कर्ष नही निकाले गये जो उनकी काव्य-कला की परख मे कसौटी का काम करते। तीसरे अध्याय मे तुलसी की कला मे मर्यादा और औचित्य के नाम से वर्णन, चरित्र-चित्रण, सस्कृति एव धर्म-निरूपण, वेदशास्त्र, जातकर्म, छठी, मुडन, विवाह, शकुन-विचार, भाग्यवाद, लोक-मर्यादा, वर्णाश्रम धर्म, साधुवदना, दुष्टनिन्दा, नारीनिन्दा और विविध शका-समाधान आदि—अनेक ऐसे उल्लेख प्रस्तुत किये गये है जिनका काव्य-कला से कोई सम्बन्ध नही है। चौथे अध्याय मे शब्द-प्रयोग-सम्बन्धी कला, पाचवे मे सगीत-तत्त्व और चित्रात्मकता, छठे मे अलकार और ध्वनि सम्बन्धी विशेषताए, सातवे मे प्रबन्ध-सौष्ठव और वर्णन-पद्धति, आठवे मे चरित्र-चित्रण-कला, नवे मे छद-योजना और सवाद-कला, दसवे मे भाव-वर्णन तथा रस-निरूपण, ग्यारहवे मे शैली और उक्ति-वैचित्र्य तथा बारहवे मे तुलसी कला की प्रभावात्मकता है।

उपर्युक्त विषय-क्रम मे व्यवस्था चिन्त्य है। प्रथम तीन अध्याय भूमिका के कहे जायेगे। भूमिका मे मौलिकता का अभाव नही खटकता यदि उससे ऐसे शास्त्रपरक

लेखिका	डॉ० भाग्यवती सिह
प्रकाशक	सरस्वती पुस्तक-सदन, आगरा
मूल्य	बारह रुपये पचास पैसे

निष्कर्ष निकल सके जो भावी योजना के लिए कसौटी का कार्य कर सके। प्रस्तुत प्रबन्ध के ये तीनो अध्याय इस दृष्टि से अध्येता को सतोष नही देते। गोस्वामी जी की काव्य-रुचि-सम्बन्धी प्रथम पक्ति 'वर्णानामर्थसघाना रसाना छदसामपि' का न तो अध्याय मे उल्लेख है और न उस वर्ण-सौदर्य का प्रबन्ध मे कही विवेचन है जो गोस्वामी जी की विनय-पत्रिका, रामचरितमानस, गीतावली जैसे ग्रन्थो मे सर्वत्र सहज-उपलब्ध है। प्रथम दो अध्यायो के अन्त मे दिये हुए 'उपसहार' निरर्थक से है। अच्छा होता यदि भूमिका के अध्यायो के उपरान्त निष्कर्ष रूप मे काव्य-कला-सम्बन्धी सिद्धान्त स्थिर कर लिए जाते और उन्ही के आधार पर आगे व्यावहारिक आलोचना होती।

अन्तिम अध्याय को छोड कर शेष आठ अध्याय अर्थात् ४ से ११ तक तुलसी की काव्य-कला का विवेचन करते है। चौथा अध्याय, जिसमे शब्द-प्रयोग सम्बन्धी कला है, विवरणात्मक है, शब्द-कोश, शब्द-शक्तियो और व्याकरण के उदाहरण अधिक है, शब्द-प्रयोगो की कलात्मक विवेचना कम है। मर्यादानुरूप शब्दावली मे पिष्टपेषण है। अर्थानुरूप शब्द-योजना निष्प्राण है। 'चलि', 'बनी', 'सोना', 'कूट,' और 'चरम' शब्दो के विवेचन कथावाचकीय है। कहा गया है कि 'सुपेती' 'ननिअउरे' और 'रउरे' शब्द बुदेलखडी के, 'मेली', 'पूजना' और 'पूरना' राजस्थानी के, 'पारा' और 'वैसा' बगला के तथा 'पवारा' मराठी के शब्द है। ये शब्द अवधी बोलचाल मे भी सदा से प्रयुक्त होते रहे है और मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत मे भी उपलब्ध है। इसी प्रकार नई क्रियाए शीर्षक से 'उपदेसना' और 'भरना' का उल्लेख है। प्रतीत होता है कि लेखिका को अवधि बोलचाल से निकट परिचय नही है जिसमे इस प्रकार की क्रियाए भरी पडी है। वाक्य-रचना-सम्बन्धी उदाहरण कला-विवेचन मे सहायक नही होते। पाचवे अध्याय मे सगीत के साथ चित्रात्मकता और नवे अध्याय मे छद-योजना के साथ सवाद-कला का ताल-मेल मिलाया गया है। कदाचित् सगीत के साथ छद-योजना होती। प्रबन्ध-सौष्ठव के साथ वर्णन-पद्धति भी इसी प्रकार अव्यवस्था का कारण बन बैठी है। चरित्र-चित्रण और भाव-वर्णन कोरे विवरणात्मक है, विवेचन का सर्वथा अभाव है। अन्तिम अध्याय मे गोस्वामी जी की काव्य-कला की प्रशस्तिया है, यदि यहा तुलसी की काव्य-कला की अन्य कलाकार कवियो की कला से तुलना की गयी होती तो मूल्याकन मे अधिक सहायता मिलती।

प्रबन्ध मे शास्त्रीय रीतियो के अविकल विवरण देकर उनके उदाहरण तुलसी-काव्य से प्रस्तुत किये गये है। विविध भाषाओ की शब्दावलिया, गुण, शब्द-शक्तिया, ध्वनि और उसके भेद, अलकार, छद आदि के उदाहरण क्रमश एकत्र किये गये है। इस प्रकार का श्रमसाध्य कार्य भी आलोच्य की सम्पूर्ण कलात्मक उक्तियो का मर्म उद्घाटित करने मे असमर्थ रहा है। इसमे सन्देह नही कि तुलसी-काव्य वह अपार पारावार है जिसमे कलात्मक उक्तियो के रत्नो का निश्शेष आकलन असम्भव है फिर भी यदि पहले कलात्मक उक्तियो का आकलन और वर्गीकरण कर लिया जाता तो कला का विवेचन

विस्तार से होता और मौलिक विवेचन को अधिक अवकाश रहता। फिर भी प्रबन्ध मे कवि के विशिष्ट कलात्मक-दृष्टिकोणो पर स्थूल-विवेचन उपलब्ध है।

शोध-प्रबन्ध की प्रमुख विशेषता—आलोच्य के प्रति वस्तुपरक दृष्टिकोण का ग्रथ मे सर्वथा अभाव है। आदि से अन्त तक प्रशस्तियो का भडार मिलता है। आवेश मे अशुद्ध तथ्य तक उपस्थित हो गये है, जैसे—"यहा तो तुलसी ने अपने मानस के पात्र धोबी को भी अपनी पत्नी पर अत्याचार नही करने दिया (पृ० ७९)। रामचरितमानस मे सीता-वनवास का प्रसग ही नही है। गीतावली के सीता-वनवास मे भी धोबी का कोई उल्लेख नही है। प्रशसात्मक निष्कर्ष आरम्भ मे ही आकर पूर्वाग्रह को भी व्यक्त करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास का अप्रतिम कृतित्व और कलानैपुण्य निभ्रान्त है फिर भी शोध-प्रबन्ध की वैज्ञानिक प्रक्रिया प्रत्येक मान्यता के लिए प्रमाणो की अपेक्षा रखती है। कवितावली के 'लरनि हनुमान की' वाले पद मे वीर रस (पृष्ठ ३४८) अथवा 'जरत निकेत धाओ धाओ लागि आगि रे' मे भयानक (पृ० ३६७) के उल्लेख शास्त्रपरक नही हैं। इनमे साधारणीकरण को दृष्टि मे रखते हुए रस की शुद्ध स्थिति नही बनती। ये ही नही अन्य रसो के चित्रण मे भी गोस्वामी जी का भक्ति-भाव प्रमुख बन कर रसावयवो को विकृत कर देता है। किन्तु वस्तुपरक दृष्टिकोण के अभाव मे उस ओर लेखिका का ध्यान गया ही नही।

तुलसी की काव्य-कला जैसे बहुचर्चित विषय की समीक्षा मे नये क्षितिज का अनुसन्धान या किसी विशिष्ट समस्या का समाधान तो अपेक्षित नही है किन्तु समस्त कलात्मक उक्तियो का निश्शेष (Exhaustive) और गम्भीर (Intensive) अध्ययन तथा शास्त्रपरक विवेचन वाछनीय है। प्रस्तुत शोध-ग्रथ मे लेखिका ने इस उद्देश्य की ओर सम्यक् दृष्टि नही डाली।

भाषा-सम्बन्धी कुछ असावधानिया भी द्रष्टव्य है —

(१) उपमाए भी उनकी अनूठी बन पडी है (पृष्ठ १५७)

दशरथ भी सूर्यवशी है और सूर्य अस्त होता है पश्चिम मे, और वे सूर्यवशी दशरथ भी पश्चिम की ओर अयोध्या मे जा रहे है। जनकपुर से अवध पश्चिम मे है। और दशरथ के जाने से कमल रूप जनकपुरवासी बडे दुखी है कैसी सुन्दर उत्प्रेक्षा-गर्भित उपमा है जो गोस्वामी जी की कला मे सोने मे सुगध उत्पन्न कर रही है। (पृष्ठ १६१)

(२) शब्द-विन्यास—

लक्षमण, पृ० ७४, ७५, ७६, ९१, २४१
कौसिल्या, पृ० २३६, २५९–६०–६१ (अनेक बार)
औतसुक्य पृ० ३३८, ३३९
उज्जवल (पृ० ३६६)
अपकर्श (पृ० ३७), गुरू (पृ० ८४), क्रियाये (पृ० १२६)

विचित्रताये (पृ० ११)
रचनाये (पृ० ४०)

(३) प्रबन्ध मे सामासिक चिन्ह का सर्वथा अभाव, यथा—
काव्य कला, (पृ० ३, ५) विजय दुन्दुभि (१,३), शब्द प्रयोग (पृ० ८४),
हिन्दी काव्य गगन (पृ० ४०)
हनुमान रावण सवाद (पृ० ३१३)
उक्ति वैचित्र्य (पृ० ३७३)

(४) विराम चिन्ह और प्रूफ-सशोधन की अशुद्धियो की भरमार।

निष्कर्ष यह कि यद्यपि लेखिका ने प्रबन्ध की सामग्री के आकलन मे विपुल श्रम बडे मनोयोग से किया है तथापि इस ग्रथ के प्रकाशन से पूर्व साहित्य के मूर्धन्य कवि गोस्वामी तुलसीदास जी की काव्य-कला-विवेचना की जो समस्या थी उसका सन्तोषजनक समाधान अभी शेष ही है।

काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध

डॉ० चन्द्रशेखर पन्त

यह प्रकाशन डॉ० उमा मिश्र (प्राध्यापिका, लेडी श्री राम कालेज, नयी दिल्ली) द्वारा पी-एच०डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत अन्वेष-निबन्ध 'रीतिकालीन काव्य और सगीत का पारस्परिक सम्बन्ध' का ही किचित् परिवर्तित-परिवर्द्धित सस्करण है। पाश्चात्य सस्कृति के इतिहास मे यूनानी साहित्य और सगीत का पारस्परिक सम्बन्ध अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। भारतीय सस्कृति के इतिहास मे वैदिक काल से ही काव्य-सगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध दृष्टिगोचर हो जाता है। छादोग्य-उपनिषत्कार स्पष्ट कहता है—'तस्मादृच्यध्यूढ साम गीयते'—ऋचा या ऋग्वेदीय स्तुतिपरक मत्रो मे ही 'गीति', (अर्थात् तत्कालीन गान-शैलियो) को निबद्ध करना चाहिए। यदि 'पद' अच्छे नही है तो सगीत अवनति की ओर ले जा सकता है। साथ ही सगीत की अवतारणा काव्य मे अपना प्रभाव डाले बिना नही रह सकती। नृत्य, राग, ताल, लय, वाद्य यत्र सब एक साथ अपने स्पन्दनो से काव्य को प्रतिस्पन्दित कर देते है।

अत विषय का व्यापक महत्त्व स्पष्ट ही है। आश्चर्य तो यह है कि अभी तक इस पर यथेष्ट ध्यान ही नही दिया गया। अस्तु, इधर दो अन्वेष-निबन्ध इस दिशा मे भारी अभाव की पूर्ति की ओर स्तुत्य प्रयत्न है, एक डॉ० उषा गुप्त का 'कृष्णभक्तिकालीन साहित्य मे सगीत', तथा दूसरा डॉ० उमा मिश्र का प्रकृत ग्रथ।

जिसे हम हिन्दी का रीतिकाल कहते है वह आधुनिक उत्तर भारतीय शास्त्रीय सगीत का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण युग है। ध्रुवपद-धमार के कुछ नूतन प्रयास, ख्याल, ठुमरी, टप्पा, कत्थक नृत्य आदि के आधुनिक प्रचलित रूपो का पूर्ण विकास इसी युग मे हुआ। वास्तव मे रीतिकाल का तात्पर्य केवल, नायिका-भेद, नखशिख-वर्णन आदि ही नही है। विशेषत यदि हम काव्य के सगीतमय छोर को देखे तो स्पष्ट होता है कि भक्ति-युक्त पद, मुक्तक और गीति-काव्य के कुछ सुन्दर रूप भी इस युग मे प्रस्फुटित हुए है। जब कि ख्याल के सृजन मे सगीत का इतिहास सदारग-अदारग (मुगल-सम्राट् मोहम्मद-शाह—सन् १७१९-४८ के समकालीन) को सामने लाता है, रीतिकालीन साहित्य का इतिहास इस दिशा मे घनानन्द आदि के अनुदान का महत्त्व स्पष्ट करता है। ऐसे अनेक तथ्यो का मूल्याकन न तो केवल साहित्यज्ञ कर सकता है, न कोरा सगीतज्ञ। इस के लिए

लेखका	डॉ० उमा मिश्र
प्रकाशक	दिल्ली पुस्तक सदन, बगलो रोड, दिल्ली
मूल्य	१२.५० रुपये

अपेक्षित है साहित्य और सगीत दोनो के लक्ष्य-लक्षणो का सम्यक् ज्ञान, जिसका परिचय विदुषी लेखिका ने दिया है।

प्रस्तुत पुस्तक ९ परिच्छेदो मे विभाजित है। काव्य और सगीत की सम-प्राकृतिक विशेषताए, साहित्य और सगीत के रीतिकाल से पूर्ववर्ती इतिहास का—विशेषत गीतिकाव्य का—परिचय प्रथम तीन परिच्छेदो मे दिया गया है। शोध-खण्ड चौथे परिच्छेद से आरम्भ होता है। रीतिकाल की कलागत प्रवृत्तिया, वास्तु-कला, मूर्तिकला, चित्रकला, काव्य और सगीत की कलागत प्रवृत्तिया, रीतिकालीन सगीत की प्रमुख शैलियो का शास्त्रीय अध्ययन—यत्र तत्र स्वर-लिपिया सहित, रीति-कालीन छन्द और अलकार-योजना का सगीत से सम्बन्ध, तथा प्रबन्ध, मुक्तक, गीतिकाव्य एव सगीत का पारस्परिक सम्बन्ध—इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयो को लेखिका ने 'तकनीकी' तौर पर सुतरा प्रकाशित किया है। साथ ही प्राचीन एव अर्वाचीन, प्राच्य और पाश्चात्य, सस्कृत एव हिन्दी के आलकारिको, लेखको और कवियो के प्रकृत विषय पर फुटकर विचारो को यत्र तत्र सग्रहीत करके और भी रोचक बना दिया है।

एक त्रुटि अगले सस्करण मे सही करना आवश्यक होगा—देखिए पृ० ७५-७६। लोचनकृत रागतरगिणी न पन्द्रहवी शताब्दी की है न चौदहवी की। खेद है अभी तक विद्वानो का ध्यान दरभगाराज से प्रकाशित सपूर्ण रागतरगिणी और उसकी भूमिका की ओर नही गया है। इस से स्पष्ट हो जाता है कि रागतरगिणी लगभग सन् १७०० ई० मे लिखी गई थी।

पुस्तक मे वर्णानुक्रमणिका का अभाव खटक रहा है। इसकी पूर्ति होनी ही चाहिए ताकि साहित्य-सगीत के अन्वेषको के लिए इसकी उपयोगिता अधिक सुकर हो। डॉक्टर विश्वम्भर नाथ भट्ट भी, जिनके मार्ग-निर्देशन पर पुस्तक लिखी गई है, लेखिका के साथ बधाई के पात्र हैं।

हिन्दी भक्ति-शृंगार का स्वरूप : आलोचनात्मक परिचय

डा० रूपनारायण

धर्म और काम—दोनो भावनाओ का मनुष्य के जीवन मे विशेष महत्त्व है। दोनो मे से किसका प्रभाव अधिक व्यापक है—यह निर्णय कर सकना सहज नही है। आदि-काल से ये दोनो भाव मनुष्य के साथ आख-मिचौनी खेलते आ रहे है। कभी एक प्रत्यक्ष होता है तो दूसरा छिप जाता है और जब दूसरा प्रबल होता है तो पहला गौण हो जाता है। किन्तु एक बात निश्चित है कि दोनो का मानव-जीवन मे प्रादुर्भाव और विकास प्राय साथ-साथ हुआ है। मनुष्य को अपने जीवन मे दोनो की आवश्यकता रही है। यही कारण है कि उसने आदिकाल से दोनो को सावधानी से पकडा है। मानव जाति का इतिहास और साहित्य—चाहे वह किसी देश का क्यो न हो—इस बात का साक्षी है कि आरम्भ मे धर्म और काम—दोनो को पवित्र समझा जाता था। वास्तविकता तो यह है कि ये दोनो मानव-जीवन के दो विभिन्न पहलू थे जो एक-दूसरे के पूरक समझे जाते थे। आज यद्यपि धर्म को पवित्रता का प्रतिनिधि मान कर काम से, उसकी वासनोत्तेजक स्थिति के आधार पर, विशेष आदर का स्थान दिया जाता है, किन्तु जीवन मे महत्त्व की दृष्टि से दोनो का स्थान आज भी वही है और चिरकाल तक वही रहेगा। धर्म भावना की प्रधानता और अत्यधिक प्रसार भी काम के प्रभाव और महत्त्व को कम नही कर सकता—यह बात हिन्दी के भक्तिकालीन काव्य के आधार पर सिद्ध की जा सकती है। डा० मिथिलेश कान्ति की पुस्तक 'हिन्दी भक्ति-शृगार का स्वरूप' इसी दिशा मे किया गया एक स्तुत्य तथा साहसिक प्रयास है।

डा०कान्ति ने भक्ति और शृगार के अन्योन्य-सम्बन्ध को हिन्दी के भक्तिकाव्य के आधार पर सिद्ध करने के लिये अपनी पुस्तक को नौ अध्यायो मे विभाजित किया है। प्रथम तीन अध्याय—(१) धर्म मे काम की परम्परा, (२) धर्म मे काम-तत्त्व का रहस्य, और (३) भक्ति-शृगार की पीठिका—वास्तव मे विषय की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते है। इन अध्यायो के द्वारा लेखक ने पाठक को इस तथ्य से परिचित कराया है कि धर्म और शृगार का ऐतिहासिक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की स्वीकृति ससार के सभी धर्मों मे प्राप्त है और हिन्दू धर्म मे तो इसकी अत्यन्त स्पष्ट और पुष्ट परम्परा रही है। अत हिन्दी के भक्ति-काव्य मे शृगार की स्वीकृति तत्कालीन पतनोन्मुख धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियो के कारण नही है वरन् धर्म की परम्परा मे चली आती हुई चिन्ता-

---

लेखक — डॉ० मिथिलश कान्ति
प्रकाशक — चेतना प्रकाशन, कानपुर
मूल्य — ७ रुपये

धारा का यह स्वाभाविक विकास है। यद्यपि इसके प्रसार मे तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियो का योगदान अस्वीकार नही किया जा सकता।

चतुर्थ अध्याय 'भक्ति-शृगार की प्रतीकात्मकता' मे लेखक ने एक मौलिक तथा जटिल प्रश्न पर विचार किया है। भक्त-कवियो द्वारा वर्णित राधा-कृष्ण की शृगारात्मक लीलाओ को आत्मा-परमात्मा के मिलन-सूचक प्रतीक के रूप मे स्वीकार करने वाले विद्वानो की कमी नही है। इन विद्वानो के अनुसार राधा-कृष्ण की काम-क्रीडाओ का स्थूल अर्थ ग्राह्य नही है। नैतिक दृष्टि से इस व्याख्या की सगति और उपयुक्तता स्वीकार करते हुए भी इसके द्वारा भक्तो की भावनाओ के साथ न्याय नही किया जा सकता। भक्त-कवियो का उद्देश्य अपने इष्ट—राधा-कृष्ण का लीला-गान और ध्यान था। लोक मे स्वीकृत प्रेम-कीडाओ के जितने विविध रूप हो सकते है—उन सभी का वर्णन उन्होने अपने पदो मे किया है। यह बात सत्य है कि स्थूल-शृगार के वर्णन मे इन भक्तो ने समाज की नैतिकता का ध्यान नही रखा। किन्तु अपने इष्ट की शृगारिक-लीलाओ के गान मे भक्तो का दृष्टिकोण व्यक्तिगत साधना रही है सामाजिक कल्याण की भावना नही। इन लीलाओ के गायन, चिन्तन और भावन द्वारा उन्हे जो तन्मयता प्राप्त होती थी उसमे स्थूलता के लिये अवकाश नही था। वहा तो वे रस-दशा मे पहुच कर उस आनन्द की अनुभूति करते है जिसकी ये लीलाए साधन-मात्र है। उस अवस्था मे तो केवल रस रहता है, राधा-कृष्ण भी नही

नाइक तहा न नाइका रस कखावत खेलि।
सखी उभै सगम सरस, जियत नैन पुट झेलि॥ (ध्रुवदास-बयालीस लीला)

इसी प्रकार जायसी की समासोक्ति-पद्धति को उचित महत्व देते हुए भी उनके द्वारा वर्णित काम-क्रीडाओ का प्रतीकात्मक अर्थ नही किया जा सकता। इसलिए प्रतीकात्मकता के आग्रह मे न तो हम भक्त-कवियो की भावनाओ के साथ न्याय कर सकेगे और न ही उनके काव्य-सौंदर्य के प्रति।

प्रतीकात्मक व्याख्या कबीर आदि निर्गुण कवियो की विचार-धारा के अनुकूल है। इन्होने पति-पत्नी के मिलन को परमात्मा और आत्मा के मिलन का प्रतीक माना है। किन्तु विरहिणी को आदर्श स्वीकार करने वाले इन सन्तो के काव्य मे आत्मा की तडपन ही विशेष रूप से व्यक्त हुई है, परमात्मा से उसके मिलन की चर्चा बहुत कम है। सयोग के इस अभाव का कारण नितान्त स्पष्ट है। निर्गुण और निराकार ब्रह्म को सगुण और साकार रूप दिये बिना यह सम्भव नही था जो कबीर आदि सन्त कवियो की विचार-धारा के प्रतिकूल था। यही कारण है कि सन्त कवियो का प्रेम-वर्णन अत्यन्त सूक्ष्म और सकेतात्मक है।

'भक्ति-काव्य मे प्रेम का स्वरूप'—पाचवे अध्याय का प्रतिपाद्य है। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की सभी शाखाओ मे, चाहे उनके कवियो ने स्थूल शृगार का वर्णन किया हो अथवा नही, प्रेम को समान महत्त्व प्राप्त है। प्रेम के स्वरूप का आख्यान सभी

भक्त-कवियो ने अपनी-अपनी शब्दावली मे किया है। शब्दगत भिन्नता होते हुए भी प्रेम का मूल स्वरूप सर्वत्र समान है। तथापि लेखक ने सभी शाखाओ के प्रेम स्वरूप का वर्णन पृथक-पृथक् किया है। प्रेम के इस स्वरूप-स्पष्टीकरण मे यह सिद्ध हो जाता है कि शृगार का स्थूल रूप प्रस्तुत करने वाले भक्त-कवियो के मन से प्रेम का वास्तविक रूप कभी ओझल नही हुआ। उसकी पवित्रता को उन्होने अपनाया है उसकी उज्ज्वलता और सूक्ष्मता से वे परिचित है और उसकी अनन्यता तथा सदावर्द्धमानता की उन्हे अनुभूति है। साराश यह कि प्रेम के आस्वादन मे सहायक साधन होने के कारण ही उन्होने स्थूल-सभोग की लीलाओ का वर्णन तथा गायन किया है, वासना-परितोष के निमित्त नही।

पुस्तक के अगले चार अध्याय वर्णनात्मक हैं। इनमे भक्त-कवियो द्वारा वर्णित शृगारिक लीलाओ की काव्यशास्त्र और कामशास्त्र के आधार पर चर्चा की गई है। काव्यशास्त्र मे निरूपित नायक-नायिका के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लेखक ने यह सिद्ध किया है कि भक्ति-शृगार के नायक और विशेष रूप से नायिकाओ मे शृगारी नायक और नायिका के सभी गुण और प्राय सभी भेद प्राप्त हो जाते है। यही बात विप्रलम्भ शृगार के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। काव्यशास्त्र मे स्वीकृत वियोग के चार रूपो—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण को छोडकर शेष सभी का समावेश भक्ति-शृगार मे हुआ है। पर सूक्ष्म विरह और सूक्ष्म मान भक्ति-शृगार की निजी विशेषता है। इनकी स्वीकृति का कारण इष्ट का अलौकिक रूप और राधा-कृष्ण का नित्य-मिलन है। लौकिक नायक सयोग और वियोग—दोनो की अनुभूति एक साथ नही कर सकता। किन्तु नित्य-विहार मे लीन राधा-कृष्ण मे यो दोनो स्थितिया एक साथ मानी गई है

बिरह सजोग छिनहि छिन माही। जद्पि ग्रीवनि मेल बाही॥
इहि विधि खेलत कलप बिहाने। परम रसिक कबहू न अघाने॥ (ध्रुवदास)

शृगारिक लीलाओ के वर्णन मे भक्त कवियो ने कामशास्त्र का जितना आधार ग्रहण किया है उतना न तो काव्यशास्त्र का और न ही भक्तिशास्त्र का—यह लेखक की मान्यता है। उसके अनुसार उनकी कविता मे शृगार-चेष्टाओ की जो विविधता दृष्टिगत होती है उससे स्पष्ट है कि भक्त-कवियो की कामशास्त्र मे कितनी गहरी पैठ थी। आठवे अध्याय मे काम-क्रिया-सम्बन्धी कामशास्त्र का विवरण देते हुए उसी की पीठिका मे भक्त-कवियो, विशेष रूप से कृष्ण-भक्त-कवियो की रचनाओ मे वर्णित शृगार-चेष्टाओ को समझने का यत्न किया गया है।

इस पुस्तक-परिचय से नितान्त स्पष्ट है कि भक्ति-काव्य मे निहित शृगार-भावना का लेखक ने समुचित विश्लेषण किया है। किन्तु उसकी शैली सर्वत्र वर्णनात्मक रही है—विवेचनात्मक नही। यही कारण है कि लेखक का प्रयत्न तथ्य-सग्रह की ओर विशेष रहा है सिद्धान्त-चर्चा की ओर कम। इसीलिए भक्ति-शृगार मे नायिका के स्वरूप-निर्धारण मे और सभोग-वर्णन के समय लेखक ने भक्तो की मूल-भावना—भक्ति की ओर कोई सकेत नही किया। यह निरूपण एक भक्त-कवि के काव्य का नही एक शृगारी कवि

के काव्य का प्रतीत होता है। विस्तार की ओर लेखक का ध्यान विशेष रहा—यह उसके प्रेम-स्वरूप की चर्चा से भी सिद्ध है। भक्तो द्वारा स्वीकृत प्रेम के सामान्य रूप को उसने कही नही स्पष्ट किया। यदि विभिन्न भक्ति-शाखाओ मे स्वीकृत प्रेम की चर्चा पृथक्-पृथक् न कर के एक साथ की जाती तो भक्तो के चिर-साध्य प्रेम का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो पाता। व ो क साधन की दृष्टि से भक्तो मे भले भेद हो पर साध्य-प्रेम का स्वरूप सभी मे समान है।

अन्य बात हमे रामभक्ति-शाखा के शृगार-निरूपण मे केवल रामचरित-मानस को स्वीकार करने के सम्बन्ध मे कहनी है। पुस्तक के नाम से यह किसी प्रकार स्पष्ट नही होता कि इसका विषय-विवेचन हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल तक ही सीमित है। राममक्ति-काव्य मे मधुर उपासना और साहित्य को स्पष्ट करने वाले इन दो ग्रथो—(१) श्री भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र का 'रामभक्ति-साहित्य मे मधुर उपासना' और (२) डॉ० भगवतीप्रसाद सिह का 'राम-भक्ति मे रसिक सम्प्रदाय' का उपयोग विषय-विवेचन के लिये किया जा सकता था।

इन त्रुटियो के रहते हुए भी तथ्य-सग्रह की दृष्टि से डॉ० मिथिलेश कान्ति की इस पुस्तक का महत्त्व निश्चित है। धर्म मे काम की स्वीकृति सम्बन्धी जिन तथ्यो की ओर लेखक ने पाठक का ध्यान आकर्षित किया है उनसे इस विषय मे और अधिक खोज की प्रेरणा अनुसन्धाता को अवश्य मिलेगी, और इस प्रकार के बहुत से काम-सम्बन्धी तथ्य जिनका लेखक ने अध-विश्वास के रूप मे उल्लेख-मात्र किया है भविष्य मे विवेचना का स्वतत्र विषय बन सकेगे।

नया हिन्दी-काव्य

डॉ० रामदरश मिश्र

स्तुत ग्रथ पी-एच०डी० की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया शोध-प्रबन्ध है। इस शोध-प्रबन्ध मे सन् १९३६ और १९५५ के बीच के हिन्दी-काव्य की विविध विकास-दिशाओ, प्रवृत्तियो और प्रतिनिधि कवियो की निजी उपलब्धियो और सीमाओ का विशद अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसे छायावादोत्तर हिन्दी-काव्य का अध्ययन कहा जा सकता है। छायावादोत्तर हिन्दी काव्य पर चर्चाए, परिचर्चाए होती रही है और उसकी विविध धाराओ की उपलब्धियो के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न मत दिये जाते रहे हैं। इस चर्चा मे मुख्यत प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता को ही महत्त्व मिलता रहा है अन्य धाराओ की चर्चा छूट सी जाती रही है। अर्थात् यह मान लिया जाता रहा है कि शेष धाराए छायावाद के बाद की मुख्य धाराए नही है। वे जीवित जरूर है किन्तु लौट गयी या चुक गयी धारा की अवशिष्ट बन कर। इन तथाकथित अप्रधान धाराओ के कवियो की कृतिया जब-जब प्रकाशित होती रही है तो उनकी चर्चा जरूर होती रही है। साहित्य के विद्यार्थियो के समक्ष पहली बार छायावादोत्तर हिन्दी कविता का समग्र रूप सुसम्बद्ध ढग से प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के रूप मे प्रस्तुत हुआ है। लेखक का यह कार्य स्तुत्य है।

यह कार्य स्तुत्य है यद्यपि इसे सम्पन्न करने मे खतरे भी कम नही थे। कारण यह है कि छायावादोत्तर हिन्दी-काव्य की सभी धाराओ के अधिकाश कवि जीवित हैं और निरन्तर लिखते जा रहे है। इन सभी धाराओ के सम्बन्ध मे विभिन्न आलोचको द्वारा जो बाते कही गयी है उनमे काफी असमानताए है। लेखक ने इन खतरो के बीच से अपना रास्ता तै किया है और पूर्ण सफलता से तै किया है। उसकी इस सफल यात्रा का रहस्य शायद यह है कि उसने मुख्यत आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। शोध के लिए अध्ययन प्रस्तुत करना पहली शर्त है। स्वतत्र निबधो मे लेखक किसी कृति या धारा का सर्वथा मौलिक विवेचन कर सकता है—ऐसा करना लेखक की उपलब्धि माना जा सकता है, परन्तु शोध-प्रबन्धो मे विवेच्य सामग्री के सम्बन्ध मे व्यक्त अनेक अनुकूत प्रतिकूल मतो का अध्ययन करते हुए उन्हे सम्यक् रूप से परस्पर गुम्फित करते हुए आगे बढना पडता है। कुछ लोग तो शोध-प्रबन्धो का गतव्य भी यही मानते है। किन्तु मैं समझता

लेखक डा० शिवकुमार मिश्र
प्रकाशक अनुसन्धान प्रकाशन, कानपुर
मूल्य १६ रुपये

हू कि अध्ययन मे अध्ययनकर्ता का चिन्तनपूर्ण व्यक्तित्व भी (यदि हो तो) जुडता चले तो वह अधिक साहित्यिक उपलब्धि कहा जा सकता है। शोध समीक्षा की शक्ति से सम्पन्न होकर अधिक गरिमामय बन सकता है। तात्पर्य यह है बाह्य तथ्यो के शोध के साथ भीतरी मूल्यो का शोध जुड कर शोध को सम्पन्न और समग्र बनाता है। प्रस्तुत प्रबन्ध अध्ययन-मूलक होकर भी लेखक के चितनपूर्ण व्यक्तित्व से असपृक्त नही है। लेखक ने स्थान-स्थान पर वादो और कवियो के सम्बन्ध मे अपनी धारणाए स्पष्ट रूप से व्यक्त की है। [लेकिन लेखक ने जो धारणाए व्यक्त की हैं वे प्राय मूलत मौलिक है। साहित्य को सामाजिक दृष्टि से देखने वाले आधुनिक काल के आलोचको द्वारा व्यक्त मान्यताओ और धारणाओ की उनसे सगति बैठती है। इससे सिद्ध होता है कि लेखक प्राय सभी स्थलो पर समग्र गति से सावधान रहा है।]

लेखक ने समस्त छायावादोत्तर काव्य को नया काव्य कहा है, शायद इसलिए कि सभी धारणाए आज भी जीवित है। भारतेन्दु-काल से आरम्भ होने वाले काल को आधुनिक काल कहा गया है, उसके स्पष्ट कारण है किन्तु छायावाद के पश्चात् के समस्त काव्य को नया काव्य कहना विवादास्पद है। यदि छायावाद के अवशिष्ट बासीपन को लेकर निर्मित होने वाला छायावादोत्तर छायावादी काव्य नया है तो सन् १९३६ के पहले का छायावाद नया काव्य क्यो नही है। ऐतिहासिक अनिवार्यता चुक जाने के बाद अपने बासीपन को लिये दिये बहुत-सी धाराए, अस्तित्व कायम रखने का प्रयत्न करती हैं जब कि नये युग की अनिवार्यता से स्फूर्जित, वस्तु और शिल्प का नया सौदर्य लेकर नया साहित्य प्रस्फुटित होता रहता है।

लेखक ने प्रस्तुत प्रबन्ध को विषय-प्रवेश और उपसहार के अतिरिक्त नव मुख्य अध्यायो मे विभाजित किया है। विषय-प्रवेश तथा पहले अध्याय मे लेखक ने उन तत्कालीन सामाजिक, सास्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियो और अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश का अच्छा अध्ययन प्रस्तुत किया है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस काल की काव्य-धाराओ को प्रभावित करते रहे है। मिश्र जी ने इन परिस्थितियो से इन काव्य-धाराओ का सम्बन्ध जोड कर यह स्पष्ट किया है कि कुछ अपवादो के साथ ये समस्त काव्य-धाराए अपने वातावरण की उपज है, यद्यपि वे विदेशो से भी प्रभाव ग्रहण करती रही है। समस्त काव्य-धाराओ का विश्लेषण करने के पूर्व समस्त विवेच्यकाल की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक परिस्थितियो का चित्र प्रस्तुत करना आवश्यक होता है, किन्तु साहित्य-विवेचन के क्षेत्र मे इन परिस्थितियो की सार्थकता वही तक होती है जहा तक वे साहित्य की विभिन्न धाराओ और प्रवृत्तियो को प्रभावित करती हैं। अत इन धाराओ और प्रवृत्तियो का विश्लेषण करते समय उन्हे प्रभावित करने वाली बाहरी परिस्थितियो का विवेचन किया जाय तो वह अधिक सार्थक प्रतीत होता है। लेखक ने बीच-बीच मे ऐसा सफल प्रयास किया है इसलिए प्रवृत्तियो को परिस्थितियो की सापेक्षता मे समझने मे सहायता मिली है।

दूसरे, तीसरे अध्याय मे क्रमागत काव्य-धाराओ का विश्लेषण किया गया है। राष्ट्रीय काव्य-धारा और छायावादी काव्य-धारा ये दोनो क्रमागत काव्य-धाराए सन् १९३५ के बाद भी लक्षित होती है। इनके प्रमुख कवि आज भी जीवित है और अपनी पद्धति से लिखते चले आ रहे है। लेखक ने इनकी कविताओ का भी विवेचन करना आवश्यक समझा है। परम्परा और प्रगति के परिप्रेक्ष्य मे इन धाराओ की बडी सुन्दर व्याख्या की गयी है। सन् ३५ के बाद राष्ट्रीय कविता मुख्यत दो दिशाओ मे बहती हुई दिखाई पडती है। एक दिशा मे बहने वाली धारा का स्वरूप आवश्यक सशोधन-परिवर्तन के साथ क्रमागत है जिसमे मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी, हरिकृष्ण प्रेमी आदि आते है। दूसरी दिशा मे बहने वाली धारा का रूप मार्क्सवादी-समाजवादी प्रभाववश वर्ग-चेतना से अनुप्राणित दीखता है। लेखक ने एक तीसरी धारा भी मानी है जिसके कवियो ने क्राति, केवल क्राति को अपना आराध्य माना है। दिनकर, भगवतीचरण वर्मा आदि को इस तीसरी धारा का प्रतिनिधि कवि माना गया है। डॉ० मिश्र ने इन तीनो धाराओ के कवियो की प्रवृत्तियो का विशद विवेचन किया है। राष्ट्रीय कविता के विवेचन मे मिश्र जी ने प्रचलित मान्यताओ से काम लिया है। राष्ट्रीय कविता सामान्यत उसे कहा गया है जिसमे कुछ हुकार-फु कार हो, राजनीतिक घटनाओ, प्रसगो, नेताओ की जीवन-गाथा का चित्रण हो, देश की गौरव-कथा गायी गयी हो, उसकी अभावावस्था, विषमता का स्थल स्वरूप अकित हो। इसीलिए उन कवियो को भी राष्ट्रीय कवि मान लिया जाता है जो वास्तव मे अच्छे कवि होने के भी अधिकारी नही है। लेखक ने जिन राष्ट्रीय कवियो की सूची दी है उनमे अनेक राष्ट्रकवि भले हो, कवि नही है। राष्ट्रीय कविता सही रूप मे वह होती है जो पूरे देश की मानवीय भावना, और सास्कृतिक चेतना और जीवन-मूल्यो के सूक्ष्म और सश्लिष्ट स्तरो को उभारे। निराला, प्रसाद और पन्त को हम राष्ट्रीय कवि क्यो न कहे ?

क्रमागत काव्य-धारा मे १९३५ के बाद लिखी गयी छायावादी कविता को भी समेटा गया है। इस धारा के अन्तर्गत वे कवि आये है जो छायावाद काल के प्रमुख कवि रह चुके है। वे कवि भी आये है जो छायावादोत्तर काल मे विकसित हुए है लेकिन छायावाद को ही अपने सर्जन का आदर्श बना कर चले है। छायावादोत्तर सर्जित इन छायावादी कविताओ का विश्लेषण लेखक ने छायावादी शब्द के परिप्रेक्ष्य मे किया है। इस परिप्रेक्ष्य मे इसकी उपलब्धियो और सीमाओ की वस्तुगत परीक्षा की है। उसने बडे सही ढग से यह मान्यता स्थापित की है कि 'जिन व्यापक आयामो को लेकर सन् १९३५ के पूर्व की छायावादी कविता गतिशील थी न तो इसमे (१९३५ की छायावादी कविता मे) वह व्यापकता है और न विशेषताओ की वह एकत्र उपस्थिति।'

चौथे अध्याय मे उत्तर-छायावादी व्यक्तिपरक काव्य की विवेचना की गयी है। कहा जा सकता है कि यह अध्याय प्रस्तुत पुस्तक के सशक्त अध्यायो मे से एक है। लेखक ने उक्त छायावादी काव्य को छायावादी प्रवृत्तियो और नव-विकसित परिस्थितियो के परिवेश मे देखा है और उभरने वाले व्यक्तिवादी स्वर का आकलन किया है। मेरा सुझाव

है कि दिनकर, नेपाली आदि को भी इसी धारा मे समाविष्ट करना अधिक समीचीन होता। दिनकर ठीक-ठीक तथाकथित राष्ट्रवादी धारा मे और नेपाली छायावादी धारा मे नही आ पाते। उत्तर-छायावादी काव्य की दो मुख्य विशेषताए है —(१) छायावाद की रहस्यावृत अनुभूतियो के स्थान पर स्पष्टरूप से व्यक्तिवादी अनुभूतियो का प्रकाशन और दुरूह अभिव्यक्ति के स्थान पर सरल सहज अभिव्यक्ति का ग्रहण। व्यक्तिवादी अनुभूतियो मे प्रेम (शृगार), विद्रोह सभी आ जाते है। व्यक्तिवादी शृगारिक अनुभूतियो का खुले आम (बिना किसी रहस्यवादी परदे का सहारा लिए हुए) प्रकाशन भी तो कवि का एक विद्रोह ही है और दिनकर, भगवतीचरण वर्मा आदि का अराजकतावादी क्राति-स्वर भी व्यक्तिवादी ही स्वर है—जैसा कि लेखक ने स्वय स्वीकार किया है। अभिव्यक्ति की सरलता के क्षेत्र मे ये सभी कवि प्राय समान दीखते है।

पाचवा अध्याय है प्रगतिवादी काव्य-सम्बन्धी। कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद के सम्बन्ध मे पूर्व व्यक्त विचारो के आलोक मे मिश्र जी ने प्रगतिवाद के सभी पहलुओ पर विधिवत् विचार किया है। छायावाद और प्रयोगवाद के साथ उसके सम्बन्धो की उपयुक्त व्याख्या भी की है।

छठे अध्याय मे प्रयोगवाद का विश्लेषण है। लेखक ने प्रयोगवाद को मुख्यत शिल्प का आन्दोलन माना है। यदि उसका कोई विशिष्ट जीवन-दर्शन है तो वह है व्यक्तिवादी दर्शन जो जीवन मे निराशा, अनास्था और पराजय की ही भावना को प्रमुख मानता है। कवियो ने नये शिल्प के माध्यम से निजी कुठाओ, वासनाओ और अतृप्तियो को व्यक्त किया है। लेखक ने प्रयोगवाद से सम्बन्धित अनेक साहित्यिक प्रश्नो को लिया है और उन पर जमकर विचार किया है। इस सम्बन्ध मे लेखक की कुछ स्थापनाए विवादास्पद कही जा सकती है। एक स्थान पर प्रयोगवादी कविता के व्यक्तिवाद को बच्चन आदि उत्तर-छायावादी कवियो के व्यक्तिवाद के साथ जोडा गया है। वास्तव मे दोनो के मौलिक अतरो को साहित्यिक स्तर पर समझने की आवश्यकता है। एक की दृष्टि यथार्थवादी है दूसरे की रोमाटिक है। इसी प्रकार कहा गया है कि निराला की मुक्त छन्द सम्बन्धी सफलता के आगे नये कवि स्पष्ट रीति से झलकने वाली कोई नयी कडी नही जोड सके। मेरा खयाल है लेखक प्रयोगवाद को शिल्प का आन्दोलन मानते हुए उसकी शिल्पगत उपलब्धियो को तटस्थता से देखने मे सफल हुआ है।

सातवे अध्याय मे मध्यवर्ती कवियो का विवेचन किया गया है। इस धारा मे समाविष्ट कवि प्रयोगवाद और प्रगतिवाद दोनो मे कही भी ठीक-ठीक नही बैठते। इसलिए इनके लिए लेखक ने एक नया वर्गीकरण तैयार किया है। ये कवि दोनो धाराओ की मिली-जुली विशेषताओ को—कुछ इनके द्वद्व को, कुछ इनके समन्वय को—लेकर स्वतत्र व्यक्तित्व निर्माण करते चले है। इन कवियो मे आते है गिरिजाकुमार माथुर, शमशेरबहादुर सिंह, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, आदि। यह वर्गीकरण बहुत वैज्ञानिक नही हो सका है—लेखक ने स्वय स्वीकार किया है। किन्तु इस वर्गीकरण से लेखक ने कुछ कवियो को प्रगतिवाद या प्रयोगवाद के बने बनाये रखने मे जबरदस्ती ढकेले जाने

उबार लिया है। किन्तु लेखक ने शमशेर जैसे कवियो को मध्यवर्ती काव्य-धारा मे क्यो रखा ? शमशेर अपने विचारो से भले समाजवादी हो, कविताओ मे सर्वत्र घोर व्यक्तिवादी है। प्रयोगवाद की सारी सुकृतिया-विकृतिया जितनी शमशेर मे उभरी है उतनी शायद ही किसी अन्य कवि मे। अज्ञेय, भारती, सर्वेश्वरदयाल, साही, लक्ष्मीकान्त वर्मा (जिन्हे प्रयोगवादी धारा मे रखा गया है) शमशेर की अपेक्षा अधिक सामाजिक, लोक जीवनोन्मुख और सवेद्य है। उनकी अभिव्यक्ति भी शमशेर की अभिव्यक्ति से अधिक सहज है।

प्रबन्ध का सब से साहसपूर्ण अध्याय है आठवा अध्याय जिसमे नव्यतर गीत कविता का विवेचन किया गया है। इसे साहसपूर्ण इसलिए कह रहा हू कि लेखक ने उन कवियो को (शभूनाथ सिंह अपवाद है) व्यापक महत्ता प्रदान की है जिन्हे काव्य-समीक्षको ने 'कवि-सम्मेलनी' कवि मान कर उपेक्षित किया था। लेखक ने इन गीतो को नव्यतर गीत क्यो कहा है ? क्या सचमुच ही ये गीत बच्चन, नरेन्द्र शर्मा के रोमानी, तीव्र गीतो, केदारनाथ अग्रवाल, सुमन के प्रगतिवादी गीतो अज्ञेय, भारती, नरेश मेहता के तथाकथित प्रयोगवादी गीतो से अलग आगे किसी मूल्य की स्थापना करते हैं ? उपर्युक्त गीत अपनी अनुभूति की तीव्रता, ताजगी और एकतानता मे गीत की स्पिरिट' से युक्त है। लेखक द्वारा घोषित ये नव्यतर गीत कही बच्चन-नरेन्द्र शर्मा के रोमानी गीतो की परिपाटी वहन करते है, कही उनमे प्रगतिवाद की सामाजिकता चिपकी हुई है, कही मरण आदि का कच्चा दर्शन लिपटा हुआ है। इस प्रकार मूलत रोमास की चासनी मे पगे इन गीतो पर भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्क लगे हुए है। इनमे गीतो की मूल प्रकृति के ही दर्शन नही होते। तुको के खत्म होने तक ये गीत चलाये जाते है और गीतो मे कही कही बाह्य वस्तु-विधान का इतिवृत्तात्मक क्रम चलता रहता है। इन कवियो के छन्द आदि मे भी भयकर एकरसता दीखती है। यदि इस धारा की विस्तृत चर्चा करनी ही है तो दोषी, त्यागी, दिनेश, रग आदि अनेक रगमचीय सफल कवियो की चर्चा क्यो छोड दी जाय ? ध्यान देने की बात है कि शभूनाथसिह वही नही है जहा उन्हे रखा गया है। शभूनाथसिह जैसे अनेक कवियो ने आज अपनी उन पिछली गीत-कविताओ को 'डिनाइ' कर दिया है और जीवन के अधिक वास्तविक स्वर को नये शिल्प के जरिए व्यक्त करना चाहा है। इनकी महत्ता इन नये गीतो और नयी कविताओ से आकी जायगी। दुष्यत-कुमार, विजयदेव नारायण, साही, नरेश मेहता जैसे अनेक कवि उपर्युक्त प्रकार के रोमानी गीत पहले लिखते थे लेकिन समझदारी आने पर उन्हे छोड चले। वास्तव मे नव्यतर ीत ये नही है। नव्यतर गीत है भारती, गिरिजाकुमार माथुर, केदारनाथ सिह, ठाकुर-प्रसाद सिह, एव त्रिलोचन के और ये गीत सन् ५५ के बाद के नही है पहले से लिखे जा रहे है। काफी महत्व के गीतकारो और कवियो के नाम गिनकर या उन्हे थोडी बहुत जगह देकर लेखक स तुष्ट हो गया है जब कि इन तथाकथित नव्यतर गीतकारो की चर्चा मे, अनेक पृष्ठ लिखे गये है।

नवे अध्याय मे विवेच्य काल की काव्य-धारा मे प्रयुक्त शिल्प-रूपो की चर्चा कर अध्ययन को और पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है। शोध-प्रबन्ध सन् १९५५

तक के साहित्य तक ही सीमित था, किन्तु प्रबन्ध छपते समय लेखक ने १९५५ के बाद के भी साहित्य को समेट लिया है और उपसहार मे उसका आकलन किया है। 'परिशिष्ट' मे उन विदेशी प्रेरणा-स्रोतो का परिचय प्रस्तुत किया है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विवेच्य काल के काव्य-साहित्य को प्रभावित करते रहे है।

समग्र भाव से देखे तो यह एक महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध है। छायावाद के बाद के समस्त काव्य का यह विशद अध्ययन प्रस्तुत करता है। लेखक ने सभी प्रकार की धाराओ और उनके कवियो का विभिन्न समीक्षको के मतो के आलोक मे समग्र परिचय प्रस्तुत करते हुए आकलन करना चाहा है। आकलन के अवसर पर उसकी सामाजिक दृष्टि सदैव सजग रही है इसीलिए उसने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सामाजिक भाव-धारा और दृष्टियो वाले कवियो और धाराओ को अधिक महत्त्व दिया है। और इसीलिए शायद उसने व्यक्तिवादी धाराओ का शुद्ध साहित्यिक उपलब्धियो के अन्वेषण के स्थान पर उनकी क्षयोन्मुख रोमानी दृष्टि, निराशा-पराजयवादी भावना का अवलोकन अधिक किया है। प्रगतिवादी होने के नाते ही शील जी कैसे सुकवि हो गये और व्यक्तिवादी होने के नाते बच्चन और प्रयोगवादी कवियो की कविताए कुछ कम महत्त्व की हो गयी इसकी परीक्षा अधिक साहित्यिक भूमि पर होनी चाहिए। स्पष्ट है कि सामाजिक या व्यक्तिवादी जैसी धारणाए अपने स्थूल रूप मे साहित्यिक स्तर पर बहुत मान्यता नही प्राप्त कर सकती। प्रयोगवादी कविता का क्षणवाद साहित्य के क्षेत्र मे एक उपलब्धि है। प्रयोगवादी कविता और नयी कविता ने क्षण की अनुभूतियो को लेकर, व्यक्ति-मन के अनेक अदृश्य सत्यो को लेकर छोटी-छोटी तीव्र कविताए लिखी जो लम्बी, स्फीत, स्वानुभूति-शून्य सामाजिक कविताओ की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली और मूल्यवान् है। क्षणवाद ने जीवन की अनेक छवियो को साहित्य के माध्यम से रूपायित किया है।

ये कुछ ऐसे स्थल है जहा लेखक से अन्य विचारको के मतभेद हो सकते है। कुछ लोग यह भी चाह सकते है कि काश! लेखक विवेचन की और गहराई मे उतरा होता! लेकिन ये सब अप्रस्तुत बाते है इनसे प्रस्तुत का महत्त्व कम नही होता। मै प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को एक मूल्यवान् प्रकाशन मानता हू, इसका स्वागत होना चाहिए!

आधुनिक हिन्दी-कविता में अलंकार-विधान

डॉ० ओप्रकाश शर्मा

आलोचना-शास्त्र के आदिकाल से ही काव्य मे अलकारो के महत्त्व को लेकर मतभद रहा है। इस विवाद का लम्बा इतिहास स्वय अलकारो के महत्व का ही प्रतिपादक है। रीतिकाल के कविगण की तो काव्य-सर्जन के मूल मे भी अलकार-दृष्टि की प्रधानता रही। आधुनिक काल मे भारतेन्दु और द्विवेदी युग मे भी अलकारो को महत्त्व प्राप्त रहा। छायावादी युग ने अलकारो को अपने ढग मे स्वीकृत किया। हिन्दी के प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कवियो की दृष्टि मे अलकार का स्थान अत्यन्त गौण हो गया पर सत्य यह है कि यह बात केवल सिद्धात-कथन तक ही सीमित है। अलकार-रहित काव्य करना तो उनके लिये भी प्राय असम्भव रहा है। स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी-कविता मे अलकार विधान के अध्ययन की आवश्यकता महत्त्वपूर्ण थी और उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की रचना हुई है। इस शोध-प्रबन्ध से पूर्व भी हिन्दी मे अलकारो के सम्बन्ध मे पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है। अनेक प्राचीन कवियो का इस दृष्टि से अध्ययन हो चुका है। अलकार-साहित्य के अनेक इतिहास भी लिखे गये है। आचार्य रामदहिन मिश्र, डॉ० रामशकर शुक्ल 'रसाल', आचार्य डॉ० नगेन्द्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, डा० ओप्रकाश आदि अनेक विद्वानो के अध्ययन-ग्रन्थ प्रस्तुत ग्रथ के लेखन की पृष्ठभूमि मे मार्गदर्शक रहे है। इन्ही की परम्परा मे इस ग्रथ की उपलब्धियो पर विचार करना अपेक्षित होगा।

इस ग्रथ का विषय-क्रम निम्नलिखित है —

प्रथम खण्ड—(१) अलकरण (२) अलकार-वर्गीकरण (३) सस्कृत-अलकार-साहित्य (४) हिन्दी-अलकार-साहित्य।

द्वितीय खड—(५) आधुनिक हिन्दी-कविता मे उपमान योजना (६) आधुनिक हिन्दी-कविता मे प्रतीक-योजना (७) आधुनिक हिन्दी-कविता मे प्राचीन अलकारो का स्वरूप (८) आधुनिक अलकृत उक्तिया और शब्दशक्ति (९) आधुनिक अलकृत उक्तियो मे भाव और वस्तु-व्यजना (१०) उपसहार।

लेखक डॉ० जगदीशनारायण त्रिपाठी।
प्रकाशक अनुसन्धान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर।
मूल्य १५ रुपये।

'अलकरण' नामक अध्याय मे मानव-जीवन की अलकरण-प्रवृत्ति का विस्तृत विवेचन किया गया है। शरीर सजाने से लेकर मस्तिष्क सजाने तक की प्रवृत्ति का क्रमिक उल्लेख करते हुए अनुसन्धानकर्त्ता काव्य मे प्रयुक्त होने वाले अलकार के लक्षण-विवेचन की ओर प्रवृत्त हो गये है। अलकार-लक्षण मे परम्परा का निर्वाह किया गया है। वेदव्यास-भामह से लेकर सुमित्रानन्दन पन्त तक के अलकार सम्बन्धी विचारो का उल्लेख है। अलकार-अलकार्य के सम्बन्ध मे क्रोचे के मत के साथ-साथ भारतीय मतो की समीक्षा की गई है। अलकारो का रसानुभूति, मनोविज्ञान तथा प्रतीक से सम्बन्ध-विवेचन भी सप्रमाण एव परम्परागत पद्धति से किया गया है।

इस अध्याय मे तीन बिन्दुओ पर ध्यान केन्द्रित होता है। (१) अलकार-लक्षण (२) अलकार-अलकार्य-सम्बन्ध (३) अलकार तथा अन्य काव्यशास्त्रीय विषयो का पारस्परिक सम्बन्ध। अलकार-लक्षणो मे परम्परा-निर्देश तो प्रस्तुत है ही परन्तु हिन्दी-अनुवाद अत्यन्त शिथिल है। सस्कृत की शब्दावली का भावानुवाद भी ठीक नही बना। उदाहरण के लिए—

(१) भामह — न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनितामुखम्।

अनुवाद —सुन्दर होने पर भी भूषण के बिना नारी के मुख पर कान्ति नही आती।

(२) भोज —अलकृतमपि श्रव्य न काव्य गुणवर्जितम्।

अनुवाद —अलकृत होने पर भी गुणवर्जित काव्य सुनने मे अच्छा नही लगता। भोज के श्लोकपाद मे 'श्रव्य' पद 'काव्य' का विशेषण है न कि क्रियापद-वाचक।

इसी प्रकार दण्डी, उद्भट तथा क्षेमेन्द्र की उक्तियो । हिन्दी-अनुवाद शिथिल है।

अलकार और अलकार्य वाले प्रसग मे लेखक ने क्रोचे, भामह, दण्डी, कुन्तक, आचार्य शुक्ल तथा डा०नगेन्द्र के मतो का उल्लेख किया है, परन्तु लेखक ने अपना निष्कर्ष नही दिया है। रसानुभूति मे अलकारो के सम्बन्ध का प्रसग आचार्य शुक्ल के "कविता क्या है"? निबन्ध का सार-सचय है। सस्कृत-साहित्य मे रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य-सम्प्रदाय मे रसानुभूति और अलकार के सम्बन्ध मे विशद विवेचन किया गया है। रस और अलकार के सम्बन्ध मे आचार्य भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र मे (१६—११०) विशिष्ट अलकारो का प्रयोग विशिष्ट रसो के लिये निर्दिष्ट किया है। रीति-काल मे शिवप्रसाद के 'रस-भूषण' ग्रथ मे भी विभिन्न रसो के साथ विभिन्न अलकारो का निकट सम्बन्ध विवेचित है। शोधकर्ता से सस्कृत एव रीतिकालिक आलकारिको के ग्रथो का गहन मन्थन अपेक्षित था। मनोविज्ञान एव प्रतीक वाले प्रसग मे भी केवल परम्परा का निर्वाह किया गया है, अथवा डॉ० नगेन्द्र की स्थापनाओ के उद्धरण तथा अग्रेजी भाषा के लम्बे अनुच्छेदो का भावानुवाद है। अपह्नुति, व्याजनिन्दा, व्याजस्तुति, प्रत्यनीक, अप्रस्तुत

प्रशसा, तद्गुण, मीलित, जैसे अलकार तथा उनके भेद मनोविज्ञान के आधार से मानव की विभिन्न चित्तवृत्तियो को चमत्कृत करने मे क्यो समर्थ हुए ? इस विषय पर विवेचना अपेक्षित थी। सभी अलकारो का अपना मनोवैज्ञानिक इतिहास है। लेखक ने यदि इस ओर ध्यान दिया होता तो यह अध्याय शोध-साहित्य के लिए नवीन सामग्री प्रदान करने वाला बनता, परप्रमाणजीवी न रहता।

अलकार-वर्गीकरण वाले अध्याय मे सस्कृत-हिन्दी परम्परा का क्रमिक उल्लेख है। अन्त मे लेखक ने स्वय एक स्थूल वर्गीकरण दिया है। लेखक ने सादृश्यमूल, विरोध-मूल, शृखलाबद्ध, न्यायमूल तथा गूढार्थ-प्रतीतिमूल वर्गों मे ६६ अलकारो को विभक्त कर इस वर्गीकरण को वैज्ञानिक माना है। तब वैज्ञानिकता के हाथ से शेष ५६ अलकार क्यो बच गए है ? १२३ अलकार तो कुवलयानन्दकार ने ही दिये है। अलकार-वर्गीकरण मे वैज्ञानिकता का दावा उचित सीमा मे ही किया जाना चाहिए।

सस्कृत-अलकार-साहित्य नामक अध्याय मे लेखक ने विस्तृत विवेचन किया है। परन्तु सस्कृत-साहित्य मे भरत-निर्दिष्ट चार अलकार क्यो अप्पय्यदीक्षित, नरसिह कवि तक १२५ सख्या तक बढते चले गये तथा किन सामाजिक, राजनीनिक तथा मनोवैज्ञानिक परिस्थितियो ने कवि-मन को प्रभावित किया, जिसमे अलकारो की सख्या इतनी हो गई ? लेखक ने आचार्य विश्वेश्वर कृत 'काव्य-प्रकाश' की टीका के भूमिका-भाग को अपना आदर्श मान कर पुनरावृत्ति का जो कार्य किया है, उसे शोध-कार्य मानना औचित्य-सीमा मे नही आता। शोभाकर के 'अलकार रत्नाकर' ग्रथ को अप्राप्य लिखना भी समुचित नही है। यह ग्रन्थ प्रकाशित रूप मे ही उपलब्ध है।

हिन्दी-अलकार-साहित्य-विवेचन की दशा भी सस्कृत-अलकार-साहित्य सरीखी है। वही परम्परा-निर्वाह मात्र ! डॉ० भगीरथ मिश्र द्वारा किए कार्य को आगे बढाने का वहा भी किचिन्मात्र प्रयास नही हुआ। लेखक ने किसी अप्रकाशित मौलिक ग्रथ को देखने की आवश्यकता का अनुभव किया प्रतीत नही होता। अन्यथा वे कभी न लिखते कि दतिया-निवासी शिवप्रसाद का 'रस भूषण' रस-विवेचन-सम्बन्धी ग्रथ है (पृष्ठ १०२)। यह ग्रथ अलकार-विवेचन का है। ग्रथ के अन्तिम दो पृष्ठो मे विशिष्ट रसो से सम्बद्ध विशिष्ट अलकारो का विवेचन है। ग्रथ तो नायिका-नायक-भेदो को लेकर चलता है और भेदोपभेदगत अलकारो को इन नायिका-नायक-भदो मे उदाहरण-सहित समन्वित करता है। शिवप्रसाद ने हास्य मे व्याजस्तुति, करुण मे प्रथम विषम, रौद्र मे रूपक, वीर रस मे वस्तूत्प्रेक्षा, भयानक मे अतिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा का सकर, बीभत्स मे विभावना, अद्भुत मे सम्भावना और शान्त रस मे भेदकातिशयोक्ति नामक अलकार विशेष का विवेचन किया है। इसी प्रकार इस ग्रथ मे भ्रातिवश सेवादास के रघुनाथालकार का नाम 'काव्याभरण' लिखा गया है। 'काव्याभरण' चन्दन कविकृत कुवलयानन्द ग्रथ का अनुवाद है। रीतिकाल मे २३ नए अलकार हिन्दी काव्यशास्त्र मे आए। दो सौ वर्षों मे इतने अलकार पर्याप्त हैं। लेखक ने इन नवीन अलकारो को भी नही परखा

या तो लेखक अलकारो की पूर्व-परम्परा मे प्रवृत्त न होता और यदि उसने यह कार्य स्वीकृत किया, तो उसे शोध मे प्रामाणिक होने की आवश्यकता थी।

ग्रथ के द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्याय मे आधुनिक हिन्दी कविता मे उपमान-योजना का विस्तार से समीक्षण किया गया है। उपमान-योजना के विवेचन-हेतु आधुनिक काव्य को (१) द्विवेदी युग, (२) छायावाद युग तथा (३) प्रगति-प्रयोगवाद युग मे विभक्त किया गया है। इन तीनो युगो मे द्विवेदी-युग के काव्य के उपमान-योजना वाले उदाहरण थोडे है, परन्तु छायावाद-युग तथा परवर्ती काव्य के उदाहरण प्रचुर मात्रा मे है। छायावाद का युग ही उपमान-विलक्षणता से विभूषित है। अत इस अध्याय मे लेखक ने अपने विवेचन के स्तर को ऊचा उठाया है। कामायनी, परिमल, ग्रथि, पल्लव, यामा, रसवती, झरना, आसू, अणिमा, अनामिका, एकान्त-सगीत, द्वापर, युगवाणी तथा प्रथम तारसप्तक जैसे काव्य-ग्रथो के पद्यो को उद्धृत करके उनमे प्रयुक्त उपमानो का सूक्ष्म विवेचन-निरीक्षण है। आधुनिक कविता मे उपमान-विलक्षणता एक सीमा तक पश्चिम के प्रभाव से आई है। इन्ही पूर्वी-पश्चिमी शास्त्रीय आधारो पर लेखक ने अपना अध्ययन कवि-परम्परा से नही अपितु कृतियो की विविधता से किया है, जो सूझ का निर्देशक है। लेखक ने अधिक उपमान प्रसाद, पन्त, निराला तथा महादेवी वर्मा की काव्य-कृतियो से ही निर्दिष्ट किये है। छायावाद-युग के रामकुमार वर्मा, उदयशकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, बालकृष्ण राव, आरसीप्रसाद सिह, नरेन्द्र शर्मा आदि ख्यातनामा कवि भी है। उनके तात्कालिक काव्य मे भी उपमान-योजना की न्यूनता नही। कुछ प्रमुख कवियो के काव्य-ग्रथो को लेने से उस पूरे युग का चित्र नही उभरता। इतना ही नही, छायावाद-युग मे काव्य की अन्य प्रवृत्तिया भी थी। राष्ट्रीय भावो से ओत-प्रोत काव्य भी तो लिखा गया। उस क्षेत्र को भी लेखक द्वारा अछूता न छोडा जाता तो विवेचना-क्षेत्र का विस्तार अधिक प्रभावशाली बन जाता।

"आधुनिक हिन्दी-कविता मे प्रतीक-विधान" सम्बन्धी अध्याय मे प्रतीकवाद का इतिहास देकर प्रयोगवादी युग तक की प्रतीक-योजना का विशद विवेचन किया गया है। प्रतीको की परम्परा मे नवीनता युगानुकूल आती है। प्रगतिवादी युग मे औद्योगिक जगत् के प्रतीक, विवेचना के लिए नये आधार लेकर आए है, जब कि छायावादी युग के प्रतीक अमूर्त और प्रकृति से लिये गये है। इसलिए लेखक का प्रतीक-विवेचन इन स्थलो पर प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। तथापि उपमान और प्रतीक योजना वाले दो अध्याय एक हो जाते तो पुनरावृत्ति का अवकाश न रहता।

"आधुनिक हिन्दी-कविता मे प्राचीन अलकारो का स्वरूप" अध्याय भी पुनरावृत्ति ही है। उपमान-योजना और प्रतीक-योजना वाले अध्यायो मे प्राचीन अलकारो के लिये सर्वथा अवकाश है। उपमान एव प्रतीको के जीवन-रस मे अलकार अपना चमत्कार दिखाते है। इस अध्याय की सगति शोध-परम्परा की दृष्टि से सगत नही बैठती। अध्याय के अन्त मे मानवीकरण तथा विशेषण-विपर्यय जैसे अंग्रेजी-साहित्य से प्राप्त अलकारो

को भी प्राचीन अलकारो की माला मे क्यो पिरो दिया है और दोनो का एक साथ विवेचन किस कारण किया गया है। इस असगति का निवारण इन नवीन अलकारो की विवेचना-हेतु नया अध्याय बना कर ही हो सकता था। प्राचीन-नवीन मिश्रण से नही।

शब्द-शक्तियो, भाव और वस्तु-योजना का अलकारो से सम्बन्ध सिद्ध करने वाले अध्याय-विवेचन की दृष्टि से नवीन है। सस्कृत तथा हिन्दी-काव्यशास्त्र मे शब्द-शक्तियो का अलकारो से सम्बद्ध विवेचन परिष्कृत एव गभीर है। अलकारो का शब्द-शक्तियो से प्रगाढ सम्बन्ध है। रूपक लक्षण का आभारी है। व्यजना तो व्यग्यमूलक अलकारो के लिए आधारशिला है। आधुनिक कविता मे लक्षणा-व्यजना शक्तियो का प्रयोग प्राचीन काव्य की अपेक्षा अधिक समृद्ध मात्रा मे हुआ। इसलिए ये दोनो अध्याय आधुनिक कविता की शब्द-शक्ति, भाव एव वस्तु-व्यजना की दृष्टि से समीक्षा के कारण महत्त्वपूर्ण है।

अग्रेजी-साहित्य तथा अग्रेजी भाषा के माध्यम से अन्य देशो के साहित्य का प्रभाव आधुनिक हिन्दी-कविता पर निर्विवाद रूप से स्वीकृत है। इसलिए नवीन उपमान, नवीन प्रतीक तथा नवीन भाव-व्यजना युगानुकूल आवश्यक है। इतने पर भी इस ग्रथ के लेखक ने भारतीय एव पश्चिमी काव्य-शास्त्र के समन्वित रूप से आधुनिक हिन्दी-कविता मे अलकार-विधान का जो विवेचन किया है वह उच्च कोटि का है।

हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक

डॉ० देवर्षि सनाढ्य

'हिन्दी के पौराणिक नाटक' नामक पुस्तिका मे इन पक्तियो के लेखक ने एक धारणा बनाई थी कि नाटको के विभिन्न वर्गो को लेकर विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता' है। इस धारणा को 'हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक' नामक शोध-प्रबन्ध से और बल प्राप्त हुआ है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के निर्देशन मे डॉ० दशरथ सिह ने पीएच० डी० के निमित्त यह शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया है। इस शोध-प्रबन्ध के 'आमुख' मे आचार्य वाजपेयी ने जो स्पष्टीकरण दिया है, उससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ 'आधुनिक युग के विविध साहित्यिक आन्दोलनो और उनसे विस्तृत कलाशैलियो मे से प्रत्येक को इकाई मान कर शोध-कार्य ' की परम्परा मे लिखा गया है। आचार्य वाजपेयी के शब्दो मे 'यह प्रबन्ध स्वच्छन्दतावादी नाट्यकृतियो के समग्र विवेचन मे सफल' है। डॉ०राम-अवध द्विवेदी ने 'भूमिका' मे इसे अद्वितीय 'स्वच्छन्दतावादी नाट्यपरम्परा का सर्वांगीण अध्ययन' घोषित किया है।

इस शोध-प्रबन्ध के २४६ पृष्ठ नौ अध्यायो तथा एक 'उपसहार'—शीर्षक अन्तिम अध्याय मे विभाजित है। प्रथम अध्याय के 'अ' तथा 'ब'—दो खण्ड है। यह अध्याय शास्त्रीय मान्यताओ का ज्ञान कराने के निमित्त है। लेखक ने इसके 'अ' खण्ड मे न केवल 'यूरोपीय शास्त्रीय परम्परा और स्वच्छन्दतावाद के प्रमुख सिद्धात और उनका तात्त्विक भेद' ही बताया है, प्रत्युत् 'यूरोप मे शास्त्रीय नाटको की परम्परा' और 'योरोपीय शास्त्रीय नाट्यतत्त्व' के परिचय के साथ 'भारतीय नाट्यतत्त्व' का भी परिचय दे दिया है। 'ब' खण्ड मे 'पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी नाटको का विकास' दिया गया है तथा रोमाटिसिज्म (स्वच्छन्दतावाद) का विवेचन करके लेखक ने 'स्वच्छन्दतावादी नाटकों की विशेषताए' भी बताई है और अन्त मे किस प्रकार ऐतिहासिक नाटको मे भी स्वच्छन्दतावादी तत्त्वो का समावेश हो जाता है, यह स्पष्ट किया है।

द्वितीय अध्याय मे हिन्दी-नाटको मे स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियो का विकास दिखाया गया है। तृतीय अध्याय मे जयशकरप्रसाद के नाटको मे स्वच्छन्दतावाद की स्थापना की गई है और 'प्रसाद' को स्वच्छन्दतावादी नाट्य-परम्परा का उन्नायक माना गया है। चतुर्थ अध्याय मे प्रसाद के नाटको की कलात्मक समीक्षा है।

लेखक डॉ० दशरथसिह
प्रकाशक विद्यामन्दिर, वाराणसी
मूल्य ६ ५० रुपये

अवशिष्ट ५—९ अध्यायो मे क्रमश हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशकर भट्ट, गोविन्द बल्लभ पन्त, वृन्दावन लाल वर्मा, और रामकुमार वर्मा के नाटको का आलोचनात्मक परिचय है। उपसहार मे लेखक ने स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की सार्वभौमता तथा शाश्वतता सिद्ध की है तथा अपने शोध-प्रबन्ध की दिशाओ के विषय मे स्पष्टीकरण दिया है।

हिन्दी मे जो पीएच० डी० के शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हो रहे हैं, उन्हे देखते हुए यह ग्रन्थ आकार मे छोटा ही है। ग्रन्थ के 'अपेक्षाकृत लघु आकार' की ओर शोध के निर्देशक महोदय का ध्यान भी गया है, परन्तु ग्रन्थ मे हुए 'उपलब्ध सामग्री के विशिष्ट उपयोग' ने उन्हे सन्तोष दे दिया है।

× × ×

आलोच्य शोध-प्रबन्ध मे स्वच्छन्दतावाद-विषयक मान्यताओ का विशिष्ट परिचय दिया गया है। 'रोमाटिसिज्म' का हिन्दी-पर्याय 'स्वच्छन्दतावाद' सम्भवत विवेचनात्मक रूप मे सब से पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास मे प्रयुक्त हुआ है। तब से यह शब्द हिन्दी-जगत् मे लगभग इसी अर्थ मे मान्य है। डा० सिह ने स्वच्छन्दतावाद मे स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति को ही स्वाभाविकतया विशेष रूप से स्वीकार किया है। स्वच्छन्दता अर्थात् शास्त्रीय परम्पराओ से अलग हटकर रचना मे प्रवृत्त होना। अपनी इस मान्यता को उन्होने 'निकल' के कथन से पुष्ट किया है। स्वच्छन्दतावादी कृती विषया, विषय-प्रतिपादन की शैली आदि शास्त्रीय परम्पराओ से मुक्त होकर रचना के आन्तरिक सौष्ठव की ओर विशेष ध्यान देता है। डा० सिह ने विद्वत्तापूर्ण विवेचना कर के मत बनाया है कि 'स्वच्छन्दतावादी नाटक परम्परा और प्राचीन नियमो से नितान्त मुक्त है। वह शास्त्रीय बन्धनो को अस्वीकार करता है। तीनो अन्वितियो की प्राय अवहेलना की जाती है।'

इस मान्यता के आधार पर लेखक ने हिन्दी-नाटको मे बडे परिश्रम के साथ स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियो का अनुसन्धान किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही नाटको मे किस प्रकार शनै -शनै यह प्रवृत्ति विकसित हुई और आज किस प्रकार हिन्दी-नाटक मे यह प्रवृत्ति मूर्धन्य रूप से प्रतिष्ठित हो गई है, इसका क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ मे हुआ है। भारतेन्दु युग के नाटको मे यह प्रवृत्ति सामान्यत शेक्सपियर के अनूदित नाटको से आई, बगला-नाटको से इसे बल मिला और अनेक सामाजिक परिस्थितियो ने इसे साहित्य मे प्रतिष्ठित कर दिया। छायावाद-काल मे स्वच्छन्दतावादी साहित्य का चरम विकास हुआ। नाटक-क्षेत्र मे यद्यपि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का सुन्दर रूप प्राप्त हो गया है, परन्तु अभी उसे उत्थान की अन्तिम सीढी पर पहुचना शेष है। लेखक की इस मान्यता का आधार सभवत इस ग्रन्थ के ५—९ अध्याय है, जिनमे उसने अपनी समझ से कुछ विशिष्ट नाटककारो के नाटको को कसौटी पर रक्खा है और उससे परिणाम प्राप्त किया है।

सक्षेप मे—नाटको के विभिन्न वर्गों या प्रवृत्तियो को ध्यान मे रख कर विवेचन करने की जो प्रवृत्ति चली है, 'हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक' शोध-प्रबन्ध स्वागत करने योग्य कृति है और इसके कृती को इसका श्रेय मिलना चाहिए।

× × ×

केवल शास्त्रीय परम्पराओ से अलग हटना ही स्वच्छन्दतावाद नही है, उसके अन्य उपकरण भी है। यद्यपि विषय-वस्तु के ग्रहण करने मे किसी शास्त्रीय मान्यता को प्रश्रय देना स्वच्छन्दतावाद मे सम्भव नही है, परन्तु डॉ० सिह के विवेचन के अनुसार 'कुछ ऐसे विषय है, जो स्वच्छन्दतावादी अभिव्यक्ति के लिए अधिक समीचीन होते है।' ऐसे विषयो मे डॉ० सिह ने मानव-प्रेम, प्रकृति-प्रेम आदि विषयो की गणना की है, 'जिनमे कल्पना की क्रिया और तीव्र अनुभूतियो की अभिव्यक्ति की पर्याप्त सम्भावना हो।' डॉ० सिह ने इसी आधार पर हिन्दी-नाटको मे स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का विवेचन किया है। विवेचन के विषय मे मतभेद हो सकता है, परन्तु डॉ० सिह की दृष्टि भी, पूर्णत निर्भ्रान्त न होते हुए भी, एक प्रकार से अयुक्त नही है। शोधार्थी की तीव्र अनुसदिधित्सा उसमे प्राप्त होती है। परन्तु इस अध्ययन को एक सामान्य पाठक की दृष्टि से देखने पर कुछ प्रश्न उठ जाते है।

सबसे पहले शोध-प्रबन्ध के नामकरण का प्रश्न आता है। ग्रन्थ का नाम है–'हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक'। 'आमुख' तथा 'भूमिका' के विद्वान् सम्मान्य लेखको ने 'स्वच्छन्दतावादी नाट्य-कृतिया' तथा 'स्वच्छन्दतावादी नाट्य-परम्परा', 'स्वच्छन्दतावादी नाटक' आदि शब्दो का प्रयोग किया है। शोधकर्त्ता की मान्यता है कि हिन्दी मे स्वच्छन्दतावादी नाटको का एक वर्ग है। प्रत्येक पाठक भी इस ग्रन्थ के नामकरण से इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ मे हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक-वर्ग का परिचय दिया गया है। यही एक प्रश्न उठ जाता है। नाटक-साहित्य पर कार्य करने वाले अनेक विद्वानो ने हिन्दी नाटको का वर्गीकरण किया है। नाटको का वर्ग स्थापित करने मे किसी ने कथावस्तु को आधार माना है, किसी ने नायक को और किसी-किसी ने रस को। वर्गीकरण की इस प्रवृत्ति को 'दशरूपक' के कर्त्ता धनजय ने बहुत पहले घोषित किया था—'वस्तु नेता रसस्तेषा मेदक'। वर्गीकरण के इस आधार मे स्पष्टता है। इन आधारो को लेकर वर्गीकरण करने से नाटको के पृथक्-पृथक् वर्ग बन जाते है। जहा तक 'स्वच्छन्दतावाद' का प्रश्न है, यह एक प्रवृत्ति हो सकती है, एक पृथक् वर्ग बनाने का आधार नही। शास्त्रीय परम्परा से हटना, मानव-प्रेम, प्रकृति-प्रेम तथा अन्य रोमाटिक प्रवृत्तिया किसी न किसी रूप मे अधिकाश साहित्य मे —नाटको मे प्राप्त हो जाती हैं। सच्चा साहित्य कभी किसी घिसी-पिटी परम्परा को लेकर लिखा ही नही जा सकता। भारत मे बहुत पूर्व 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' कह कर 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के कवि कालिदास ने शास्त्रीय परम्परा से अलग हटने की प्रवृत्ति घोषित कर दी थी। और फिर ये तथाकथित स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तिया भास, कालिदास, भवभूति, जयदेव आदि सस्कृत-नाटककारो

मे भी पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त हो जायेगी। (डा० सिंह भी ऐसा स्वीकार करते है।) थोडी-बहुत मात्रा मे तो ये हिन्दी के प्राचीन नाटक 'आनन्दरघुनन्दन' मे भी प्राप्त हो जायेगी। हिन्दी के भारतेन्दु के समकालीन नाटको मे तो डॉ० सिंह ने भी इन्हे खोज निकाला है। ऐसी स्थिति मे स्वच्छन्दतावादी वर्ग मानना उचित नही है, यह एक प्रवृत्ति मात्र है, जिसकी खोज अपेक्षित थी और 'हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक' मे की गई है। यदि यह खोज 'हिन्दी नाटको मे स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति' नाम से प्रकाशित होती तो अधिक समीचीन होता।

दूसरा प्रश्न ५—९ अध्यायो के विषय मे उठता है। इनमे कुछ प्रमुख नाटककारो की कृतियो मे स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति खोजी गई है तथा आलोचना भी की गई है। यह समझ मे नही आता कि कुछ नाटककारो तक ही शोधकर्त्ता सीमित क्यो रहा है? स्वच्छन्दतावादी नाटक—यदि वर्ग रूप मे है तो—और भी है, इतने ही नही है। जहा तक विशिष्ट नाटककारो की नामावली का प्रश्न है, लक्ष्मीनारायण मिश्र की ओर ध्यान देना अनिवार्य था। एक अध्याय की अपेक्षा उनकी कृतिया भी करती थी। डॉ० सिंह के सम्पूर्ण शोध-ग्रन्थ मे लक्ष्मीनारायण मिश्र का तथा उनके नाटको का कोई उल्लेख नही है। डॉ० सिंह के द्वारा निर्धारित स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तिया उनके अनेक नाटको मे पूर्णरूप से प्राप्त है। केवल एक नाम ही उदाहरण के लिए लेना पर्याप्त होगा—'नारद की वीणा।'

वास्तव मे कुछ नाटककारो की कृतियो को प्रमुखता देकर स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का अध्ययन करना ही एक भ्रान्त दिशा है। मुख्यता कृतियो की आलोचना को नही, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियो को मिलनी चाहिए। स्वच्छन्दतावाद के कुछ मुख्य आधारो को एक-एक अध्याय बना कर विभिन्न नाटको मे खोजना उचित होता। उदाहरण के लिए शास्त्रीय प्रवृत्तियो की अमान्यता, प्रकृति, मानव, आदि शीर्षको के अन्तर्गत हिन्दी के नाट्य-साहित्य मे स्वच्छन्दतावाद का अन्वेषण होना उचित है।

डा० सिंह की आलोचना शैली भी स्तुतिगान जैसी ही है। प्रसाद का 'नाटक पग-पग पर स्वच्छन्दतावादी तत्त्वो से भरा दीखता है।' 'हिन्दी के मूर्धन्य नाटककारो मे प्रेमी जी का उचित स्थान है।' 'भट्ट जी आधुनिक नाट्यसाहित्य के इतिहास मे एक महत्त्व के मील के पत्थर है।' 'गोविन्दवल्लभ पन्त एक उत्कृष्ट नाटककार सिद्ध होते है।' डॉ० वृन्दावनलाल के नाटको के तथ्य और स्थल 'स्वच्छन्दतावादी प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता रखते है।' डॉ० राम कुमार वर्मा मे 'स्वच्छन्दतावादी शैली के नाटको को लिखने की यथेष्ट क्षमता है।' आदि-आदि।

यह प्रणाली छात्रोपयोगी प्रश्नो के उत्तरो जैसी है, किसी गम्भीर शोध-प्रबन्ध के लिए उपयुक्त नही। तात्पर्य यह नही समझना चाहिए कि ये नाटककार श्रेष्ठ और प्रशस्य नही है, परन्तु यह स्थल इस प्रशसा और स्तुति का नही है।

ये उन प्रश्नो के कुछ उदाहरण है, जो एक पाठक के मन मे प्रस्तुत शोध का अध्ययन करने के उपरान्त बन जाते है। शोधकर्त्ता की दृष्टि विषय-प्रतिपादन मे निर्भ्रान्त, निष्पक्ष तथा तटस्थ होनी चाहिए, अन्यथा वह गरिमा खो बैठती है।

ग्रन्थ के प्रति कुछ सामान्य असन्तोष और भी उठते है, इनका उपशम सरलता से हो सकता है। 'उपसहार' मे कुछ परिवर्तन करके उसे 'प्रस्तावना' रूप मे उपस्थित करना अधिक उपयुक्त होता। सहायक-ग्रन्थो की सूची मे यदि प्रयुक्त-स्थल का सकेत—पृष्ठ सख्या आदि—कर दिया जाता तो पाठक की दृष्टि से अधिक सुविधाजनक होता तथा शोध-ग्रन्थ की प्रामाणिकता भी बढ जाती।

सबसे बडा असन्तोष मुद्रण की अशुद्धियो से उत्पन्न होता है। वे इतनी भयकर है कि कभी-कभी तो यह धारणा बनने लगती है कि लेखक ने ही जान-बूझ कर ऐसा लिखा है, ये मुद्रण की भूले नही है, शोध-कर्त्ता की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के अनिवार्य परिणाम है। एक सिरे से 'पचम्', 'सप्तम्' 'अष्टम्' और 'नवम्' लिखा जाना, 'महत्त्व' और 'तत्त्व' का 'महत्व' और 'तत्व' लिखना, 'चरमोत्कर्ष' का 'चर्मोत्कर्ष' प्रयोग आदि क्या प्रेस की भूतलीला मात्र ही है?

प्रष्टव्य तो और भी बहुत कुछ है—उदाहरण के लिए भारतीय नाट्यतत्त्वो का प्रश्न। क्या भारतीय आचार्यो ने वस्तु, नेता और रस को नाट्यतत्त्व माना है? डॉ० सिह की सिद्धान्तगत मान्यता तो यह है कि 'रसाभिनय की दृष्टि से इन सब मे समानता होने पर भी वस्तु, नेता और रस की दृष्टि से भेद हो जाता है।' पर वस्तु, नेता, रस को 'भेदक' कहते हुए भी वे विचार इन पर नाट्य-तत्त्वो की दृष्टि से करते है। पर यह दोष उनका नही है। हिन्दी के नाट्याचार्यो मे ही यह भ्रम फैला हुआ है। वस्तु, नेता और रस के चक्र मे ही अधिकाश विद्वान फसे रहे है, भरतमुनि के पाठ्य, गीत, अभिनय और रस की ओर तो किसी-किसी का ध्यान गया है।

जैसी इस प्रबन्ध की घोषणा है, नाटक की विभिन्न प्रवृत्तियो को आधार मान कर अभी अनुसन्धान हो रहा है, होगा। आशा है, उन अनुसन्धानो के परिणाम पाठक के मन मे इस प्रकार की भ्रातिया उत्पन्न न करेगे और ऐसे प्रश्नो का समाधान पाठक के निकट लेकर आ सकेंगे।

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास

डॉ० रणवीर रांग्रा

प्रस्तुत ग्रन्थ डा० कैलाश प्रकाश का शोध-प्रबन्ध है जिस पर दिल्ली विश्वविद्यालय ने उन्हे पीएच० डी० की उपाधि प्रदान की है। इस प्रबन्ध मे सन् १९१८ ई० तक के प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास को विवेचना का विषय बनाया गया है। सामान्यत देखें तो यह विषय बहुत ही सरल लगता है और मन मे यह प्रश्न भी उठने को होता है कि क्या प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी-उपन्यास इतना विपुल और समृद्ध है कि उसे पी-एच० डी० के लिए शोध का विषय वनाया जाए। शायद इसीलिए प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास अब तक अछूता रहा है, प्रासगिक रूप मे छुआ भी गया है तो उसके प्रति न्याय नही हो सका है। वास्तव मे, प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास का सम्यक् विवेचन उतना सरल नही, जितना दीखता है। उसमे पहली और सब मे वडी कठिनाई है उस युग की आलोच्य सामग्री प्राप्त करने की। उस युग के अधिकाश उपन्यास अनुपलब्ध है। उन्हे ढूढ निकालना अपने-आप मे एक उपलब्धि है। वे मिल जाए तो उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपना सकना दूसरी कठिनाई है जिसमे पार पाना आज के आलोचक के लिए दुष्कर है। प्रस्तुत प्रबन्ध इन दोनो कठिनाइयो से जूझने मे समर्थ रहा है, यह बहुत वडी बात है।

इस प्रबन्ध मे पाच अध्याय है। पहले "उपन्यास या नॉवेल" वाले अध्याय मे उपन्यास की परिभाषा, साहित्य की अन्य विधाओं से इसकी तुलना, उसके तत्त्वो का विवेचन और वर्गीकरण सम्बन्धी चर्चा है। दूसरे अध्याय मे उस युग के उपन्यासो की पृष्ठभूमि देते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि मध्ययुगीन कथा-साहित्य से उपन्यास का सम्बन्ध जोडना भ्रामक है। इसी अध्याय मे प्रेमचन्द-पूर्व युग के उपन्यास-साहित्य को सामाजिक ऐतिहासिक, और घटनात्मक तीन वर्गों मे वाटा गया है और अगले अध्यायो मे एक-एक करके उन वर्गो पर विवेचन किया गया है। तीसरे अध्याय मे सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखी गई किशोरीलाल गोस्वामी, लज्जाराम शर्मा, गगा प्रसाद गुप्त, रुद्रदत्त शर्मा, श्यामकिशोर वर्मा, अयोध्या सिह उपाध्याय आदि अनेक उपन्यासकारो की रचनाओ के निरूपण द्वारा उस युग की प्रवृत्तियो का चित्रण किया गया है जिससे यह पता चलता है कि हिन्दी के प्रारम्भिक सामाजिक उपन्यास को रूप देने मे उस युग की सनातन-धर्मी और आर्य-समाजी विचारधाराओ का विशेष हाथ रहा और उनके प्रचार का वह माध्यम

लेखक डॉ० कैलाश प्रकाश
प्रकाशक हिन्दी-साहित्य ससार, दिल्ली
मूल्य १२.५० रुपये

भी बना। इन परस्पर-विरोधी विचारधाराओ की टकराहट की गूज भी इन उपन्यासो मे कम नही। चौथे अध्याय मे ऐतिहासिक उपन्यासो का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इन उपन्यासो को ऐतिहासिक केवल इसलिए मान लिया गया है कि इनमे अतीत काल का चित्रण हुआ है। वैसे ऐतिहासिक प्रामाणिकता से ये उपन्यास कोसो दूर है। इस वर्ग के उपन्यासकारो मे किशोरीलाल गोस्वामी के अतिरिक्त ब्रजनन्दन सहाय और मिश्र-बन्धु के नाम भी उल्लेखनीय है। पाचवे अध्याय मे वे सभी उपन्यास ले लिए गए है जिनका विवेचन 'सामाजिक' और 'ऐतिहासिक' उपन्यास के अन्तर्गत नही हो सका। इन उपन्यासो को तिलस्मी, जासूसी और अद्‌भुत तीन वर्गों मे विभाजित किया गया है। इसके बाद 'उपसहार' है और अन्त मे सहायक पुस्तको की सूची है।

इस प्रबन्ध को पढने पर प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास का जो रूप उभरता है वह हमारी जानकारी मे स्तुत्य वृद्धि करता है। हा, यह जरूर है कि वह प्रबन्ध-भर मे बिखरा पडा है और उसे पकडने मे पाठक को कठिनाई का अनुभव हो सकता है। 'उपसहार' से आशा की जा सकती थी कि उसमे सक्षिप्त झाकी मिल जाती, पर वहा भी वह अनुपलब्ध ही रही। उस युग के उपन्यास और उनकी औपन्यासिकता की प्रमुख विचित्रताओ को, जो उपन्यास के इतना आगे बढ जाने पर आज मनोरजक लगती है, हम यहा सजो रहे है —

(१) अपने आरम्भिक युग मे ही हिन्दी-उपन्यास इतना लोकप्रिय हो गया था कि उस समय कई उपन्यास-पत्र-पत्रिकाए निकलती थी और खूब बिकती थी, जैसे—"उपन्यास", "उपन्यास-लहरी", "उपन्यास-सागर", "उपन्यास-बहार", "जासूस" इत्यादि। इनमे उपन्यास धडाधड छपते जाते थे। ऐसा लगता है कि साहित्य के नाम पर उस युग मे उपन्यास ही पढा जाता था और वही बिकता था। आज उपन्यास अपने चरम विकास को पहुच रहा है, फिर भी हिन्दी मे कहानी-पत्र-पत्रिकाओ की तरह एक भी उपन्यास-पत्र-पत्रिका नही मिलती।

(२) अधिकाश उपन्यासो के दो-दो, तीन-तीन नाम होते थे, जैसे— "लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा", "चपला वा नव्य समाजचित्र", "गुलबहार वा आदर्श भ्रातृस्नेह", "कनककुसुम वा मस्तानी", (अर्थात् बाजीराव पेशवा और मस्तानी की कहानी)। उपन्यास के नाम से ही उसकी कथा-वस्तु का पता चल जाता था।

(३) उपन्यासो का प्रकाशन-काल तो प्राय नही दिया जाता था, परन्तु कई बार पुस्तक पर लेखक का नाम तक भी नही रहता था। उदाहरणार्थ, श्री "वेकटेश्वर स्टीम प्रेस से "डबल बीबी" नाम का जो उपन्यास निकला था, उस पर लेखक का नाम कही नही छपा था।

(४) उपन्यास लिखते समय लेखक सदा इस बात का ध्यान रखता था कि वह किस प्रकार के पाठक के लिए लिख रहा है। पाठक कमी भी उसकी

दृष्टि से ओझल नही होता था और उसे अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए कोई कसर नही छोडता था। कई बार तो वह स्वय उपन्यास मे आकर पाठको से सीधे बातचीत करने लग जाता था—विशेषकर उपन्यास के अन्त मे, जैसे

(क) "जैसे श्याम के दिल की मुराद पूरी हुई ऐसी ही परमब्रह्म परमात्मा हमारे इस पुस्तक के पढने वाले पाठक महोदयो की मुराद पूरी करे और दिल के हौसले मिटा दे और सबको खुश रखे। अब हमारा नाविल खतम है।" (सूरजभान वैश्य का "कटा सिर" पृ० ३९)।

(ख) "आप लोगो मे यदि कोई अबोध और अजान हो तो हमारे इस उपन्यास को पढ, आशा करते है, सुजान बने, इस किस्से के अजानो को सुजान करने को चन्दू था, आप लोगो को हमारा यह उपन्यास होगा।" (बालकृष्ण भट्ट का "सौ अजान एक सुजान"—२३वा प्रस्ताव)।

(५) उस युग का लेखक धर्म और समाज की खुल्लमखुल्ला अवहेलना नही कर सकता था। बल्कि पाठको का ध्यान आकृष्ट करने के लिए वह धार्मिक होने का दावा भी करता था। श्यामकिशोर वर्मा के उपन्यास "काशीयात्रा" के मुख पृष्ठ पर ही छपा था—"एक धार्मिक उपन्यास"। अपने उपन्यास मे लेखक बार-बार यह कहना जरूरी समझता था कि उसकी पुस्तक अधार्मिक या असामाजिक नही है। देवकीनन्दन खत्री को भी अपने पाठको को यह आश्वासन देना पडा था कि "पात्रो का चाल-चलन दिखलाने मे जहा तक हो सका, ध्यान रखा गया है। सब पात्र यथासमय सध्या-तर्पण करते है और अवसर पडने पर पूजा-पाठ भी वीरेन्द्रसिह आदि के वर्णन मे जगह-जगह दिखलाई देता है।" ('चन्द्रकान्ता सतति', चौबीसवा हिस्सा, आठवा बयान)।

(६) उस युग की नारी धर्म और समाज की बेडियो मे कितनी जकडी हुई थी और किस प्रकार उसके विकास के सभी मार्ग बलपूर्वक अवरुद्ध कर दिए गए थे, इसका बडा हृदयविदारक चित्रण इस युग के उपन्यासो मे मिलता है। आश्चर्य और खेद का विषय तो यह है कि उस युग के नेताओ के प्रतिनिधि ये उपन्यासकार भी उसकी इन बेडियो को कसने की ही दुहाई देते है। नारी की स्वाधीनता उनके निकट अधर्म है, पाप है। कतिपय स्थल देखिए —

(क) "पर्दे का यथार्थ मतलब तो यही है कि जहा तक सम्भव हो न तो सूरत दिखाई जाए और न आवाज सुनाई जाए और इसी प्रकार

यथासम्भव न पर-पुरुष का मुख देखा जाए, न शब्द सुना जाए।'
(गगा प्रसाद गुप्त "लक्ष्मीदेवी" उपन्यास मे, पृ० ९)।

(ख) उस युग की परिभाषा के अनुरूप कोई नारी भ्रष्ट हो जाए तो उसका क्या किया जाए, इसके विषय मे एक उपन्यासकार का फतवा द्रष्टव्य है "यदि मनुष्य का कोई अग किसी कारण से सड जाए तो जिस तरह उस अग को काट कर दूर कर देना आवश्यक होता है, उसी प्रकार परिवार भर को कलकित करने वाले किसी महादुश्चरित्र के दूर कर देने मे भी, जिसका किसी तरह सुधार या प्रायश्चित्त न हो सकता हो, कोई हर्ज नही।"
(गगाप्रसाद गुप्त "लक्ष्मी देवी" मे, पृ० २८)

(७) अधिकाश उपन्यासो मे इस्लामी शासन की निन्दा हुई है। किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने 'ऐतिहासिक उपन्यासो' मे मुसलमानो की विलासिता और दुश्चारित्र्य का चित्रण किया है। देवकीनन्दन खत्री ने भी मुसलमान ऐयारो को दुश्चरित्र, बेईमान, दगाबाज, और विजयगढ राज्य के पतन का मूल कारण माना है। इसके विपरीत अग्रेजी शासन की प्रशसा व्यक्त हुई है। अपने उपन्यास आदर्श हिन्दू की भूमिका मे मेहता लज्जाराम शर्मा ने जगदीशपुरी की अपनी सुखपूर्वक तीर्थयात्रा का श्रेय अग्रेज सरकार को देते हुए लिखा है "हम भारतवासियो को ब्रिटिश गवर्नमेट की उदार छाया मे निवास करके हजारो वर्षो के अनन्तर शान्ति सुख के सच्चे अनुभव प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।" इसी प्रकार के विचार किशोरीलाल गोस्वामी ने भी अपने उपन्यास "लवगलता वा आदर्श बाल" की भूमिका मे व्यक्त किए है "उस समय सारे भारतवर्ष मे एक प्रकार से अराजकता फैली हुई थी—और सच तो यो है कि यदि उस समय यह देश अग्रेजो के हाथ मे न जाकर किसी दूसरी अत्याचारी जाति के हाथ मे जाना तो आज दिन यहा वालो की दशा कैसी शोचनीय स्थिति को पहुचती, इसके स्मरणमात्र से ही रोगटे खडे हो जाते हैं।"

(८) उस युग के उपन्यास कोरे गद्यात्मक नही होते थे। उनमे यथास्थान कविता का भी समावेश होता रहता था। उपन्यास का उद्देश्य और शीर्षोद्धरण तो कविता मे होता ही था, बीच-बीच मे भी कविता ही रहती थी। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास "तारा वा क्षत्र-कुल-कमलिनी" मे नायिका की छ पृष्ठ की लम्बी चिट्ठी ब्रज-भाषा-पद्य मे है, जो भारतेन्दु-कालीन कविता का एक सुन्दर नमूना प्रस्तुत करती है

"भूलि न धर्म-जाति-कुल-गौरव विनसन दैहो।
मरि जैहो, पै अधरम अरु अपजस नही लैहो॥"

(९) उपन्यास को प्रकरणो मे बाटने के सम्बन्ध मे भी प्राय मनमानी से काम लिया जाता था। "परीक्षा गुरु" को ही ले। समस्त उपन्यास प्रकरणो मे विभक्त है, परन्तु प्रत्येक प्रकरण अपने आप मे पूर्ण नही। प्रकरण बदल जाते है, पर न पात्र बदलते है, न विषय बदलता है। पाचवें के बाद छठा और छठे के बाद सातवा प्रकरण निरन्तर है। यह बात आज के पाठक को जरूर खलेगी, पर जब उसके नायक की बात पूरी हो तब तो विषय बदले, और तनिक विश्राम के लिए प्रकरण तो बदलना ही होगा।

(१०) कतिपय लेखक विशुद्ध उपयोगितावादी दृष्टिकोण से भी उपन्यास लिखते थे। अपने उपन्यास "राधाकान्त" की भूमिका मे ब्रजनन्दन सहाय ने इसकी कतिपय विशेषताओ का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "घटना की ओर विशेष ध्यान न देकर निबन्ध रूप मे इसमे वर्णना दी गई है। इसका लक्ष्य यह है कि स्कूल तथा कालेज के विद्यार्थियो को भी निबन्ध लिखने मे इससे किचित् सहायता मिल सके।"

शोध की वैज्ञानिकता की दृष्टि से विचार करे तो प्रस्तुत प्रबन्ध मे कुछ खटकने वाली बाते भी मिल जाएगी। यहा हम कतिपय असगतियो की ओर सकेत करते हे —

प्रथम अध्याय "उपन्यास या नॉवेल" मे उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस विषय पर खूब चर्चा की गई है कि उपन्यास क्या है, अन्य साहित्य-विधाओ और इतिहास से वह कैसे और कितना भिन्न है, सामाजिक, ऐतिहासिक आदि उसके कितने भेद है और वे एक-दूसरे से क्योकर भिन्न हे। पर जब इस सैद्धातिक चर्चा को अमल मे लाने का समय आता है तो प्रबन्धकर्त्री इसकी पूर्ण अवहेलना करते हुए स्वीकार कर लेती है कि "जिस रचना को लेखक ने "उपन्यास" कहा उसको प्रस्तुत प्रबन्ध मे उपन्यास मान लिया गया। जिस वर्ग मे लेखक ने अपने उपन्यास को स्थान दिया, उसी वर्ग मे उसे मैने भी रख दिया।" (पृ० ६) "इस वर्गीकरण मे मेरी नीति यह रही है कि सर्वप्रथम लेखक का कथन प्रामाणिक माना जाए। यदि लेखक इस विशेष उपन्यास को 'ऐतिहासिक' कहता है तो उस उपन्यास का अध्ययन उसी वर्ग मे हो। भले ही उस उपन्यास मे ऐतिहासिकता की दृष्टि से त्रुटि हो।" (पृ० ७७) इस स्वीकारोक्ति से प्रबन्ध का समूचा पहला अध्याय व्यर्थ दीखने लगता है। ऐसा करने के लिए जो कारण दिया गया है वह बहुत ही सस्ता है "विवेच्य सामग्री पर आलोचको ने बहुत कम ध्यान दिया है। इसलिए प्रामाणिक अध्ययन का सकेत भी किसी आलोचनात्मक रचना से मिलना सभव नही। ऐसी स्थिति मे सर्वप्रथम प्रमाण स्वय लेखक ही माने गए है।" (पृ० ६) यहा प्रश्न उठता है कि क्या उपलब्ध सामग्री के उपयोग को ही शोध कहते है? शोधकर्त्ता को स्वय कुछ नही करना होता?

भरती की सामग्री प्रस्तुत ग्रन्थ मे और भी कई जगह मिल जाएगी। उदाहरणार्थ, तिलस्म (पृ० २६७—२७८), ऐयार (पृ० २७९—२८२) और जासूस (पृ० २९३–

२९६) शीर्षको के अन्तर्गत ऐसी जानकारी मिलेगी, जिसका उपन्यास-कला से कोई सीधा सम्बन्ध नही। इस प्रकार अनावश्यक स्थान घेरने का परिणाम यह हुआ है कि प्रतिपाद्य के प्रति न्याय नही हो पाया है। अन्तिम खण्ड इतना सक्षिप्त हो गया है कि "अद्‌भुत उपन्यास" ही नही, उसका विवेचन भी अद्‌भुत लगने लगा है।

प्रबन्ध मे यत्र-तत्र ऐसे स्थल भी मिल जाते है जो अधिक विचार-मन्थन और सन्तुलन की अपेक्षा करते है। यहा ऐसे कुछ स्थल ही दिए जाते है (१) "काव्य-कला सबसे जटिल है तो उपन्यास कला सब से सरल। **कम-से-कम एक उपन्यास तो सब कोई लिख सकता है**" (पृ० १२)। (२) "उपन्यासकार कवि भी होते है, परन्तु **कवि उपन्यास के धरातल पर उतर कर ह्रासोन्मुख हो सकता है**" (पृ० १३)। (३) "बाह्य वेश-भूषा, आकृति, उच्चारण-शैली, बात करने का ढग आदि **व्यक्तित्व के मूल** होने के कारण उपन्यास मे वर्ण्य विषय है।" (पृ० ३०)। (४) "हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार भारतेन्दु है, परन्तु प्रथम मौलिकता-पूर्ण उपन्यास "परीक्षा गुरु है।" (पृ० ६७)। (५) "जिस प्रकार **आजकल हिन्दी की अधिकतर पत्रिकाएँ परीक्षोपयोगी आलोचना** और कहानी **पर जीवित** है, उसी प्रकार आलोच्य काल मे अधिकतर हिन्दी पत्रिकाए या तो सामाजिक थी या औपन्यासिक।" (पृष्ठ ७२)।

इस प्रबन्ध के प्रस्तुतीकरण के विषय मे भी काफी-कुछ कहा जा सकता है। आलोच्य उपन्यास का नाम देकर उसके नीचे चौदह-पन्द्रह पृष्ठो तक की सामग्री दे दी गई है। कही कोई उपशीर्षक नही मिलता जिससे पता चल सके कि कब और कहा उसके किस पक्ष का निरूपण किया गया है। उससे पाठक के धैर्य की परीक्षा तो हो ही जाती है, विवेचन मे पुनरावृत्ति दोष भी आ घुसा है। इस दृष्टि से "परीक्षा गुरु" (पृ० ८८–१००), "रामलाल" (पृ० १८८-१९८), "तारा वा क्षत्र-कुल-कमलिनी" (पृ० २०५-२१९) द्रष्टव्य है।

पुस्तक मे अनेक स्थलो पर प्रमाणीकरण का अभाव भी खटकता है। लेखक, पुस्तक सस्करण, पृष्ठ सख्या, आदि का सदर्भ दिए बिना पुस्तको से उद्धरण पर उद्धरण दिए गए है। देखिए—पृष्ठ ६, ८, १६, २१, २३, २६, २९, ३४ आदि। उद्धरण कही देवनागरी लिपि मे है तो कही रोमन लिपि मे। पाद-टिप्पणियो मे भी एकरूपता नही मिलती।

ऊपर हमने जो कतिपय असगतियो की ओर सकेत किया है उसका अभिप्राय यह नही कि यह ग्रन्थ कम महत्त्व का है। प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास के विवेचन का अभी तक कोई गम्भीर प्रयत्न हुआ ही नही था। प्रस्तुत प्रबन्ध इस अभाव की पूर्ति करता है और इस दृष्टि से निस्सन्देह अभिनन्दनीय है।

हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययन

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध सन् १९०० से १९५० तक के हिन्दी उपन्यास-साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन है। अब तक हमारे शोधकर्त्ताओ ने उपन्यास-साहित्य का मनोवैज्ञानिक और कलात्मक विवेचन तो किया है पर समाजशास्त्रीय अध्ययन की ओर किसी का ध्यान नही गया। इस दृष्टि से यह शोध-प्रबन्ध अपनी दिशा मे सर्वथा मौलिक प्रयास है।

य' शोध-प्रबन्ध ग्यारह अध्यायो मे विभाजित है। पहले अध्याय मे, जो 'विषय-प्रवेश' के रूप मे है, उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सास्कृतिक दशा का वर्णन करके प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासो का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। सामाजिक और सास्कृतिक जागरण के इस युग का सर्वांगीण परिचय देकर हिन्दी उपन्यास की प्रयोगावस्था पर प्रकाश डाला गया है। तदनन्तर विवेच्य काल को सुविधा की दृष्टि से तीन युगो मे विभाजित किया गया है—(१) सन् १९०० से १९१६ तक (२) सन् १९१७ से १९३६ तक और (३) सन् १९३७ से १९५० तक। पहले युग को रूढिवादी और मध्ययुगीन सामाजिक दृष्टिकोण का युग कहा गया है क्योकि इस युग मे यद्यपि समाज-सुधार का नारा बुलन्द किया जा रहा था पर युगीन उपन्यासकार सामाजिक रूढियो के कट्टर समर्थक थे। दूसरे युग को सामाजिक समान अधिकारो का युग कहा गया है, जिसमे सामाजिक प्रश्नो ने राजनीतिक रूप धारण कर लिया। विशेषरूप से नारी और अछूत वर्ग को इस युग मे सामाजिक शोषण से मुक्ति मिली। इसे प्रेमचन्द-युग भी कहा गया है। जहा पहले युग मे लेखक सामाजिक चेतना से पीछे था वहा इस युग मे वह समाज का नेतृत्व करता है। इसमे हिन्दी उपन्यास ने कलात्मक स्वरूप ग्रहण करने का प्रयत्न किया। तीसरे युग को नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना का युग कहा गया है, जिसमे हिन्दी उपन्यास मे विद्रोह की भावना प्रबल दिखाई देती है। लेकिन अधिकाश उपन्यास-साहित्य समाज को निषेध करते दिखाई देते है और कुण्ठाग्रस्त है। वे राजनीतिक गतिविधि से उतने सम्पृक्त नही जितने प्रेमचन्द युग के उपन्यासकार थे। जहा प्रेमचन्द मे सामाजिकता प्रधान थी वहा इनमे व्यक्तिवादिता की प्रधानता है। राष्ट्रीय दृष्टि से प्रेमचन्द गाधीवादी भावना को व्यक्त करते

लेखक डॉ० चण्डीप्रसाद जोशी
प्रकाशक अनुसन्धान प्रकाशन कानपुर
मूल्य १२ रु०

है किन्तु इस युग के उपन्यासकार या तो फ्रायड के कारण राष्ट्रीय आन्दोलनो को देख ही नही पाते या मार्क्स के सिद्धातो मे ही अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते है। सास्कृतिक दृष्टि से यह पुरातन सास्कृतिक मूलो के विघटन का युग है। इस प्रकार शोध-कर्ता ने सामाजिक, राजनीतिक और सास्कृतिक दृष्टि से अलग-अलग युगो की उपलब्धियो का विस्तृत, व्यापक और गहरा विवेचन प्रस्तुत कर हिन्दी उपन्यासो मे उनका प्रतिफलन देखने का प्रयत्न किया है। इस सर्वांगीण दृष्टि से विचार करने के कारण हिन्दी उपन्यास की विचाराधाराओ को वैज्ञानिक विश्लेषण अनायास उपलब्ध हो गया है।

'विषय-प्रवेश' के पहले अध्याय के बाद द्वितीय अध्याय मे सन् १९०० से १९१७ तक की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति का दिग्दर्शन कराके हिन्दी उपन्यासो मे उसके स्वरूप की छानबीन की गई है और निष्कर्ष निकाला गया है कि सामाजिक दृष्टि से इस युग के उपन्यास परम्परागत आदर्शों और रूढियो के पोषक है। लज्जाराम मेहता, किशोरीलाल गोस्वामी और 'हरिऔध' के उपन्यासो को विशेष रूप से आधार बनाकर ये निष्कर्ष निकाले गये है। तीसरे अध्याय मे अभीप्ट युग की राजनीतिक परिस्थितियो का विश्लेषण किया गया है और राजनीतिक दृष्टि से उपन्यासो मे राजभक्ति ओर राष्ट्रीय विचारधारा की प्रमुखता होने के कारणो पर प्रकाश डाला गया है। तीसरे अध्याय मे सास्कृतिक विकास की स्थिति का परिचय देकर इस युग के उपन्यासो मे नीतिवादी, शिक्षाप्रद और उपदेशात्मक दृष्टि की प्रमुखता की ओर सकेत किया गया है।

पाचवे, छठे और सातवे अध्याय मे क्रमश दूसरे युग की सामाजिक, राजनीतिक और सास्कृतिक गतिविधियो का उल्लेख करके पहले युग की ही भाति हिन्दी-उपन्यासो का मूल्याकन हुआ है। इस युग की उपलब्धियो के लिए प्रेमचन्द, उग्र, कौशिक, प्रसाद, वृन्दावन लाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, भगवती प्रसाद वाजपेयी, निराला और जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासो को आधार बताया गया है। इनके पात्रो और इनकी विचारधारा का बडा ही गहरा विवेचन हुआ है। इसी प्रकार तीसरे युग की भी सामाजिक, राजनीतिक और सास्कृतिक स्थिति का चित्र तथा तदनुकूल हिन्दी-उपन्यासो का विश्लेषण आठवे, नवे और दसवे अध्याय मे हुआ है। अन्त मे ग्यारहवे अध्याय मे सामाजिक, राजनीतिक और सास्कृतिक विकास के तीनो सोपानो के आधार पर समूचे शोध-प्रबन्ध की मान्यताओ को सदर्भ मे एक स्थान पर रख दिया गया है। सन् ५० के बाद के आचलिक उपन्यासो को हिन्दी के लिए शुभ शकुन माना गया है।

शोध-प्रबन्ध के प्रत्येक अध्याय मे 'क' भाग मे युग-विशेष की सामाजिक या राजनीतिक या सास्कृतिक स्थिति देकर 'ख' भाग मे हिन्दी उपन्यासो मे उस स्थिति-विशेष के स्वरूप को दिखाने का प्रयत्न किया गया है। यदि सभी अध्यायो के 'क' भागो को एक साथ मिला कर पढे तो क्रमश सामाजिक, राजनीतिक और सास्कृतिक विकास का क्रमबद्ध इतिहास मिल जाता है। इसी प्रकार हिन्दी-उपन्यासो की सामाजिकता, राष्ट्रीयता और सास्कृतिकता का भी लेखा-जोखा प्राप्त हो जाता है। यदि समग्र प्रबन्ध पर दृष्टि डाले

तो उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध को मिलाकर पूरी एक शताब्दी के भारतीय जीवन और उसकी नाना स्तरो पर होने वाली हलचलो का पता चल जाता है ।

शोधकर्ता ने सामाजिक, राजनीतिक और सास्कृतिक आन्दोलनो, सभा-सस्थाओ और विशिष्ट व्यक्तियो की विचारधाराओ का जो परिचय दिया है, वह उसके गहन अध्ययन और खुली दृष्टि का द्योतक है। निस्सन्देह उसने इस दिशा मे जो श्रम किया है, उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशसा किये बिना नही रहा जाता। इसके साथ ही उसने स्वतत्र चिन्तन, निष्पक्ष निर्णय और तटस्थ विवेचन की जो पद्धति अपनायी वह शोध-कर्त्ता के 'विषयाधिकार की सूचक है। कदाचित् यही कारण है कि चाहे प्रेमचन्द हो या जैनेन्द्र, और अज्ञेय हो या यशपाल, उसने उनकी कही भी अनावश्यक प्रशसा या निन्दा नही की। यही क्यो, जहा वे राष्ट्रीयता की दृष्टि से प्रेमचन्द को गाधी जी से भी श्रेष्ठ ठहराते है, वहा सामाजिक और सास्कृतिक दृष्टि से उनके उपन्यासो मे व्यक्त अन्तर्विरोध की स्थिति को अगतिशील भी कहते है। इसी प्रकार अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' मे उनके द्वारा व्यक्ति की कामचेतना के विकास की रूपरेखा देने की तो प्रशसा करते है, किन्तु उनके कामचेतना का उदात्तीकरण तथा समाजीकरण न कर पाने पर चिन्ता व्यक्त करते है। यशपाल जैसे मार्क्सवादी लेखक की महत्ता यदि उन्होने इसलिए स्वीकार की है कि उन्होने सर्वप्रथम मजदूरो की क्राति का चित्रण किया और मार्क्सवादी होते हुए भी अन्य राजनीतिक दलो की निन्दा नही की तो उनके द्वारा किसानो का चित्रण न किये जाने ओर उनके पात्रो के काम-कुठित होने की उनकी दृष्टि का एकागीपन और विकारग्रस्त होना कहा है। वस्तुत शोधकर्त्ता का दृष्टिकोण स्वस्थ है, इसीलिए उसने जहा जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, यशपाल आदि की आलोचना करते समय स्त्री को भोग्या मानने के सिद्धान्त का विरोध किया है वहा वृन्दावन लाल वर्मा की प्रशसा इसलिए की है कि वे प्रेम को विवाह मे पर्यवसित देखना चाहते है।

इस शोध-प्रबन्ध की एक और विशेषता यह है कि जहा अभीष्ट युगो के उपन्यासो का सामाजिक, राजनीतिक और सास्कृतिक दृष्टि से सामूहिक रूप मे मूल्याकन हुआ है, वहा उनके प्रमुख उपन्यासकारो और उनकी औपन्यासिक कृतियो के पात्रो की विचारधारा का विश्लेषण भी अलग-अलग किया गया है। इस कारण एक ही कृति मे सभी प्रकार का विश्लेषण उपलब्ध हो जाता है। आचार्य वाजपेयी ने अपने प्रारम्भिक वक्तव्य मे इस शोध-प्रबन्ध के निष्कर्षों को जो वैचारिक पक्ष पर आधारित माना है वह अक्षरश सत्य है ।

यह शोध-प्रबन्ध जहा अपने शोध-स्तर की ऊचाई के कारण अत्यन्त महत्त्व का है वहा कुछ भाषा-विषयक दोष भी है, जो चिन्तनीय है। स्थान-स्थान पर 'आश्चर्य-जनित तथ्य' और 'अभिजात्यवर्ग' शब्द प्रयुक्त हुए है। जहा तक हम समझते है इनके स्थान पर क्रमश 'आश्चर्यजनक तथ्य' और 'अभिजात वर्ग' शब्द लिखे जाने चाहिए थे। 'आश्चर्य-

जनक तथ्य' तो लेखक ने एक-दो स्थानो पर लिखा भी है पर 'अभिजात वर्ग' को सर्वत्र 'अभिजात्य वर्ग' लिखा है। 'अभिजात' से बना 'अभिजात्य' शब्द 'कुलीनता' के लिए प्रयुक्त होता है। 'अभिजात्य' शब्द तो बनता ही नही। यह शब्द, बहुत बार आया है अत इसे 'लेखनी फिसलन' (स्लिप आफ दि पेन) का फल नही कहा जा सकता। पृष्ठ १४७ पर 'मृत्युवस्था' और १५८ पर 'वामनस्यता' शब्द आये है। ये दोनो ही शब्द व्याकरण से अशुद्ध है। इनके स्थान पर 'मृत्युदशा' या 'मरणावस्था' और 'वैमनस्य' शब्द लिखे जाने चाहिए थे। पृष्ठ २९१ पर जो 'ग्राम्य सस्कृति' शब्द आया है, उसके स्थान पर 'ग्रामीण सस्कृति' अधिक उपयुक्त रहता। इसका कारण यह है कि 'ग्राम्य दोष' की भाति 'ग्राम्य सस्कृति' की ध्वनि भी गर्हित है और लेखक का मन्तव्य हमारी सम्मति मे ऐसा नही है। केवल शब्द ही नही कही-कही वाक्य-विन्यास भी गडबड है। पहले अध्याय के पृष्ठ १ पर ही एक वाक्य है—"अत सामाजिक जीवन का अध्ययन बिना आर्थिक व्यवस्था की जानकारी के समझना वाछनीय नही।" इसे सीधे रूप मे "अत सामाजिक जीवन का अध्ययन बिना आर्थिक व्यवस्था की जानकारी के नही हो सकता।" लिखा जा सकता था। 'जानकारी के समझना' वाक्याश ही भ्रामक है। पृष्ठ ३ पर 'इस उद्देश्य से मण्डल ने एक भोजन का आयोजन किया' वाक्य है। इसमे 'भोजन' के स्थान पर 'भोज' होना चाहिए। इसी प्रकार पृष्ठ १२२ पर 'उन्होने पुलिस की नौकरी करते हुए कभी घू स नही लिया' मे 'घू स नही लिया' के स्थान पर 'घू स नही ली' होना चाहिए। इसी प्रकार पृष्ठ ११९ पर एक वाक्य है—"जैनेन्द्र जी यदि कथा का अन्त यही पर कर देते तथा बिहारी जैसा रहस्यवादी पात्र का निर्माण न किये होते और न वैधव्य की प्रतिज्ञा मे बधने की रहस्योन्मुखी सूझ न निकाले होते तो कट्टो का वैधव्य मनोवैज्ञानिक भूमि पर विचारणीय प्रश्न बन सकता था।" इसको यो लिखना चाहिए था—"जैनेन्द्र जी ने यदि कथा का अन्त यही पर कर दिया होता तथा बिहारी जैसे रहस्यमय पात्र का निर्माण न किया होता और न वैधव्य की प्रतिज्ञा मे बधने की ही रहस्योन्मुखी सूझ ही निकाली होती तो कट्टो का वैधव्य मनोवैज्ञानिक भूमि पर विचारणीय प्रश्न बन सकता था।"

आशा है, आगामी सस्करण मे इन भाषाविषयक कतिपय दोषो का परिहार कर दिया जायेगा।

अन्त मे हम इस उच्चस्तरीय शोध-प्रबन्ध के लिए लेखक को बधाई देते है और उसके श्रम और सूझ की प्रशसा करते है। उसका यह शोध-प्रबन्ध निस्सन्देह हिन्दी अनुसन्धान की दिशा मे दुर्लभ देन है।

हिन्दी साहित्य में काव्यरूपों के प्रयोग (बीसवीं शताब्दी)

डॉ० प्रेमशकर

प्रबन्ध का शीर्षक किंचित् भ्रम मे डाल देता है और किसी सीमा तक पर्याप्त विवाद का विषय बन सकता है। 'काव्यरूप' को लेखक ने इतना विस्तार दे दिया है कि आधुनिक युग की सभी साहित्य-विधाए उसके अन्तर्गत समाहित हो गई है। 'काव्य' शब्द का प्रयोग आधुनिक युग मे जिस अर्थ मे किया जाता रहा है, उससे गद्य की विधाए नितान्त भिन्न है। सस्कृत साहित्यशास्त्र का आश्रय लेते हुए लेखक ने काव्य को साहित्य के पर्याय-वाची शब्द के रूप मे ग्रहण कर लिया है। इसी कारण कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समीक्षा सभी विधाओ पर विचार किया गया है। यो प्रबन्ध के शीर्षक से यही ध्वनि आती है कि इसमे कविता की विभिन्न शैलियो की चर्चा होगी। बीसवी सदी के साहित्य का विवेचन करने के लिए लेखक ने एक प्राचीन शब्द ग्रहण किया है, जो अधिक समीचीन नही प्रतीत होता।

'प्रयोग' शब्द आज एक विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है और हिन्दी काव्य के एक प्रमुख वाद से उसका अत्यन्त निकट सम्बन्ध स्थापित है। प्रयोग को काव्य की भूमिका स्वीकार करने वाले 'तारसप्तक' के कवियो को अज्ञेय ने 'अन्वेषी' कह कर पुकारा है। इसी कारण प्रयोग को उन्होने साधन माना है, साध्य नही । 'प्रयोग' शब्द को उसकी प्राचीनतम व्युत्पत्ति और व्याख्या मे स्वीकार करते हुए लेखक ने उसे इतनी अधिक व्यापकता दे दी है कि उसके अन्तर्गत सभी कुछ स्वीकार किया जा सकता है। प्रयोग को लेखक ने एक 'ऐतिहासिक विवशता' कहकर पुकारा है, और उसकी एक चिरन्तन स्थिति स्वीकार की है। किन्तु यही पर उसे नवीन और प्राचीन 'प्रयोगो' का अन्तर भी स्पष्ट करना था। वह कौन-सा बिन्दु है जो अधुनातम काव्य मे प्रयोग को ऐसी महत्त्वपूर्ण स्वीकृति देता है कि 'प्रयोगवाद' का आरम्भ हुआ ? प्रयोग का विवेचन करते हुए लेखक ने रूप और शिल्प (फार्म, स्टाइल) पर अधिक बल दिया है, किन्तु जहा तक प्रयोग का सम्बन्ध है भावजगत् और अनुभूतिपक्ष मे भी महत्त्वपूर्ण कवि उसी प्रकार नए-नए प्रयोग करते आए है, जैसे रूप अथवा शिल्प मे। युग के यथार्थ को वाणी देने के लिए जहा नए शिल्प की खोज करनी पडती है, वही नयी जमीन खोदकर भावजगत् को भी

लेखक डॉ० शकरदेव अवतरे
प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली
मूल्य १२ रु०

प्रकाशित करना होता है, तभी प्रयोग अपनी पूर्ण सार्थकता प्राप्त करता है। जीवन की भाति साहित्य मे प्रयोग की स्थिति सनातन है। प्रयोग अनादि काल से आरम्भ होकर अनन्त काल तक चलते रहेगे। किन्तु आज हम प्रयोग को वैज्ञानिक 'एक्सपैरिमेन्ट' के पर्याय रूप मे स्वीकृति देकर बौद्धिकता और वैज्ञानिकता का भी आग्रह करते है। प्रयोग अनुमान, कल्पना से ही परिचालित नही होता, उसके लिए आज प्रमाण की भी अपेक्षा है, क्योकि विज्ञान के अनुसार तो सत्य वह है जिसे प्रयोगशाला मे परीक्षित किया जा सके।

डॉ० शकरदेव अवतरे ने 'काव्यरूप' और 'प्रयोग' दोनो शब्दो को अतिरिक्त कार्य-विस्तार देकर अपना कार्य आरम्भ किया है। समस्त प्रबन्ध सात अध्यायो मे विभाजित है। आरम्भ मे ही प्रयोग-मीमासा है, जिसमे लेखक ने प्रयोग के स्वरूप और उसकी व्याप्ति पर विचार किया है। निश्चय ही प्रयोग को जो अभिप्राय दिया गया है, उससे पूर्णतया सहमत हो सकना कठिन है, क्योकि किसी सीमा तक वह एक विशेष अर्थ का वाहक है, जिसमे परीक्षण, प्रमाण के तत्त्व अधिक है, साहित्येतर प्रयोगो की चर्चा करते हुए लेखक ने दार्शनिक, वैचारिक विवेचन भी प्रस्तुत किया है, जो साहित्य के लिए अधिक उपादेय नही। प्रयोग शब्द की विवेचना के लिए आधुनिक पाश्चात्य विचारको के मतो पर दृष्टि डालना भी अपेक्षित था। दूसरे अध्याय मे श्रीधर पाठक से लेकर अज्ञेय और भारती तक के काव्य पर विचार किया गया है। कवियो को उनकी काव्य-प्रवृत्तियो के अनुरूप वर्गों मे रखने की चेष्टा लेखक ने की है, जिसे उनकी मौलिक दृष्टि का परिणाम मानना होगा। जिन शीर्षको के अन्तर्गत उन्होने कवियो को स्थान दिया है, उससे कवियो की प्रमुख प्रवृत्ति का आभास मिल जाता है, यद्यपि यह निश्चित ही है कि रचनाकार किसी विशेष सीमा मे बन्दी बनकर नही रह सकते। लेखक ने राष्ट्रीयतावाद की सूची मे श्रीधर पाठक से लेकर श्यामनारायण पाण्डेय तक लगभग पन्द्रह कवियो को सकलित किया है, पर उसमे श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन को स्थान क्यो नही दिया गया ? यह किचित् आश्चर्य का विषय है। इन कवियो मे राष्ट्रीयता का स्वरूप भी अलग-अलग है, इस ओर भी सकेत करना आवश्यक था। इसी प्रकार प्रयोगवाद तक आते हुए बीच मे उत्तरछायावादी जीवसृष्टि के साथ ही प्रगतिवादी काव्य का विवेचन किए बिना यह इतिहास अपूर्ण ही रह जाता है। प्रगतिशील काव्य को लेखक ने जैसे भुला ही दिया है।

तीसरा अध्याय प्रसाद से लेकर आज तक के नाटक का इतिवृत्त प्रस्तुत करता है। इस अध्याय मे रगमच-सम्बन्धी प्रश्नो पर विचार करना भी उपादेय होता। तीसरे अध्याय मे हिन्दी उपन्यास को प्रेमचन्द से लेकर नवीनतम उपन्यासकारो तक विवेचित किया गया है और इसमे भी वर्गीकरण का आधार प्रवृत्तियो को ही माना गया है, जो शोधकर्त्ता की विवेचन-शक्ति का परिचायक है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रख्यात उपन्यास बाणभट्ट की आत्मकथा को 'ऐतिहासिक व्यक्तित्व का प्रयोग' कहा गया है किन्तु इस रचना मे इतिहास की अपेक्षा सस्कृति के तत्त्व अधिक परिपुष्ट और सक्षम है। उसमे केवल इतिहास की क्रमिक घटनाए अथवा अनुमोदित पात्र ही नही आते, वरन्, स्थितियो,

आचार-विचारो के अध्याय से उस युग का एक सजीव चित्र भी उपस्थित होता है। वह ऐतिहासिक के साथ-साथ सास्कृतिक भी है। इसी प्रकार नागार्जुन और 'रेणु' की आचलिकता मे जो सूक्ष्म अन्तर है, उस पर भी लेखक को अपनी दृष्टि डालनी थी। नागार्जुन सामाजिक यथार्थवाद के अधिक निकट है, उनके पात्र सघर्ष की भूमिकाओ से गुजरते है, किन्तु रेणु का मन तटस्थ चित्रण मे और रोमाण्टिक सवेदन मे अधिक रमता है।

पाचवा अध्याय प्रेमचन्द की कहानियो से लेकर नयी कहानी तक आता है और इसमे लगभग वही कलाकार लिए गए हैं, जिन पर उपन्यास के प्रकरण मे विचार किया जा चुका है। नयी कहानी को लेकर नये रचनाकारो मे पर्याप्त वैचारिक सघर्ष हुआ है, हो रहा है। पर शोधकर्त्ता ने स्वय को नयी कहानी की प्रवृत्ति-विवेचना मे अधिक नही उलझाया है और एक-दो चरित्रो का विशिष्ट उल्लेख और विवेचन करके ही सन्तोष कर लिया है। छठे अध्याय मे निबन्ध का प्रसग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से आरम्भ करते हुए लेखक ने इसी के अन्तर्गत सस्मरण, रेखाचित्र, डायरी, तथा रिपोर्ताज जैसी नव्यतम गद्य-विधाओ को भी ले लिया है। अज्ञेय जी के यात्रा-वृत्तान्त 'अरे यायावार रहेगा याद' तथा 'एक बूद सहसा उछली' को कैसे भुला दिया गया ? हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठतम यात्रा-वृत्तान्तो मे उनकी गणना की जाएगी। इसी प्रकार नये निबन्धकारो मे विद्यानिवास मिश्र को लेखक ने कैसे छोड दिया ?

प्रबन्ध का सातवा और अन्तिम अध्याय हिन्दी समीक्षा से सम्बद्ध है। विवेचन की दृष्टि से वह सर्वाधिक विस्तृत है और विवादास्पद भी। साहित्य-समीक्षा पर विचार करते हुए उसे केवल तीन धाराओ मे विभाजित करने का आधार बहुत स्पष्ट नही दिखाई देता। ऐतिहासिक, सैद्धातिक और व्यावहारिक समीक्षा के इस वर्गीकरण को किंचित् विस्तार मे ले जाकर उस पर अधिक सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है क्योकि इन सभी मे पारस्परिक मिलन के बिन्दु भी प्राप्त होते है और उनके मध्य एक विभाजक रेखा खीच देना सहज नही। ऐतिहासिक समीक्षा मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कृतित्व पर इतनी सक्षिप्त टिप्पणी की गई है कि उनके इतिहास का उचित मूल्याकन नही हो पाता। आचार्य शुक्लजी की सीमाए हो सकती है (और किस लेखक की नही होती), किन्तु वे प्रथम इतिहासकार है जिन्होने साहित्य को केवल नामावली और विवरण की भूमिका से निकालकार उसे एक समीक्षात्मक दृष्टि से देखा तथा समस्त साहित्य मे एक क्रमस्थापना की। सैद्धातिक समीक्षा को लेखक ने समीक्षको के आधार पर वर्गीकृत किया है और फिर परम्परा-विकास के रूप मे उसके अन्तर्गत अन्य समीक्षको को स्थान दिया है। किन्तु समीक्षको को आधार बनाकर प्रवृत्तियो की विवेचना करने की प्रणाली बहुत वैज्ञानिक नही कही जा सकती, क्योकि प्रवृत्ति मे साहित्येतर तत्त्व भी समाहित रहते है, जबकि समीक्षक वैयक्तिक रुचि के सहारे भी आगे बढ सकता है। साहित्यशास्त्र के छ सम्प्रदायो पर विचार करते हुए डॉ० अवतरे ने अपनी प्रतिभा और पाण्डित्य का पूर्ण परिचय दिया है और इस दिशा मे उनका ज्ञान पर्याप्त है, इसलिए उन्होने अधिकार के साथ अन्य समीक्षको पर टीका-टिप्पणी की है। 'साधारणीकरण' पर विचार करते हुए उन्होने आधुनिक

हिन्दी समीक्षको से अपनी असहमति सी प्रकट की है, किन्तु यह प्रश्न तो व्याख्या (इन्टर-प्रेटेशन) और दृष्टि का है। साहित्य को गतिशील और विकसमान स्वीकार करने वाले अनुसन्धानकर्त्ता ने इस प्रसग मे अन्य मान्य समीक्षको ने साधारणीकरण पर जो नयी दृष्टि डाली है, उसका स्वागत क्यो नही किया? वैसे लेखक के तर्क इस दिशा मे भी अकाट्य नही कहे जा सकते।

सैद्धातिक समीक्षा के अन्तर्गत आधुनिक हिन्दी साहित्य मे प्रचलित विभिन्न 'वादो', पर विचार किया गया है। किन्तु छायावाद के विवेचन मे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के मतो का उद्धरण देने के अतिरिक्त बस अन्य आलोचको की परिभाषा कहकर सन्तोष कर लिया गया है। छायावाद बहुत समय तक एक अस्पष्ट शब्द के रूप मे प्रयुक्त किया जा रहा है, इसलिए उसकी व्याख्या विस्तृत और स्पष्ट रूप मे अपेक्षित थी। प्रयोगवादी सैद्धातिक समीक्षा को लेखक बिल्कुल छोडकर आगे निकल गया है और सबसे अधिक आश्चर्य तो यह है कि प्रगतिवादी समीक्षा पर भी उसने भली प्रकार विचार नही किया। हिन्दी प्रगतिवादी समीक्षा के पीछे मार्क्सवाद की जो प्रशस्त चिन्तनधारा रही है, उसके परिपार्श्व मे इस पर विचार करना आवश्यक था। प्रगतिवादी समीक्षा ने हिन्दी साहित्य मे सामाजिक यथार्थ को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया, इसे ध्यान मे रखना होगा। बिना प्रगतिवादी समीक्षा पर विचार किए बीसवी शती की हिन्दी समीक्षा का इतिहास अधूरा ही कहा जाएगा, क्योकि उसने पुनर्मूल्याकन का प्रयास तो किया ही, साहित्य को एक दूसरी दिशा भी देनी चाही। व्यावहारिक समीक्षा के प्रसग मे लेखक ने प्रमुख समीक्षको पर दो-चार पैराग्राफ लिखकर काम चला लिया है। वास्तव मे समीक्षा-सम्बन्धी अध्याय व्यक्तियो की अपेक्षा प्रवृत्तियो और सिद्धान्तो के आधार पर लिखा गया होता तो अधिक सगत होता। लेखक का उद्देश्य यह होना चाहिए कि हिन्दी समीक्षा मे कौन-कौन से नए मोड आए है, आचार्य शुक्ल से आरम्भ होकर उसमे कौन से नए तत्त्व जुडते गए है, इन सब तथ्यो पर विचार करे। व्यक्तियो के नाम गिना देने से एक धारावाहिक चित्र सामने नही आता।

प्रबन्ध को इतनी व्यापकता दे दी गई है कि इसे देखकर लगता है जैसे शोधकर्त्ता ने बीसवी शती के हिन्दी साहित्य का इतिहास ही प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, किन्तु यदि उसकी दृष्टि 'प्रयोग' शब्द पर रहती तो अधिक न्यायोचित होता। सभी साहित्य-विधाओ पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कुछ समय के अनन्तर साहित्य एक नयी राह ग्रहण करता है और कभी-कभी वह एक क्रमिक आन्दोलन का रूप भी ले लेता है। इसी आन्दोलन मे कोई महत्त्वपूर्ण कारयित्री प्रतिभा उभरती है, जो इस साहित्यिक मोड का पूर्ण प्रति-निधित्व करती है। प्रसाद, प्रेमचन्द, आचार्य शुक्ल अथवा अज्ञेय को इसी भूमिका मे परीक्षित करना होगा। डॉ० अवतरे ने बीसवी शती के हिन्दी साहित्य पर विहगम दृष्टि डालने मे बडा परिश्रम किया है और उन्हे बहुत अध्ययन भी करना पडा है, इसमे सदेह नही। अपने विचार और मत उन्होने स्पष्टता से और कही-कही बेरुखाई के साथ व्यक्त

किए है, किन्तु उन सभी से सहमत होना कठिन है। छायावाद के भावबोध को उन्होने 'पुँस्त्व-हीन' कहा है। यदि विद्वान् शोधकर्त्ता का आशय पुँस्त्व से पहलवानी तक का भी है तो 'निराला' जैसे व्यक्तित्व (कृतित्व और व्यक्ति दोनों ही) के होते हुए यह आक्षेप कदापि नही किया जा सकता। 'तुलसीदास' के तुलसी ने अपने सामाजिक दायित्व को पहिचाना और 'राम की शक्तिपूजा' का ओज ओर पौरुष तो अप्रतिम है। निराला की 'जुही की कली' मे प्रिय भी अपनी प्रिया के पास सरिता, गिरि, कानन, वन-उपवन को पार करता हुआ आता है, अपने समस्त पौरुष के समान छायावाद और नयी कविता पर तुलनात्मक दृष्टि डालते हुए लेखक नयी कविता को अपनी सहानुभूति देने के उत्साह मे कई भ्रमपूर्ण निर्णयो पर पहुच गया है। एक स्थान पर लिखा है—'नयी कविता मे न तो अन्तश्चेतनावादियो की-सी रुग्ण रूप-सृष्टि है और न प्रगतिवादियो की-सी यात्रिक व्यवस्था।' किन्तु स्थिति यह है कि नयी कविता एक सम्मिलित, समन्वित भूमिका पर प्रतिष्ठित है और उसमे रोमाण्टिक सवेदना के साथ ही सामाजिक यथार्थ के तत्त्व भी समाहित है। लेखक ने अपनी समीक्षा मे कही-कही ऐसे निर्णयात्मक वक्तव्य दे डाले है जिन्हे बहुत प्रामाणिक और आधारभूत नही कहा जा सकता और इसके लिए जिस शब्दावली का प्रयोग किया गया है उसमे व्यग्य अधिक है और वह अनगढ तथा चिन्त्य भी है। प्रसाद के लिए 'नौसिखिया नाटककार' शब्द का प्रयोग तथा 'साहित्य निबट जायेगा', 'होहल्ला' आदि कुछ उदाहरण ऐसे ही है।

पुस्तक को देखकर ऐसा लगता है कि डॉ० अवतरे ने अपने पूर्ण अह और अतिरिक्त आत्मविश्वास के साथ इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। उनके साहस और विश्वास की सराहना करनी पडती है, क्योकि उन्होने बिखरी हुई सामग्री को विवेचित किया है किन्तु अनुसन्धानकर्त्ता को अधिक तटस्थता और सयम से काम लेना पडता है और अनुशासन से भी गुजरना आवश्यक होता है। जो आगे चलकर बीसवी शती की प्रवृत्तियो का अलग-अलग विवेचन करेगे उन्हे यह ग्रन्थ प्रेरणा देगा, इसमे सन्देह नही। डॉ० अवतरे की अध्ययनशीलता की प्रशसा तो करनी ही होगी। शोधकर्त्ता ने विवेचन मे भौतिक दृष्टि से काम लिया है, जो उनके प्रबन्ध का एक विशेष गुण है। यह मौलिकता उनकी वैचारिक क्षमता का भी परिचय देती है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास

डॉ० जयचन्द्र राय

डॉ० वेकट शर्मा का यह प्रबन्ध राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत हुआ। इसके अन्तर्गत लेखक ने ९ अध्यायो मे 'जीवन साहित्य और समालोचना', 'आधुनिक युगचेतना और हिन्दी साहित्य', 'आधुनिक हिन्दी साहित्य समालोचना के स्रोत', 'हिन्दी समालोचना का काल-विभाग' और तदन्तर्गत समालोचना के (क) प्रवर्त्तन-काल, (ख) सवर्द्धन-काल, (ग) विकास-काल, और (घ) प्रसार-काल की अन्तर्प्रवृत्तियो का आकलन करते हुए दसवे अध्याय मे समालोचना के विकास-पथ की समस्याओ और स्वतत्र मानदड पर विचार किया है। अन्तिम अध्याय मे हिन्दी आलोचना की उपलब्धियो और आवश्यकताओ का निरूपण है। इस प्रकार समालोचना के दोनो पक्षो—सिद्धातमूलक और प्रयोगमूलक—का विश्लेषण लक्ष्यग्रन्थो और उनके प्रेरित करने वाली परिस्थितियो को दृष्टि मे रखकर किया गया है।

इस विषय पर प्रस्तुत किये गये इतर प्रबन्धो और ग्रन्थो की तुलना मे आलोच्य प्रबन्ध की व्यवस्था कुछ भिन्न है। समालोचना का सागोपाग इतिहास उपस्थित करने के उद्देश्य से, इसमे प्रभावशाली आलोचको को आश्रय करके हिन्दी आलोचना के उद्भव और क्रमिक उत्थान को लक्षित करते हुए प्रवर्त्तनकाल, सवर्द्धनकाल जैसे युगनामो का आधार ग्रहण किया गया है, ऐतिहासिक आलोचना, निर्णयात्मक आलोचना, तुलनात्मक आलोचना जैसे रूपात्मक अथवा सिद्धान्तगत प्रकारो की पृष्ठभूमि स्वीकार नही की गई है। इससे साहित्य की रचनामूलक प्रौढता के सदर्भ मे आलोचना के प्रतिमानो और समीक्षण-पद्धतियो का स्वरूप-विश्लेषण स्वभावत सम्पन्न हो गया है। रचनात्मक साहित्य की प्रधान धाराओ से आलोचना अविच्छिन्न रूप से जुड गई है। लेखक ने प्रत्येक काल की सृजनशील शक्ति के मुख्य प्रेरणा-स्रोतो का आकलन करने के बाद तत्कालीन समालोचना की प्रेरक शक्तियो का निरूपण किया है। तदनन्तर महत्त्वपूर्ण आलोचको के समीक्षा-साहित्य का तथ्यमूलक परिचय देते हुए विवेकपूर्ण शालीन विश्लेषण किया है। इस प्रकार 'प्रवर्त्तनकाल' मे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के साथ 'प्रेमघन', प० बालकृष्ण भट्ट, प० गगा प्रसाद अग्निहोत्री और बाबू बालमुकुद गुप्त , 'सवर्द्धनकाल' मे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु, डॉ० श्यामसुन्दर दास, प०, पद्म सिह शर्मा, प०

लेखक डॉ वेकट शर्मा
प्रकाशक आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
मल्य २० रुपये

कृष्ण बिहारी मिश्र और लाला भगवान दीन , 'विकासकाल' मे आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० गुलाबराय, प० रामकृष्ण 'शिलीमुख', प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, श्री लक्ष्मी-नारायण सुधाशु, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, डॉ० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल, डॉ० रामकुमार वर्मा आदि आलोचको के अतिरिक्त डॉ० केसरी नारायण शुक्ल, डॉ० कन्हैया-लाल सहल, श्री कृष्णानन्द आदि अन्यान्य आलोचको का उल्लेख किया गया है, 'प्रसार-काल' के दो खडो मे पहले छायावादी कवि समीक्षक 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला' और महादेवी के साथ प० नन्ददुलारे बाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, प० शान्तिप्रिय द्विवेदी और आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी के समीक्षा-साहित्य का मूल्याकन करने के बाद दूसरे खड मे प० इलाचन्द्र जोशी, श्री 'अज्ञेय', श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त और डॉ० रामविलास शर्मा के आलोचक रूप का विश्लेषण किया गया है ।

इस विस्तार और व्यवस्था को देखने से प्रत्यक्ष होगा कि आलोच्य प्रबन्ध मे चार मुख्य तथ्यो को इतिहास के अनुक्रम मे सयोजित करने की चेष्टा की गई है—(१) हिन्दी के प्रमुख आलोचको का विवरण, (२) हिन्दी का समीक्षा-साहित्य (स्वतत्र ग्रन्थो और प्रकीर्ण निबन्धो के रूप मे उपलब्ध), (३) हिन्दी के प्रमुख समीक्षा सिद्धात, (४) उक्त सिद्धातो की प्रयोग-जन्य उपलब्धिया । स्वाभाविक था इन सभी तथ्यो को सकलित—व्यवस्थित करने के लिये प्रबन्ध की काया को पृथुल हो जाने दिया जाय । लेकिन क्या यह नितान्त आवश्यक था ? क्या प्रबन्ध-व्यवस्था की दृष्टि से लेखक ऐसा करने के लिये विवश थे ? प्रश्न का उत्तर उन्ही के शब्दो मे इस प्रकार है —"मुझे कुछ स्थलो पर उनके (आलोचको के) विचारो की उद्धरणी भी करनी पडती है, किन्तु ऐसा करने के लिये मै विवश था " (भूमिका) और उन्होने समुचित विश्वासपूर्वक कहा है कि "ऐसा करते हुए मैने जिस तथ्य-ग्रहण की प्रवृत्ति का आश्रय लिया है, वह कुछ स्थलो पर पिष्टपेषित-सी लगे, किन्तु उसके द्वारा प्रमुख समालोचको का व्यक्तित्व और कृतित्व निश्चय ही हमारे सम्मुख आ सकेगा, जिनके तत्त्वकणो का समाहित स्वरूप लेकर आधुनिक हिन्दी समालोचना विकसित हुई है।" (भूमिका) इस सकलन के स्थूल प्रयोजन को ईमानदारी के साथ स्वीकार करते हुए उन्होने यह निवेदन कर दिया है कि "इस विश्लेषण का एक उपयोग यह भी है कि इसके द्वारा हमे उनकी विचारधारा का सम्यक् निरूपण एकही स्थल पर मिल जाता है और उनके मानसिक सस्थान का अन्वेषण करने के लिये इतस्तत भ्रमित होने की कोई आवश्यकता नही रहती ।" (भूमिका)

इसमे सन्देह नही कि उक्त प्रयोजन की सिद्धि मे लेखक पूर्णतया सफल हुए है, लेकिन प्रबन्ध की वास्तविक शक्ति का अनुमान इतने मात्र से नही हो सकता । उपर्युक्त चार तथ्यो मे से पहले दो इस प्रयोजन तक ही सीमित है, किन्तु अन्तिम दो का सम्बन्ध तात्त्विक अनुसन्धान से हो सकता है। वे ही प्रबन्ध के गुरुत्व अथवा गाभीर्य के सही कारण बन सकते है । हमे ध्यान मे रखना होगा कि डॉ० शर्मा द्वारा पहले दो तथ्यो का जो कुछ उपबृंहण ग्रन्थ मे हुआ उसका महत्त्व पृष्ठभूमि के रूप मे ही आका जाय । ऐसी स्थिति मे

यह प्रत्यक्ष होगा कि अनुसन्धाता ने जिस लगन, अध्यवसाय, धैर्य तथा सावधानी से आलोचको और आलोचना-साहित्य का परिचय सकलित किया उसी मनोयोग और तेजस्विता के साथ समीक्षा-सिद्धातो और उनकी प्रयोग-जन्य उपलब्धियो को अकित करने की चेष्टा नही की। फल यह हुआ है कि प्रतिपादन की पुष्ट एव प्रौढ शैली के बावजूद भी प्रबन्ध वैसा विचारोत्तेजक नही बन सका जैसा अपेक्षित था—इसमे उस प्रखरता और तेजस्विता का अभाव है जो परवर्त्ती अनुसन्धाताओ को स्फूर्त्ति एव प्रेरणा दे सके। यह मानते हुए भी कि हिन्दी आलोचना की उपलब्धिया प्रत्येक क्षेत्र मे बहुत सीमित है, हम आज उसके ऐसे इतिहास की आवश्यकता अनुभव करने लगे है जो उक्त आलोचना के दर्शन और मूल्यगत सक्रमणो को ठोस रूप मे प्रत्यक्ष कर सके। आलोचना के निजी इतिहास-दर्शन द्वारा ऐसे इतिहास का अनुशासन होना अनिवार्य है। प्रस्तुत प्रबन्ध मे कुछ स्थलो पर इस इतिहास-चेतना की झलक भर मिलती है, उसे स्वस्थ आकार ग्रहण करने का अवसर नही मिला। लेखक जहा रचनात्मक साहित्य के परिपार्श्व मे आलोचना के परिणत मानमूल्यो का निरूपण करते है वहा समीक्षा के तात्त्विक इतिहास का स्वरूप अवश्य उभर आता है।

प्रबन्ध की इस सीमा का प्रत्यक्ष कारण है हिन्दी आलोचना-क्षेत्र मे महिमाशाली व्यक्तियो का अभाव। जिस प्रकार इतिहास-लेखन का गौरव उन प्रतिभाओ या महा-पुरुषो के गौरव पर निर्भर करता है जिनका कालजयी व्यक्तित्व लोकमानस मे चिरकाल तक प्रतिष्ठित ही नही रहता अपितु उसे प्रभावित, प्रेरित और रूपायित करता रहता है, उसी प्रकार आलोचना के इतिहास का महत्त्व या तो उन आलोचको एव उद्भावक आचार्यों पर निर्भर करता है जिन्होने स्वार्जित मानमूल्यो द्वारा प्रभावशाली लक्ष्य-ग्रन्थो के अन्त-र्निहित सौदर्य का उद्घाटन करके उन्हे समकालीन चिन्तनधारा के अजस्र प्रवाह के साथ एकाकार कर दिया है और इस प्रकार अपनी विश्लेषण-क्षमता का रचनात्मक उपयोग कर दिखाया है, या फिर ऐसे सिद्धात-निर्माता आचार्यो पर निर्भर करता है जो काव्यालोचन के लिये समुचित काव्य-दर्शन का साक्षात्कार कर सके है। हिन्दी आलोचना के सन्दर्भ मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ऐसे आलोचको या सिद्धान्त-निर्माता आचार्यो की सख्या कितनी है जिन्हे आश्रय कर के आलोचना का इतिहास लिखने वाला काव्य-दर्शन की उच्चतर भूमि पर अधिक समय तक सचरण कर सके और इस प्रकार ब्यौरे की स्थूल सामग्री के सकलन तथा आलोचना-साहित्य के सामान्य परिचय या विषयगत वर्गीकरण से अपने आपको बचाये रख सके। सच पूछा जाय तो ऐसे आलोचक के रूप मे अभी तक हमारे बीच आचार्य शुक्ल ही प्रतिष्ठित हो सके है। कुछ अन्य आलोचक ऐसे अवश्य है जो हिन्दी आलोचना के सिद्धान्तगत रूपान्तरो अथवा शैलीगत परिवर्त्तनो को व्यापक रूप से प्रतिबिम्बित करते है। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ मे जिन ३३ समीक्षको का विस्तृत विवरण सकलित है उनमे से अधिकाश इतिहास की शृखलाओ को ही जोडने वाले है। वे 'आरम्भ' और 'परिणाम' के 'सम्बन्ध-सूत्र' जैसे है और इतिहास के शृखलापूर्ण सग्रथन मे उनका इसी रूप मे उपयोग होना चाहिये। डॉ० शर्मा हिन्दी-समीक्षा की इस सीमा से पूर्ण परिचित

हैं, इसीलिये वे अधिकतर तथ्यमूलक परिचयात्मक विश्लेषण की ओर लौटते रहे हैं। हम जिस आदर्श इतिहास के आकाक्षी है उसकी सम्यक् पूर्त्ति तो किसी मेधावी आचार्य द्वारा ही हो सकती है किन्तु ऐसे शोध-प्रबन्धो मे उसकी निर्माण-प्रक्रिया की सूचना अवश्य मिलनी चाहिये ।

प्रबन्ध के मूल कलेवर मे आई हुई सामग्री मे अधिक नूतनता इसलिये नही पाई जा सकती कि प्राय प्रत्येक प्रसिद्ध आलोचक या समीक्षण-प्रवृत्ति पर आज ऐसे स्वतत्र ग्रन्थ और प्रबन्ध तैयार होते जा रहे है है जिनमे आलोचना-सम्बन्धी सामग्री अनायास ही प्रचुर परिमाण मे उपलब्ध हो जाय, फिर भी डॉ०शर्मा के विवेकपूर्ण सचयन के कारण पुस्तक के ये अश सतुलित और स्वच्छ बन गये है । उनका आलोचना के किसी विशेष सिद्धात पर आग्रह नही है, वे उदारभाव से प्रत्येक की सीमाओ और व्यावहारिक कठिनाइयो को समझते हुए उनके गुण-दोषो के बीच विभाजक रेखाए खीचने का प्रयास करते है। केवल दो समीक्षा-सम्प्रदाय ऐसे है जिनके विवेचन मे मृदुलता का अभाव दीखता है— एक है प्रगतिवादी समीक्षा-सम्प्रदाय और दूसरा है प्रयोगवादी । प्रबन्ध के अन्तिम भाग मे इनके विश्लेषण का अवसर आया है। वहा पहुचते-पहुचते हम आश्वस्त हो जाते है कि लेखक विवेकपूर्ण सतुलन का पल्ला नही छोड़ेगे, लेकिन उग्र वक्तव्यो की सख्या अधिक होते देखकर प्रतीत होने लगता है कि नितान्त समकालीन होने के कारण इन सम्प्रदायो के सदर्भ मे उनका स्वर आविष्ट हो उठा है। ऐसे वाक्य बारबार हमारे सामने आते हैं —

(क) 'इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रगतिवादी साहित्य और उसकी समालोचना मे साहित्य के प्रकृत स्वरूप को ग्रहण करने की उतनी प्रवृत्ति नही जितनी प्रचार और अपनी वाद-स्थापना की ।' (पृ० ४३५)

(ख) 'प्रगतिवादी समालोचना के तथाकथित स्वरूप मे हमे एक अभाव और खटकता है और वह है साहित्य-सौष्ठव और कलात्मक दृष्टि की उपेक्षा का। बात यह है कि प्रगतिवादी समालोचक जनवादी परम्परा का राग अलापते हुए साहित्य मे भी पूजीवाद और वर्गवाद का तत्त्वगुम्फन करना चाहते है जिसके कारण उन्हे साहित्य की शालीन और वैभवपूर्ण सस्थिति मे बुर्जुवा वृत्ति दृष्टिगोचर होती है।' (पृ० ४३४)

(ग) वैसे तो प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षा मे अनेक प्रकार के अस्त-व्यस्त और विकीर्ण विचार व्यक्त किए गये है और उस परम्परा का आज भी अन्त नही है, किन्तु उनसे किसी मौलिक और व्यवस्थित सत्य की उपलब्धि हो, ऐसा नही प्रतीत होता । (पृ० ४४१)

(घ) 'जब हमारी दृष्टि मे प्रयोगवाद का कोई पुष्ट और व्यवस्थित स्वरूप-विधान ही नही जम पाता तो उसका तात्त्विक विश्लेषण किस आधार पर किया जाय, यह कम उलझन का विषय नही है।' (पृष्ठ ४४२)

ये निष्कर्ष अपने आप मे मान्य हो सकते हैं किन्तु यही प्रस्तुत प्रबन्ध की शान्त और सन्तुलित विचारधारा को अनावश्यक रूप से क्षुब्ध करने वाले सिद्ध हुए हैं। इनमे सापेक्षिक मृदुलता का अभाव है ।

प्रबन्ध की प्राविधिक व्यवस्था उत्तम कोटि की है, केवल सामग्री को विभाजित करते समय नामकरण मे एक खटकने वाली बात आ जाने दी गई है। जब पूरे ग्रन्थ का नाम है 'आधुनिक हिन्दी साहित्य मे समालोचना का विकास' तब अवान्तर वर्गीकरण मे 'विकास काल' नाम आना उचित नही।(चारो काल प्रवर्त्तम, सवर्द्धन, विकास, प्रसार) 'प्रवर्त्तन', 'सवर्द्धन', 'परिपोषण' और 'प्रसार' की सज्ञाओ द्वारा अभिहित किये जा सकते थे। 'विकासकाल' कहने से भ्रम उत्पन्न होता है ।

इस विषय पर अनेक ग्रन्थो के होते हुए भी प्रस्तुत प्रबन्ध इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि एक स्थल पर हिन्दी आलोचना-सम्बन्धी विवेकपूर्ण जानकारी अन्यत्र उपलब्ध नही। शोध की मर्यादाओ से पूर्ण होने के कारण इस सामग्री का उपयोग भी अपनी सीमा में युक्तिसगत है। इसी लेखक से यदि हम आलोचना के सूक्ष्मतर स्वरूप के व्याख्यान की आशा करे तो क्या अनुचित होगा ?

हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा

डॉ० वेंकट शर्मा

आचार्य प० नन्ददुलारे वाजपेयी के सुयोग्य मार्ग-निर्देशन मे सागर विश्वविद्यालय, हिन्दी-विभाग के अन्तर्गत जो शोध-कार्य विगत बारह वर्षों से सम्पन्न हो रहा है, वह अपने आकार-प्रकार और गुण-गरिमा मे निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण है। उसके द्वारा न केवल आधुनिक साहित्य की विशिष्ट प्रवृत्तियो और युगीन समस्याओ का ही समीक्षण हुआ है, अपितु अनेकानेक साहित्य-स्रष्टाओ की कृतियो का विवेचन एवम् उनका कलात्मक प्रदेय भी प्रकाश मे लाया गया है। उक्त शोध-कार्य का एक प्रमुख अग भारतीय साहित्यशास्त्र की भूमिका मे विविध विधाओ का अनुशीलन एव उसकी तथ्यपूर्ण उपलब्धि भी है जिसके द्वारा हमे अपनी परम्परागत साहित्यनिधि का पुनराख्यान करने की नवीन दृष्टि प्राप्त हुई है। निश्चय ही यह कार्य-योजना एक सुसम्बद्ध सूत्र मे अनुस्यूत है जिसके द्वारा प्राचीन साहित्य-चितन को अभिनव स्वरूप प्रदान किया जा रहा है। प्रस्तुत प्रबन्ध भी उसी शोध-योजना का एक सफल परिणाम है जिस पर लेखक को सागर विश्वविद्यालय द्वारा गत वर्ष पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है। उक्त विश्वविद्यालय की हिन्दी-परिषद् के तत्त्वावधान मे किचित् परिवर्तन के साथ इसका प्रकाशन हुआ है।

जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही प्रकट है, लेखक ने अपने प्रबन्ध को विषय तथा समय-सम्बन्धी सीमाओ मे आबद्ध कर सन् १९०० से सन् १९५० पर्यन्त विकसित हिन्दी-समीक्षा के सैद्धातिक पक्ष का विवेचन 'व्यक्तिगत अध्ययन की परिपाटी पर किया है' जिसमे प्रतिनिधि समीक्षको की मान्यताओ का ही उल्लेख मुख्य रूप से हुआ है। लेखक चाहता तो शास्त्रीय पद्धति के आधार पर अपने अध्ययन को विशेष सम्पुष्ट धरातल पर प्रतिष्ठित कर सकता था किन्तु उसने वैसा करना उचित नही समझा। उसकी मौलिकता यदि किसी रूप मे स्वीकार्य समझी जा सकती है तो केवल इसी रूप मे कि उसने भारतीय रस-सिद्धात की भूमिका के साथ-साथ 'समीक्षा के भीतर राष्ट्रीयता के विकास को भी देखने का प्रयास किया है'। हिन्दी-समीक्षा के विकास पर इससे पूर्व जो शोध-प्रबन्ध एवं अन्य ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है, उनमे भी सैद्धातिक पक्ष की चर्चा पर्याप्त रूप मे की गई है। उनकी विद्यमानता मे लेखक द्वारा प्रस्तुत शोध-कार्य किसी महत्त्वपूर्ण अनुशीलन की भूमिका उपस्थित कर सका है, ऐसा हमे नही लगता। लेखक ने अपने पूर्ववर्ती तीन शोध-

---

लेखक डॉ० रामाधार शर्मा
प्रकाशक अनुसन्धान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर
मूल्य सोलह रुपये

प्रबन्धो की चर्चा करते हुए उनकी सीमाओ का निर्धारण किया है तथा अपने ग्रन्थ मे 'पुनरावृत्ति से बचने' की बात भी कही है, किन्तु वह एक सीमा तक ही ग्राह्य है क्योकि पिष्टपेषण की प्रचुर सामग्री इस ग्रन्थ मे विद्यमान है। लेखक द्वारा उद्धृत डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र और डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त के शोध-प्रबन्धो के अतिरिक्त प्रस्तुत पक्तियो के लेखक का शोध-प्रबन्ध भी समालोच्य ग्रन्थ के पूर्व प्रकाशित हो चुका था जिसकी विषय-सामग्री के आकलन एव अध्ययन का अवसर यदि लेखक को मिल जाता तो कदाचित् उसके लिए इस बात का उल्लेख करने की विशेष आवश्यकता नही रहती कि 'स्वच्छदतावादी समीक्षा पर इतने विस्तार से हिन्दी मे इसके पहले चर्चा नही हुई है।' अस्तु !

प्रस्तुत प्रबन्ध पाच खण्डो और चतुर्दश अध्यायो मे विभक्त है, जिनमे भारतेन्दु-युग से लेकर प्रयोगवादी समीक्षा पर्यन्त उसके सैद्धातिक पक्ष का उद्घाटन युग-परिस्थितियो के परिवेश मे प्रमुख समीक्षको की मान्यताओ के अनुरूप किया गया है। भारतेन्दु-युग के समीक्षको के पूर्व तत्कालीन परिस्थितियो का सिहावलोकन प्राप्त तथ्यो का सामान्य निष्कर्षमात्र है जिसमे मौलिक विवेचन का अश अत्यल्प है। तदुपरान्त सर्वश्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प० बालकृष्ण भट्ट, श्री 'प्रेमघन' तथा प० प्रतापनारायण मिश्र की समीक्षक-दृष्टियो का निरूपण है जो नवीन सामग्री से किचिन्मात्र भी मडित नही। विशेष बात यह है कि लेखक ने अपने अनुशीलन के आधार पर यह अभिमत अवश्य प्रकट किया है कि 'सर्वप्रथम हिन्दी पर व्यवस्थित समीक्षाए अग्रेजो की ही उपलब्ध होती है।' लेखक का यह निर्णय एक सीमा तक ही ग्राह्य समझा जा सकता है।

ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड 'द्विवेदी-युग' है जिसमे सर्वप्रथम आचार्य प० महावीर प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार काव्य का स्वरूप और प्रयोजन, काव्य के हेतु और गुण-दोष, काव्य के तत्त्व एव विषय आदि का विवरण देते हुए द्विवेदी जी की समीक्षा-दृष्टि पर विचार किया गया है। तदुपरान्त नवरीतिवादी समीक्षक के रूप मे सर्वश्री मिश्रबन्धु, प० पद्मसिह शर्मा, प० कृष्णबिहारी मिश्र तथा लाला भगवानदीन व्याख्यात हुए है। यह विवेचन परम्परामुक्त और साधारण श्रेणी का है। आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल की सैद्धातिक मान्यताओ का निरूपण 'द्विवेदी-युग' के अन्तर्गत करते हुए लेखक ने उनकी रसवादी दृष्टि की समीक्षा प्रमुख कृतियो के आधार पर की है और यह भी बतलाया है कि शुक्लजी के काव्य-सिद्धात उनके जीवन-दर्शन से किस प्रकार अनुप्राणित है तथा काव्य-तत्त्वो के प्रति उनकी कैसी धारणाए है। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-समीक्षा के विकास मे जो मौलिक निधि प्रदान की है, उसकी महत्ता के अनुरूप एक स्वतत्र खण्ड के रूप मे 'शुक्ल-युग' का समीक्षण करना कदाचित् अधिक समीचीन था, किन्तु लेखक ने उसे 'द्विवेदी-युग' की सीमा मे ही निरूपित करना अधिक युक्तिसगत समझा है। यह बात दूसरी है कि ऐसा करने पर भी 'शुक्ल-युग' का स्वतत्र रूप स्वत ही प्रस्फुटित हो गया है। शुक्ल-परम्परा के समीक्षको मे सर्वश्री चन्द्रबली पाडेय, डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र और डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा की गणना की गई है, जिनके

सिद्धात-पक्ष पर शुक्लजी की मान्यताओ का प्रभाव कितना अधिक है, यह विवेचित सामग्री से स्पष्ट है। लेखक का विश्वास है कि 'शुक्ल-परम्परा के समीक्षको मे न तो शुक्लजी की प्रौढ पकड दिखलाई पडती है और न उनके आदर्शों के प्रति अटूट आस्था ही।' इस खण्ड का अन्तिम अध्याय 'द्विवेदी-शुक्ल-युग की समीक्षा-दृष्टि' पर प्रकाश डालता है जिसमे पूर्व विवेचित सामग्री की निष्कर्षपूर्ण पुनरावृत्ति हुई है।

तृतीय खण्ड मे स्वच्छन्दतावादी समीक्षा का विवेचन करने के पूर्व ही लेखक यह मान कर चला है कि 'शुक्लजी की समीक्षा-दृष्टि का वास्तविक विकास स्वच्छन्दतावादी समीक्षा मे ही हो सका।' लेखक के मतानुसार इस प्रकार की समीक्षा के उन्नायक एव प्रतिनिधि लेखक सर्वश्री नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र और श्री शातिप्रिय द्विवेदी है जिनकी सैद्धातिक मान्यताओ और आस्थाओ का विश्लेषण क्रमश स्वतत्र अध्यायो के कलेवर मे विस्तारपूर्वक किया गया है। लेखक ने प्रचुर प्रमाणो के आधार पर यह तथ्य निरूपित करने की चेष्टा की हे कि आचार्य वाजपेयी का काव्य-सिद्धात यदि रस अथवा काव्य-सवेदना की भित्ति पर आधारित है तो डॉ० द्विवेदी का साहित्य-सिद्धात मानवतावाद की आधारशिला पर अधिष्ठित है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार तो 'आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्त्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है।' लेखक ने शातिप्रिय द्विवेदी की विचारणाओ का विवेचन करते हुए उन्हे प्रभाववादी अथवा आत्मभिव्यजक समीक्षक माना है। वस्तुत स्वच्छन्दतावादी समीक्षा मे लेखक को सैद्धातिक पक्ष की प्रौढता और व्यापकता के दर्शन हुए है और यही कारण है कि ग्रन्थ का तृतीयाशाधिक कलेवर उन्ही के विवेचन मे समाहित हो गया है। अन्य खण्डो की भाति इस खड के अन्तिम अध्याय मे स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-दृष्टि का पुनर्निरीक्षण है जो मूलत रस-सिद्धात की नवीन विवेचना कही जा सकती है।

ग्रन्थ का चतुर्थ खण्ड प्रगतिवादी समीक्षा की विवेचना करता है जिसका एकमात्र आधार बनाया गया है डॉ० रामविलास शर्मा का कृतित्व और उनके द्वारा विवेचित साहित्य-निर्माण के तत्त्व एव उद्देश्य। वस्तुत प्रगतिवादी समीक्षा के स्वरूप-गठन तथा जीवन-दर्शन की मौलिक ससिद्धि का विश्लेषण उसकी पृष्ठभूमि के रूप मे किया जाना परम वाछनीय था किन्तु लेखक ने इस ओर अत्यल्प ध्यान दिया है। प्रगतिवादी समीक्षा की विवेचना को केवल डा० रामविलास तक ही सकेन्द्रित करना किसी भी रूप मे पर्याप्त नही कहा जा सकता क्योकि साहित्य-मनीषियो के सम्मुख यह तथ्य सम्यक् रूप से प्रकट है कि इस क्षेत्र मे सर्वश्री शिवदानसिह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रागेय राघव और अमृतराय आदि विचारको ने जो धारणाए व्यक्त की है, उनका विमर्श करने के पश्चात् ही हिन्दी साहित्य मे उसके रूप-विधान का तात्त्विक निरूपण किया जा सकता है। इसी प्रकार चतुर्थ खण्ड के अन्तर्गत प्रयोगवादी समीक्षा के नाम पर केवल श्री अज्ञेय की उन मान्यताओ का उल्लेख, जिन्हे उन्होने मुख्यत टी०एस० इलियट आदि विचारको तथा एडलर आदि मनोविश्लेषको से ग्रहण किया है, कदाचित् उसके सागोपाग विवेचन मे पूर्ण समर्थ नही है। सच तो यह है कि आचार्य शुक्लजी के पश्चात्

हिन्दी-समीक्षा ने जो कुछ प्रगति और प्रसार प्राप्त किया है, वह अनेक प्रकार के ऊहापोहो और अन्तर्विरोधो से सग्रथित है, जिसका मूल्याकन विशुद्ध साहित्यिक और सास्कृतिक धरातल पर करना परम वांछनीय है। आज इस बात की नितात आवश्यकता है कि रचनात्मक साहित्य के परिपार्श्व मे हिन्दी-समीक्षा के स्वतत्र प्रतिमान का निर्धारण किया जाय तथा इस विषय की तथ्यपूर्ण शोध हो कि उसका सिद्धात-पक्ष जिन तत्त्वो से निर्मित है, वे किन अशो तक भारतीय अथवा अभारतीय है तथा उसकी उपलब्धि विश्व-साहित्य के समीक्षणार्थ किस रूप मे निकष-निधि बन सकती है। अच्छा होता, यदि विद्वान् शोध-कर्त्ता समीक्षा के सैद्धातिक स्वरूप को स्पष्ट करते समय इस प्रकार के विवेचन की आवश्यकता विशेष रूप से अनुभव करते जिससे समीक्षा की आत्म-चेतना विशिष्ट भास्वरता के साथ प्रस्फुटित होती।

कुछ विद्वानो की सम्मति मे जब आलोचना आधुनिक साहित्य का सर्वाधिक सम्पुष्ट अग है और उसके शाश्वत स्वरूप का अनुसन्धान साहित्योत्कर्ष के भव्य विधान के लिए परम आवश्यक है तो इस ओर अनुसन्धित्सुवर्ग का आकर्षण सर्वथा स्वाभाविक ही कहा जा सकता है। इस दृष्टि से हम प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का भी हार्दिक स्वागत करते हैं किन्तु उसकी न्यूनताओ की ओर भी भावी शोधकर्ताओ का ध्यान आकृष्ट करना अपना कर्त्तव्य समझते है। हम आचार्य वाजपेयी के 'प्रारम्भिक वक्तव्य' के इस अश से सहमत है कि 'डॉ० शर्मा की आधारभूमि विवादास्पद हो सकती है परन्तु अनुपयोगी नही। उनकी यह प्रणाली भी सर्वसम्मत नही होगी परन्तु इसकी अपनी विशेषताए भी है। यो तो कोई भी विचारणा या रचना-विधि एकदम दोषरहित नही हो सकती।' आदि। हमारी विनम्र सम्मति मे प्रस्तुत ग्रन्थ पर आचार्य वाजपेयी की मान्यताओ का अत्यधिक प्रभाव है और यही कारण है कि लेखक ने स्वच्छन्दतावादी समीक्षा को सर्वाधिक गुरुता प्रदान की है। उसका विवेचन अनुसन्धान की प्रक्रिया से सर्वथा सुग्राह्य है किन्तु अनुसन्धानकर्ता के लिए अपेक्षित समीक्षात्मक दृष्टि और व्यक्तित्व-गरिमा के तत्त्व इसमे गण्यमान रूप मे प्रस्फुटित नही हो सके है। इतना ही नही, लेखक ने हिन्दी की सैद्धातिक समीक्षा के विकास मे जिन समीक्षको का विवेचन किया है वे कतिपय विद्वानो की दृष्टि से पर्याप्त नही समझे जा सकते। समीक्षा के सैद्धातिक स्वरूप का विश्लेषण परम्पराभुक्त प्रणाली पर ही न किया जाकर किसी वैज्ञानिक, सतुलित और मौलिक प्रविधि मे किया जाता तो कदाचित् वह अधिक उपादेय सिद्ध हो सकता था। साथ ही साथ विद्वान् शोध-कर्त्ता समस्त अध्यायो मे पारस्परिक पूर्वापर-सम्बन्ध का सन्तुलित निर्वाह करते हुए उन्हे शोध-सामग्री के वैशिष्ट्य से अलकृत करते तो उसके पूर्ववर्ती एव उत्तरवर्ती खण्डो मे उल्लेखनीय तारतम्य आ जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने कुछ अध्याय तो पूर्ण निश्चिन्तता के साथ जम कर लिखे है तथा कुछ अध्यायो को केवल यो ही चलता कर दिया गया है। 'काव्य-धारा के प्राधान्यवश लेखक ने शुक्लोत्तरकालीन समीक्षा को जिस अर्थ में प्रगतिवादी एव प्रयोगवादी सज्ञाओं से अभिहित किया है, वह कतिपय विद्वानो की

विचारणा मे विवादैषणा का विषय है। अभिप्राय यह है कि विवेच्य शोध-प्रबन्ध लेखक के शब्दो मे उसकी 'पचवर्षीय योजना का सुफल' है किन्तु उसके आद्योपात अध्ययन के पश्चात् हमे यह निर्णय करने मे किंचिन्मात्र भी सकोच नही होता कि उसमे सुज्ञात तथ्यो और उपलिब्धयो का जितना अधिक पुनराख्यान है उतना मौलिक तत्त्वो के अभिनिवेश का नही। आशा है, भविष्य मे लेखक द्वारा किये जाने वाले कार्यो मे हम अपनी इस कामना की सम्पूर्ति प्राप्त कर सकेगे।

आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका

डॉ० रमेशकुन्तल 'मेघ'

डॉ० बलभद्र तिवारी का यह ग्रन्थ समग्र 'आधुनिक' हिन्दी साहित्य की सभी कला-विधाओ मे व्यक्तिवाद की भूमिका तथा उसके विभिन्न रूपातरो की छानबीन करने का प्रयास है। लेखक ने इसे दो खण्डो मे बाटा है--पहला खण्ड सैद्धातिक है जिसमे सर्वागत पाश्चात्य विज्ञान, सामाजिक शास्त्रो आदि के आधार पर व्यक्तिवाद का विकास, उसकी दार्शनिक भूमिका, तथा साहित्य मे उसके विभिन्न दृष्टिकोणो की विभावना की है। यह लगभग ८० पृष्ठो का है। दूसरा खण्ड व्यावहारिक है जिसमे हिन्दी साहित्य के विभिन्न युगो तथा कुछ चुनी हुई कथात्मक कृतियो मे पहले खण्ड की सामग्री का अपने ढग से उपयोग किया गया है। हम लेखक के घोर श्रम-परिश्रम की प्रशसा करते है कि उसने 'व्यक्तिवाद' पर इतनी सामग्री एक स्थान पर सकलित की। व्यावहारिक खण्ड के प्रत्येक अध्याय मे लेखक ने सभी प्रकार की सामाजिक, सास्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक पृष्ठ-भूमियो का भी लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है, तथा सैद्धातिक खण्ड मे हीगेल, आर्नाल्ड, बैथम आदि को भी व्यक्तिवादी चिंतन की परिधि मे रखने का सफल प्रयास किया है। छायावाद सम्बन्धी खण्ड तथा छायावादोत्तर कुछ व्यक्तिवादी कवियो के प्रसग मे लेखक ने कुछ रमकर बहुत अच्छा काम किया है। सारी शोध-सामग्री के पढ़ने के बाद यह भास होता है कि जो कुछ भी है, या जो कुछ भी देखा-परखा गया है, वह एक व्यक्तिवाद की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति मे रगा है और उस पर अकारण दूजा रग चढा ही नही है। लेखक ने इस प्रबन्ध मे विस्तृत साहित्य को समेट लिया है, और उपचार किया है जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, भारती के कुछ उपन्यासो का, हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रसाद आदि के कुछ नाटको का, भारतेन्दु युग के कुछ निवन्धो का भी, और कुछ कथाओ की स्फुट सामग्री का भी। हमारे विचार से यदि इसके शोध विषय को काव्य (मुख्यत गीत, मुक्तक), चारु निबन्ध, आत्मकथा, एव जीवनी, गद्यगीतादि तक मे सीमित कर दिया जाता तो यह बडी ही सुगठित एव अनूठी कृति हो जाती। व्यापकता का मोह कभी-कभी शोध-प्रबन्ध को असन्तुलित कर देता है। पर अनुसन्धाता इस कृति मे मूल विषय से दूर नही गया है। यह इस प्रबन्ध की विशेषता है।

लेखक डॉ० बलभद्र तिवारी
प्रकाशक नन्दकिशोर एण्ड सस, वाराणसी
मूल्य ९ रुपये।

कृति के इन कतिपय प्रशसनीय गुणो की फलित गणना के समानान्तर मैं कुछ और विचार भी प्रस्तुत करना चाहूगा। मुझे यह लगा है कि लेखक व्यक्तिवाद की समस्या को आयत्त करने की दिशा मे शायद दूर तक परिभ्रमण करता गया है क्योकि लेखक ने स्वय भूमिका मे कहा है कि 'मैने पश्चिमी विचारधारा को प्रधानता देकर इस विषय का अनुशीलन आरम्भ किया है', इसलिये मै इसी दृष्टि से कुछ कहना चाहूगा। यद्यपि लेखक ने पहले अ याय मे बडी ही महत्त्वपूर्ण और सार्थक सामग्री के आधार पर आधुनिक व्यक्तिवादी दिशा से सम्बन्धित विचार सकलित किये है, किन्तु पहले और दूसरे अध्याय की सामग्री को वह अपने व्यावहारिक खण्ड मे उस औचित्य के साथ इस्तेमाल करने की ओर से कुछ बेफिक्र हो गया। व्यक्तिवाद की दार्शनिक रेखाओ को लेखक ने हीडोनिस्ट तथा सोफिस्ट परम्परा के यूनानी दार्शनिको से शुरू किया है किन्तु व्यक्तिवाद की पहली महत्तम और शाश्वत समस्या अरस्तू ने अपने 'नीतिशास्त्र' मे उठाई है—शुभ-अशुभ, अधिकार-कर्त्तव्य की। यह समस्या सामन्त-युग तक नाना रूपो मे सारी सभ्यताओ के सामने व्यक्ति और जाति के अन्त सम्बन्धो एव द्वद्वो को पेश करती रही है। लेखक ने यदि अपने ग्रन्थ मे इस भूमिका पर विशेष ध्यान दिया होता तो शोध-प्रबन्ध और अधिक महत्त्वमय हो जाता। दूसरी भूमिका है—ज्ञान की समस्या की। व्यक्ति-सत्य और समाज-तथ्य के बीच बौद्धिकता, वैयक्तिकता, आदर्श आदि के चिरन्तन प्रश्न उठे है। लेखक ने इस ज्ञान-मीमासक पक्ष पर कम विचार किया है। व्यक्तिवाद की तीसरी दिशा सत्ता (राज्य और शासन की सत्ता) के विरोध मे व्यक्ति के मौलिक अधिकारो की है। कम-से-कम भारतेन्दु-युग एव प्रगतिवादी काव्य मे इस पर जमकर काम होना था क्योकि यह राजनीतिक अर्थतत्र की निसर्ग रुचा है। व्यक्ति और विकासक्रम को डार्विनवाद से आगे ले जाने वाले अनेक दार्शनिक मत है—जिनपर स्वतत्र रीति से विचार हो सकता है। एक बुनियादी सवाल है—व्यक्ति बनाम सर्जना का, जिसके अन्तर्गत वैयक्तिकता बनाम यथार्थता, वैयक्तिकता बनाम शैली (तकनीक) एव विषय वस्तुचयन, वैयक्तिकता बनाम परम्परा एव मौलिकता, वैयक्तिकता बनाम निर्वैयक्तिकता आते है। अन्तत वैयक्तिकता बनाम अतिवैयक्तिकता (Superman) की भी समस्या आती है। व्यक्ति व्यक्तित्व तथा व्यक्तिगत चेतना के अन्त सम्बन्धो को स्पष्ट करने का यत्र-तत्र प्रयास इस शोध प्रबन्ध मे पाया जाता है। व्यक्तिवाद का निश्चयवाद (Determinism) से निरन्तर सघर्ष चलता रहा है। इसीलिए भाग्य या नियति, सामाजिक समूह, कालगत—वाद, मत कला-शैलिया—व्यक्तिवाद के सर्वेक्षण की अच्छी सामग्री देती है। इस तरह इस पुस्तक को पढकर और इस पर विचार करके हम लेखक के प्रथम भगीरथ प्रयत्न को बधाई देते है। हिन्दी मे अपनी दिशा मे यह पहला प्रयास है कि एक अत्यन्त चिरन्तन प्रश्न उठाया गया है और काफी तत्त्व सामग्री-मन्थन के बाद निकाले गये है। लेखक ने नवीन साहित्य की व्यक्तिमुखी प्रवृत्तियो की असामाजिक तथा असास्कृतिक भूमियो का सही और प्रशसनीय पर्दाफाश किया है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने कृति के आमुख मे सत्य ही कहा है—"हिन्दी के सामान्य पाठक ही नही, विशिष्ट शिक्षित समाज मे भी

प्राचीन और आधुनिक साहित्य-सम्बन्धी धारणाए स्पष्ट नही हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध से उनके स्पष्टीकरण मे यथेष्ट योग प्राप्त होगा और साहित्य-सम्बन्धी नवीन विवेक जाग्रत हो सकेगा। आधुनिक हिन्दी-साहित्य की विविध धाराओ मे, विविध कलाकारो की कृतियो मे, व्यक्तिवाद और सामाजिकता के द्वन्द्व का स्वरूप स्पष्ट करने मे डॉ० तिवारी का यह प्रबन्ध बहुत दूर तक समर्थ और सहायक होगा।" सामान्यत हम इससे सहमत है।

बंगला पर हिन्दी का प्रभाव

डॉ० सत्येन्द्र कुमार

हिन्दी मे अनुसन्धान-कार्य विषय और विस्तार की दृष्टि से बहुमुखी होता जा रहा है, फिर भी इस थीसिस का विशेष महत्त्व है। एक तो इसका विषय बिल्कुल अछूता है। इसकी प्रासगिक चर्चा तक इतिहासो मे बहुत कम मिलती है। इस तरह इसके सूचना-भण्डार द्वारा हिन्दी साहित्य समृद्ध हुआ है और हिन्दी-पाठक को एक नए क्षेत्र का परिचय मिला है। दूसरे, यह एक गूढ विषय है जिसके लिए तटस्थता एव गभीर अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है। प्राय ऐसे विषयो मे लेखक अपनी भाषा और साहित्य के पूर्वाग्रहो से अलग नही हो पाता। इतनी सीमाओ और बाधाओ के बावजूद डॉ० ब्रह्मानन्द ने बडी ईमानदारी से अपने विषय का विश्लेषण करने का प्रयास किया है।

लेखक ने विषय का विवेचन बडे वैज्ञानिक ढग से किया है। उन्होने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि बगला पर हिन्दी का प्रभाव कोई सामयिकी प्रतिक्रिया आदि के कारण नही हुआ, उसकी तो एक पुष्ट एव समृद्ध परम्परा मिलती है। प्रारम्भ से ही मध्य प्रदेश की भाषा और साहित्य सारे भारत के लिए प्रेरणा-स्रोत रही है। यहा की सस्कृति और साहित्य देश की विभिन्न धाराओ मे प्रस्फुटित हुए है। वास्तव मे सास्कृतिक केन्द्र होने के कारण यहा की भाषा सभी प्रदेशो को अनुप्राणित करती रही। सस्कृत, पाली, प्राकृत, शौरसेनी अपभ्रश की उत्तराधिकारिणी के रूप मे ब्रजभाषा और आधुनिक हिन्दी (खडी बोली आदि) को यह गौरव प्राप्त हुआ।

जैसा कि आवश्यक था, पूर्वपीठिका के रूप मे हिन्दी और बगला साहित्य की सास्कृतिक एकता का विवेचन किया गया है। दोनो का उद्भव और विकास एक ही स्रोत से हुआ है। सस्कृत भाषा, दार्शनिक, पौराणिक, धार्मिक तथा साहित्यिक पृष्ठभूमि दोनो को विरासत मे समान रूप से मिली है। यह क्रम अपभ्रश तक चलता रहा। शौरसेनी अपभ्रश का प्रभाव-क्षेत्र व्यापक रहा। सभवत इसीलिए अधिकाश प्रादेशिक भाषाए 'दोहा-कोश' और 'चर्या-पदो' को अपना पुराना रूप समझती है। निश्चय ही यह सिद्ध एव नाथ सम्प्रदाय के सार्वप्रादेशिक प्रचार एव प्रसार के कारण था। पूर्वी प्रदेशो मे गोरख-

---

लेखक डॉ० ब्रह्मानन्द
प्रकाशक अशोक प्रकाशन, दिल्ली
मूल्य १५ रुपये

नाथ की विशेष प्रसिद्धी रही। बुद्ध की जन्मभूमि होने के कारण उस प्रदेश मे वाम मार्गियो का बडा जोर रहा।

सिद्धो-नाथो की अटपटी भाषा और विकृत विचारधारा के धुधले वातावरण मे विद्यापति ने अपनी मधुर रागिनी छेडी। सारा बगाल उससे आप्लावित हो गया। वस्तुत विद्यापति से ही बगला पर हिन्दी का स्थायी प्रभाव शुरू होता है। विद्यापति की कोमल पदावली और माधुर्य भावना मे उन्मादकारी आकर्षण था जिससे भावुक बगाली के लिए बचकर निकलना असभव था। फलस्वरूप विद्यापति की मधुर-उपासना और रोमानी दृष्टिकोण की परवर्ती बगला साहित्य मे गहरी छाप मिलती है। ब्रजबुलि के उद्भव के बारे मे मैथिली के अप्रत्यक्ष प्रभाव से इन्कार नही किया जा सकता।

भक्ति-आन्दोलन सर्वभारतीय था। यह धार्मिक एव दार्शनिक होता हुआ भी सास्कृतिक अधिक था। इसीलिए इसका प्रस्फुटन सभी प्रादेशिक साहित्यो मे मिलता है। भक्ति का जन्म चाहे दक्षिण मे हआ परन्तु उसके वास्तविक स्वरूप का विकास उत्तर मे हआ। इसका मूल कारण हमारे वैष्णव अवतार राम-कृष्ण की जन्म-भूमि इस प्रदेश मे थी। विद्यापति से अनुप्राणित होने के कारण बगाल मे कृष्ण-भक्ति ही लोकप्रिय हो सकी। चैतन्य महाप्रभु इसी मधुर भावना से आप्लावित थे। उनका प्रेम उन्माद की सीमा तक पहुच चुका था। अपने इष्टदेव का जन्म-स्थान ब्रजमण्डल, उनके लिए बैकुण्ठधाम के बराबर होना स्वाभाविक है। उसके सामीप्य एव सान्निध्य के लिए उसकी हर वस्तु मे लीन होना आवश्यक है। गौडी-वैष्णव-भक्ति के आचार्य और अनुयायी भी वृन्दावनधाम के लिए उत्कठित रहते थे। इसी मन स्थिति मे यह शायद इतना आश्चर्यपूर्ण न लगे कि सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास आदि भक्त कवियो के पद बगला-साहित्य मे प्रचलित मिलते है। यही नही, ऐसे कई बगाली भक्त हुए है जिन्होने ब्रजभाषा मे पद लिखे। कृष्णदास, परमानन्द, रघुनाथ दास, शिवराम आदि उल्लेखनीय है। बगालियो की यह हिन्दी सेवा असाधारण होते हुए इष्टदेव के तादात्म्य के कारण बडी स्वाभाविक लगती है।

अपने इष्टदेव की कल्पना और अनुभूति के आग्रह ने ही समान अभिव्यक्ति को जन्म दिया। ब्रजबुलि के विकास के पीछे यही भावना कार्य कर रही है। अपनी एक-निष्ठता तथा भक्ति-भावना से अनुप्राणित होकर ही भक्त अपने भगवान् की हर वस्तु अपनाना चाहता है। सभवत इसीलिए सभी भक्त-कवियो के लिए ब्रजबुलि मे लिखना आवश्यक हो गया था। बगला मे इसका समृद्ध-साहित्य मिलता है जो १५वी से १९वी सदी तक प्रचलित रहा। यही नही, आधुनिक युग मे बकिम और रवीन्द्र ने इसके प्रयोग से उक्त मत की पुष्टि की है।

लेखक ने बडे परिश्रम एव अध्यवसाय से ब्रजबुलि के स्वरूप का विश्लेषण किया है और उस पर हिन्दी के 'शब्दगत, वाक्य विन्यासगत, पदगत, भाषा रूप-गत, अनुवादाव-तरणागत' प्रभाव का विवेचन किया है। उन्होने समान प्रयोग और प्रसग के उदाहरण ढूढने जैसे दुरूह कार्य मे अपनी सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया है।

हिन्दी भक्ति-साहित्य से प्रेरित होकर ही नाभादास की भक्तमाल का अनुवाद किया गया। निश्चय ही यह निकट सम्पर्क के कारण हुआ और इसका परवर्ती साहित्य पर प्रभाव पडा। भक्तमाल का अनुवाद स्वतत्र रूप से किया गया, उसमे कई नए स्थल जोडे गये है।

भक्ति-साहित्य की रोमानी भावना ने बगला कवि को रोमाटिक गाथाओ की ओर उन्मुख किया। इसी पृष्ठभूमि मे दौलत काजी और सैय्यद आलाओल हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य की ओर झुके। साधन द्वारा लिखित 'मैनासत' काव्य के आधार पर दौलत काजी ने 'सतीयमना और लौर चन्द्रानी' का सृजन किया। आलाओल ने जायसी के पद्मावत का स्वतत्र अनुवाद किया। कुतबन की मृगावती का भी अनुकरण मिलता है। वस्तुत इस्लामिक बगला साहित्य भाव और भाषा की दृष्टि से हिन्दी से प्रभावित था। भारतचन्द्र राय गुणाकार भी इसी वातावरण की उपज है। उन्होने हिन्दी और ब्रजबुलि मे कविताए लिखी। रामनिधि गुप्त के टप्पे भी उल्लेखनीय है।

ऐसा लगता है कि हिन्दी साहित्य का पूरा रसास्वादन करने के बाद बगला कवि तुलसी दास के रामचरित मानस मे अनुप्रेरित हुआ। रामानन्दयति, रघुनन्दनदास, राममोहन वद्योपाध्याय ने तुलसी के प्रभाव का स्वीकार किया है। आधुनिक काल मे सतीनाथ भादुडी तक तुलसी से प्रेरणा ग्रहण किए बिना न रह सके।

आधुनिक युग मे परिस्थितिया भिन्न थी। जनजागरण और नवोत्थान का आरम्भ बगाल से हुआ। फिर भी राजा राम मोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, बकिमचन्द्र ने हिन्दी को अपनाया। वास्तविक प्रभाव रवीन्द्र पर मिलता है। वैसे तो हिन्दी सगीत की उन पर गहरी छाप है और लेखक ने विस्तृत विवेचन भी किया है। परन्तु रवीन्द्र मे सत-साहित्य का प्रभाव ही द्रष्टव्य है। सतो की सरल और फक्कड वाणी मे भी जीवन के गहरे अनुभवो की सहज पकड मिलती है। रवीन्द्र उसी से अनुप्राणित हुए। उनकी दार्शनिक विचारधारा मे सन्तो का विशेष योगदान है।

आधुनिक बगला मे हिन्दी शब्दावली के प्रयोग की भी चर्चा की गई है। हिन्दी की कहावते जो बगाल मे ज्यो की त्यो अपना ली गई है, जिनका अनुवाद या शब्दानुवाद किया गया, जिनका बगला मे रूपान्तरण किया गया, इन सब का सकलन बडे परिश्रम से किया गया है।

थीसिस के सामान्य पर्यवेक्षण पर कुछ ऐसी बाते स्पष्ट दिखाई देती है जिन पर यथेष्ट ध्यान नही दिया गया है। हिन्दी का बगला पर प्रभाव नाथ-सिद्धो और विद्यापति से आरम्भ होता है। दोनो का अपेक्षित गहराई के साथ विश्लेषण नही किया गया। बगाल मे सिद्धो तथा नाथो का विशेष प्रचार रहा। स्पष्ट है ये आन्दोलन हिन्दी-प्रदेश के प्रभाव-स्वरूप आए पर लेखक ने इस प्रभाव का विश्लेषण नही किया। बगाल मे इस सम्प्रदाय ने क्या रूप धारण किया, हिन्दी से वह किस हद तक अनुप्राणित था, उनमे साम्य-वैषम्य कहा है और इतनी बलवती धारा होने के बावजूद वहा सन्त साहित्य का क्यो नही विकास

आ आदि प्रश्न कही नही उठाए गए, हालाकि उसी के आधार पर हिन्दी मे (और अन्य) प्रदेशो मे भी सन्त-साहित्य का विकास हुआ और वह अपने आप मे बडा सार्वजनिक आन्दोलन था ।

वस्तुत बगला पर हिन्दी का प्रभाव विद्यापति से आरम्भ होता है । बगला के समस्त परवर्ती साहित्य पर विद्यापति की अमिट और अविच्छिन्न छाप मिलती है । इसमे कोई सन्देह दिखाई नही देता कि विद्यापति की मधुर भावना से आप्लावित होकर ही बगला कवि हिन्दी साहित्य की ओर झुकते रहे । इसी के प्रभावस्वरूप वहा कृष्ण की माधुर्य्य-भक्ति का विकास हुआ अन्यथा हिन्दी मे तो कृष्ण के वात्सल्य और शृगार दोनो रूपो का चित्रण किया गया । मध्ययुगीन बगला कविता, विशेषत ब्रजबुलि साहित्य की यही भावधारा है । यह निश्चित-सा लगता है कि मधुर भावना मे विलीन होकर बगला कवि नीरस सन्त-काव्य की ओर उन्मुख न हो सका । इतनी प्रबल एव महत्त्वपूर्ण मधुर भावना का प्रस्फुटन कैसे हुआ, उसका क्या स्वरूप था, उस पर हिन्दी का कहा और कैसे प्रभाव पडा, कहा समानता और कहा अन्तर था, इसमे विद्यापति का किस रूप मे प्रभाव पडा आदि गम्भीर प्रश्नो पर कोई विचार नही किया गया । चैतन्य महाप्रभु की भक्ति-भावना की क्या विशेषता थी, हिन्दी का किस तरह प्रभाव पडा, उनका अपना क्या योगदान है आदि की चर्चा नही की गई है । यही बात गाडी-वैस्लव भक्तो के बारे मे कही जा सकती है ।

थीसिस के अध्ययन से साफ पता लगता है कि लेखक का ध्यान भाषागत प्रभाव दिखाने की ओर अधिक रहा, वैसे तो वहा भी खीचातानी के उदाहरण मिल जाते है । यह नही कि इसकी कोई उपयोगिता नही, इसका अपना महत्त्व है परन्तु इससे लेखक वस्तुपरक पक्ष पर ही जुटा रहा, विचार पक्ष की ओर पूरा ध्यान नही दे सका । मोटे तौर पर तो यही कहा जाएगा कि हिन्दी भक्ति-साहित्य का बगला साहित्य पर सब से अधिक प्रभाव पडा । पाठक आशा करना है कि भक्ति के स्वरूप की चर्चा होगी पर उसका कोई विस्तृत उल्लेख नही किया गया । इसीलिए थीसिस वर्णनात्मक अधिक लगता है, विश्लेषणात्मक कम ।

फिर भी, डॉ० ब्रह्मानन्द बधाई के पात्र है । उन्होने हिन्दी जगत् को नया विषय दिया, एक नया परिचय दिया । उनके थीसिस का महत्त्वपूर्ण पथ उनकी तटस्थ अन्तर्दृष्टि और प्रौढ शैली है । आशा है, इस दिशा मे और खोज की जाएगी ।

कुमाउँनी लोक-साहित्य

डॉ० गुणानन्द ज्वाल

लोक-साहित्य मे लिखित-साहित्य की अपेक्षा समाज के हृदय की धडकन अधिक स्पष्ट सुनाई देती है। वह समाज का वास्तविक प्रतिबिब होता है। अत समाज के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए उस समाज के लोक-साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। भारत मे लोक-साहित्य के अध्ययन की रुचि पाश्चात्य देशो के सम्पर्क से ही उत्पन्न हुई, अत आरम्भ मे लोक-साहित्य का अध्ययन अग्रेजी के माध्यम से ही होता रहा किन्तु गत अर्द्ध शताब्दी से भारतीय भाषाओ मे भी भिन्न-भिन्न भूभागो के लोक-साहित्य का अध्ययन आरम्भ हो गया है। अभी तक सग्रह-ग्रन्थो के रूप मे ही अधिक कार्य हुआ है आलोचनात्मक दृष्टि से कम। गत कुछ वर्षो से हिन्दी मे प्रमुख उपभाषाओ के लोक-साहित्य पर आलोचनात्मक दृष्टि से अच्छे ग्रन्थ उपस्थित किए गए है। पहाडी बोलियो के लोक-साहित्य पर अभी तक विशेष कार्य नही हुआ है। डॉ० गोविन्द 'चातक' ने गढवाली लोक-गीतो पर एक पुस्तक बनाई है। सन् १९६० मे डॉ० त्रिलोचन पाडेय ने अपने शोध-प्रबन्ध के रूप मे कुमाउँनी लोक-साहित्य नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमे लोक-साहित्य के सभी अग—लोग-गीत, लोक-गाथाए, लोक-कथाए, कहावते, पहेलिया, मुहावरे आदि पर सर्वांगीण प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ मे सूक्ष्म तथ्यात्मक विवेचन है अत भविष्य मे लोक-साहित्य पर लेखनी उठाने वालो के लिए डॉ० त्रिलोचन पाडेय का यह ग्रन्थ आदर्श का काम कर सकता है। निम्नाकित पक्तियो मे इस ग्रन्थ का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

अग्रेजो के शासन-काल मे उत्तर प्रदेश का पश्चिमोत्तर पहाडी-प्रदेश—देहरादून और टेहरी गढवाल (रियासत) को छोडकर—कुमाऊ कमिश्नरी कहलाता था। स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् टेहरी-गढवाल (रियासत) को भी कुमाऊ कमिश्नरी मे मिला लिया गया। गढवाल के धुर उत्तर मे बाडाहोती के सम्बन्ध मे चीन से विवाद खडा होने के पश्चात् टेहरी गढवाल, गढवाल (पौडी) अलमोडा जिलो के उत्तरी भागो—उत्तरी काशी, चमोली और पिथौरागढ—को मिलाकर एक नई कमिश्नरी उत्तराखण्ड के नाम से स्थापित की गई है। अब कुमाऊ के अन्तर्गत टेहरी गढवाल, गढवाल (पौडी), अलमोडा और नैनीताल (जिसके अन्तर्गत कुछ भाग मैदान का भी है) के जिले आते है। यह तो

लेखक डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय
प्रकाशक श्री अलमोडा बुक डिपो, अलमोडा
मूल्य १७ ० ५० पैसे

कुमाऊ का राजनीतिक मानचित्र है किन्तु वे भूभाग जिनमे कुमाउनी-बोली बोली जाती है, इस प्रकार है—नैनीताल जिले का पर्वतीय भाग, अलमोडा जिला और पिथौरागढ का जिला। कुमाउँनी भाषी क्षेत्र से पश्चिम मे गढवाली, उत्तर मे तिब्बती या हूणिया, पूर्व मे नेपाली और दक्षिण मे थारू, आदि बोलियो और ब्रजभाषा का क्षेत्र है।

'कुमाऊ' शब्द कूर्माचल का तद्भव रूप है। कुमाऊ मे गढवाल की भाति अचानक ऊपर उठनेवाली पर्वत-श्रेणिया और गहरी घाटिया बहुत कम है प्रत्युत् क्रमिक ढलवादार पहाड़िया है, कदाचित् कूर्म की पीठ के समान होने के कारण ही इसका नाम कुर्माचल पडा हो। ये पर्वत-श्रेणिया अत्यन्त रमणीक है। प्रकृति के सौदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति इस प्रदेश मे हुई है। इसका प्रभाव कुमाऊ के जन-जीवन पर भी पडा है। कूमाऊ के निवासियो मे ललित कलाओ के प्रति अधिक अनुराग है। सघर्षमय जीवन होते हुए भी उनके जीवन की मस्ती कम नही हुई है प्रत्युत् कुछ सीमा तक सघर्षमय जीवन, उनके जीवन को मस्त बनाने मे प्रेरणादायक सिद्ध हुआ है। कुमाऊ के लोक-साहित्य मे अधिकाश इसी मस्ती, हँसी-खुशी के दर्शन होते है।

सभी पहाडी बोलियो के समान कुमाउँनी मे भी न तो लिखित साहित्य की बहुलता है और न प्राचीनता। १९वी शती से इस का आरम्भ हुआ है। यहा के आरम्भिक निवासी खस ये जो हृष्ट-पुष्ट होते हुए भी सास्कृतिक दृष्टि से पिछडे हुए थे अत लिखित साहित्य निर्माण मे असमर्थ रहे। ब्राह्मण-क्षत्रिय जो मैदानो से इस भूभाग मे आकर बसे वे प्राय सस्कृत के अध्ययन और पठन-पाठन मे लगे रहे अत जन-जीवन लोक-साहित्य तक ही सीमित रहा। निस्सन्देह, १९वी शताब्दी के लोकरत्न पत, 'गुमानी', कृष्ण पाडेय, शिवदत्त सती, नयनसुख पाडेय, गौरीदत्त पाडेय प्रसिद्ध कवि है। आधुनिक काल मे श्री 'गौदी', शिरोमणि पाठक, रामदत्त पन्त 'कविराज', चन्द्रलाल चौधरी और जीवनचन्द्र जोशी अधिक प्रसिद्ध है। हिन्दी के विश्व-विख्यात कवि सुमित्रानन्दन पत ने कुमाउनी मे काव्य-रचना का प्रयास किया है।

कुमाउ नी का लोक-साहित्य या मौखिक-साहित्य अधिक और व्यापक है और उसकी परम्परा भी बहुत पुरानी है। लोक-साहित्य को सामान्यत पाच भागो मे बाटा जा सकता है लोक-गीत, लोक-गाथाए, लोक-कथाए, लोकोक्ति और मुहावरे और पहेलिया। कुमाउनी लोक-जीवन का कलाओ के प्रति अनुराग है। सगीत भी एक कला है अतएव लोक-साहित्य मे सगीत की प्रचुरता होने से लोक-गीतो का आधिक्य है। लोक-गीतो के कई भेद है, जैसे—मुक्तक गीत, सस्कार गीत, ऋतु गीत, कृषि-गीत, देवी-देवता, तीर्थ-व्रत सम्बन्धी गीत और बाल-गीत। लोक-गीतो मे भी मुक्तक गीतो की ही प्रधानता है जो जन-मानस के वास्तविक प्रतिबिम्ब है क्योकि अन्य प्रकार के लोक-गीत तो काल और स्थान वश निर्मित किए गए है किन्तु ये गीत भूत और वर्तमान काल की नाना परिस्थितियो (आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, व्यक्तिगत, सामूहिक) से सम्बन्धित है तथा इनमे नाना मनोविकारो का प्रकर्ष स्वरूप देखने को मिलता है।

हर्ष-उल्लास, हास-परिहास, शोक-दुःख सभी भावनाएं इन गीतों में व्यक्त की गई हैं। नृत्य, शुद्ध अनुभूति, तर्क-वितर्क, संवाद के आधार पर इनके कई स्वरूप हो जाते हैं। 'झोड़ा, चाचरी और छपेली प्रमुख नृत्य-गीत है। ये मेले, त्योहार, या अन्य किसी भी हर्ष-उल्लास की अवस्था में नृत्य के साथ गाए जाते हैं।

नृत्य-गीतों में सब से अधिक प्रचलित झोड़ा है। स्वरों का आरोह-अवरोह नृत्य की मन्द या तीव्रगति पर निर्भर रहता है। इसमें स्त्री-पुरुष सभी भाग लेते हैं। वृत्ताकार घेरा बनाते हुए एक-दूसरे के कंधों पर हाथ रखकर पद-संचालन के साथ गीत आरम्भ होता है। ये गीत किसी भी विषय पर हो सकते हैं। झोड़ों के दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। एक प्राचीन लोकप्रिय गीत 'सुनगति शौक की चेली' में नारी के वर्ण के लिए कितने सुन्दर प्रतीक उपस्थित किए गए हैं ——

पिंगली काकड़ि जसि, चिनि की गुड़िया जसी।
नियुवा का दाणा कसि, नारंगी का फ्यासा जसी।

(पीले खीरे के समान, चीनी के खिलौने के समान, नीम्बू के दाने के समान, नारंगी के छिलके के समान)।

इसी प्रकार कांग्रेस के राज्य का वर्णन निम्नांकित पंक्तियों में व्यंग के साथ किया गया है ——

कांगरेस का राज मा डागडर बिगड़ि गी।
चस्कै की दवा मागनू कुनैन दि दिनी॥

(कांग्रेस के राज्य में डाक्टर बिगड़ गए। मोच आने की दवाई मांगते हैं कुनैन दे देते हैं।)

'चाचरी' नामक नृत्य-गीत में धार्मिक भावों की प्रधानता रहती है, 'छपेली' नृत्य-गीत प्रेम-प्रधान होता है। इसमें सामूहिक नृत्य नहीं होता। एक पुरुष हुड़का (डमरु की आकार का एक वाद्य यंत्र) बजाते हुए, 'छपेली' गाते हुए नृत्य करता है और पास ही एक स्त्री भावभंगिमा द्वारा गीत के भाव को स्पष्ट करने का प्रयास करती है।

'ओ तिलका! तेरी लांबि लटी के मी मरी जानी' 'ऐ प्रेयसी तिलका! तेरे लम्बे बालों (को देखकर) मैं मर जाता (या मेरी इच्छा पूरी हो जाती)।'

अनुभूति की तीव्रता को व्यक्त करने वाले गीत भगनौल और न्योली हैं। इनका पहला पद तुक मिलाने के लिए होता है। वह सार्थक होते हुए भी प्रसंगानुकूल निरर्थक होता है। न्योलों का प्रचार पियोरागढ़ तथा शोर के भूभागों में अधिक है। यहां पर भगनौल का एक उदाहरण दिया जाता है।

पर्वत हाली पुवा,
आखोन में दुनिया रीटी हिरदै में सुवा।
ढोलै की धमक,
म्यरी सुवा की दांता पाटी बिजुली चमक॥

(पुवा पका लिया, आखो मे दुनिया घूमती है किन्तु हृदय मे प्रेयसी। ढोल की आवाज, मेरी प्रेयसी की दत-पक्ति बिजुली की चमक)

तर्क-प्रधान मुक्तक गीतो मे 'वैर' का प्रचार अधिक है। दो व्यक्ति आपस मे अद्भुत प्रश्न करते है और उसी रहस्यममी ढग से उत्तर भी दिया जाता है। सुनने वाले आनन्द लेते रहते है। 'वैर' के गायको को 'आशु' कवि और प्रत्युत्पन्नमति दोनो होना आवश्यक है।

सवाद-गीत पिता-पुत्र, भाई-भाई, देवरानी-जेठानी, माता-पुत्री, सास-बहू के सवाद होते है जिनमे पारस्परिक कलह, उपदेश, करुण भाव आदि व्यक्त किए जाते है।

सस्कार-गीत—कुमाऊ मे सस्कार-गीत तुलनात्मक कम है, इनका सम्बन्ध धार्मिक कर्मकाड से होने के कारण ये अन्य प्रदेशो के सस्कार-गीतो से समानता रखते है। कुछ गीतो की भाषा हिन्दी मिश्रित कुमाउनी है जो इस बात की द्योतक है कि वे गीत हिन्दी से लिए गए है। इनमे से कुछ तो भिन्न भिन्न सस्कार छटी, नामकरण, अन्नप्राशन, यज्ञोपवीत, विवाह आदि के पूर्व या सम्पादन काल मे अनिवार्य रूप से गाए जाते है। कुछ विशेष गीत होते है जिनका गाया जाना अनिवार्य नही। इन गीतो मे हिन्दू धर्म के सामान्य विश्वासो के साथ स्थानीय विश्वासो का सुन्दर समिश्रण है।

ऋतु-गीत—इस प्रकार के गीत 'ऋतुरैण' कहलाते है। इन्हे 'चैतू' भी कहते हैं क्योकि ये चैत मास मे ही अधिकतर गाए जाते है। इन गीतो मे प्राकृतिक सौदर्य, ऋतु सम्बन्धी नाना फूल, पक्षी का उल्लेख होता है और उनका मानव जीवन पर प्रभाव दिखाया जाता है। मैदान मे आवागमन के साधन, भौगोलिक परिस्थिति के कारण सुलभ होते है अत दूरस्थ नवविवाहिता कन्या समय-समय पर अपने मायके के लोगो से मिल सकती है किन्तु पर्वतो पर कन्याओ को मातृपक्ष के लोगो से मिलने का अवसर नही मिलता। अत दूरस्थ विवाहित इन कन्याओ के मायके की स्मृति-विषयक गीत अत्यन्त कारुणिक और मर्मस्पर्शी होते है। स्थानीय औजी या ढोली (वाद्यक) चैत के महीने मे इस प्रकार के गीतो को हृदयस्पर्शी ढग से गाते है। इसमे दूरस्थ कन्या की मा और भाई-बहिनो से मिलने की तीव्र उत्कठा, भाई का बहिन के पास जाने का आग्रह, मार्ग की कठिनाई—ऊचे पर्वत, विशाल नदिया—इन कठिनाइयो को पार करते हुए अन्त मे भाई का अपनी बहिन से मिलन का उल्लेख होता है। सुनने वालो के अश्रुपात होने लगते है। एक कन्या कहती है

वास भया कपुआ तू मैतिक देसा।
इजू मेरी सुणली बे भेटोई लगाली॥

(हे भाई कपुआ—पक्षी विशेष—तू मेरे मायके की भूमि मे पुकार, मेरी मा जब सुनेगी तो मेरे भेटने का प्रबन्ध करेगी)।

ऋतु सम्बन्धी गीतो मे हिन्दी के समान ही 'बारहमासी' भी होते है किन्तु स्थानीय विशेषताओ का उल्लेख अधिक होने के कारण वहा के निवासियो के लिए वे अत्यन्त हृदयद्रावक हो जाते है।

होली के गीत प्राय अन्य प्रदेशो के गीतो से समानता रखते हैं। कुमाऊ मे ये गीत अत्यन्त सस्कृत ढग से गाए जाते है। पुरुष घेरा बना कर नाचते हुए रग मे सने कपडो को पहने इन्हे गाते है। केवल अन्तिम दिन होलिका दहन के पश्चात् अश्लीलता भी आ जाती है।

कृषि-गीत—ये गीत हुडक-बौल कहलाए जाते है। अर्थात् हुडक (डमरु की आकार का वाद्य यत्र) और बौल (श्रम)। ये गीत प्राय वर्षा ऋतु के आरम्भ मे गाए जाते है। धान के पौधे क्यारियो से उखाडकर खेतो मे लगाए जाते है जो पानी से भरे हुए होते है। खेत का स्वामी सारे गाव वालो को अपने खेत मे धाना रोपने के लिए आमत्रित करता है और कार्य समाप्त होने पर सध्या को सब को दावत देता है। कार्य-सम्पादन काल मे स्त्री-पुरुष धान के पौधो का आरोपण करते हुए एक पक्ति मे आगे बढते रहते है, उनके सामने हुडकिया (हुडक बजाने वाला) 'हुडक बौल' सुरीले ढग से गाता तथा हुडक बजाता रहता है। 'हुडक बौल' का विषय ऐतिहासिक, पौराणिक या स्थानीय लोक-कथा है जो गीतबद्ध रूप मे गायी जाती है। इससे कार्य मे सलग्न व्यक्तियो का मनोरजन और उत्साहवर्द्धन एक साथ होता रहता है।

देवी-देवता, व्रत-त्यौहार सम्बन्धी गीत—ये गीत किसी धार्मिक मेले जैसे 'नन्दा देवी का मेला' या किसी पर्व-विशेष पर जैसे 'मकरसक्राति का स्नान' पर गाए जाते है। इनमे देवी-देवताओ के लिए नाना चढावो का उल्लेख होता है और किसी बर की याचना की जाती है। ये गीत किसी ऐतिहासिक घटना से भी सम्बन्धित हो सकते है जिसके कारण स्थान-विशेष पर मेला लगता है।

बाल-गीत—किसी जाति के जीवन मे बाल-गीतो का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। आजकल स्थानीय बाल-गीतो की जगह हिन्दी के बाल-गीत ले रहे है और प्राचीन स्वाभाविकता और मार्मिकता नष्ट होती जा रही है। एक बाल-गीत जो अभी अपनी स्वाभाविकता को लिए है यहा दिया जाता है —

घुघुति बासुती ।
अमा का छ ? मालकोट ।
के ल्याली ? दुध भाती ।
के खालो ? तू खाले ।
भातै की तौली घुर्र घुर्र ॥

लोक-गाथाए—कुमाउँनी मे चार प्रकार की लोक-गाथाए मिलती है, परम्परागत, पौराणिक, धार्मिक और वीर-गाथाए। 'मालूशाही' और 'रमौल' अत्यन्त प्रसिद्ध लोक-गाथाए है। 'मालूशाही' प्रेम-गाथा अपने स्वरूप मे पूर्ण है। हिन्दी मे भी ऐसी प्रेम-गाथाए दुर्लभ है। इसमे प्रेम की तीव्रता, पवित्रता और उसके प्रेम मार्ग का त्याग अपनी चरमसीमा को पहुचा हुआ है। इसमे मालूशाही, वैराट के कत्यूरी (सूर्यवशी) राजकुमार और सौक्याण (तिब्बत से मिला हुआ भूभाग) के एक धनी व्यापारी सुनपत

शौक की बेटी राजुली की प्रेम-कथा है। नाना विघ्न बाधाओ को पार करते हुए दोनो प्रेमियो का अन्त मे मिलन हो जाता है। यह कथा इतनी मार्मिक और हृदयद्रावक है कि यह स्वय ही एक काव्य है। 'रमौल' एक वश, जिसका सम्बन्ध कृष्ण से बताया जाता है के लोगो का इतिहास है। इसमे काव्य-सौदर्य कम है और कथा मे शिथिलता है। इस कथा पर मध्यकालीन सिद्धो का प्रभाव लक्षित होता है क्योकि इसमे मत्र-तत्र तथा सिद्धो का उल्लेख अधिक है।

धार्मिक गाथाए, पौराणिक व्यक्ति जैसे कृष्ण, राम, शिव से सम्बन्धित है। इनमे प्राचीन कथाओ के साथ स्थानीय विश्वासो का मिश्रण है। धार्मिक गाथाओ मे 'जागर' महत्त्वपूर्ण है। जिस देवता विशेष—भोलानाथ, गगानाथ, ऐडी, ग्वाल्ला अथवा भूत-प्रेत की आत्मा का जागरण करना हो उसके सम्बन्ध मे डमरु बजाते हुए 'जागरी' तत्सम्बन्धी गीत गाता है। एक व्यक्ति जिसमे उस देवता की आत्मा प्रविष्ट होती है नाचने लगता है।

वीर-गाथाए भडौ (भट) कहलाती है। इनमे किसी स्थानीय ऐतिहासिक वीर पुरुष के साहसिक कार्य अत्यन्त ओजस्वी और प्रभावोत्पादक ढग से गाए जाते है। ये गाथाए लम्बी होती है और गायक की तीव्र स्मरण-शक्ति की द्योतक है।

उपर्युक्त गेय लोक-साहित्य के अतिरिक्त लोक-कथाओ का भी बहुत प्रचार है। ये कथाए, राक्षस, दैत्य, भूत, प्रेत, पशु-पक्षी सभी से सम्बन्धित होती है। इनको लोग समय यापन के लिए विशेषत रात्रि मे सुनाया करते है। सुनने वाले तन्मय होकर सुनते रहते है। इनमे प्राय उपदेश भरे रहते है और समाज की भलाई-बुराई के परिचायक है। कभी किसी की नदी मे डूबने, पहाड से गिरने के कारण मृत्यु हो गई हो तो किसी पक्षी के वेदनापूर्ण स्वर मे उसकी आत्मा का प्रवेश समझा जाता है और इसी पर एक कथा की लडी जोड दी जाती है। कभी-कभी इन कथाओ मे धार्मिक विश्वासो के लिए कारण ढूढे गए है।

लोकोक्तियो का भी लोक-साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे नीति, उपदेश, हास्य, व्यग आदि जीवन की सभी अनुभूतियो को मार्मिक ढग से एक छोटे से वाक्य मे प्रकट कर देती है। लोकोक्तिया कुमाउँनी भाषा मे बहुत अधिक है और कुछ हिन्दी की रूपान्तर मात्र है किन्तु कुछ स्थानीय भी है। जैसे—पेश रव्वै घोशिल पहाड रव्वै जोशिल।

(देश घोषी ने नष्ट किया पहाड जोशी (ब्राह्मण जाति विशेष) ने नष्ट किया।)

हिन्दी रूपान्तर —

'बिन ब्यौलै बरात'

'बिना दूल्हे की बरात'

पहेलियो का भी लोक-जीवन मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुमाऊ मे इन्हे आहण या आणा कहते है जो स्पष्ट ही आभाणक का तद्भव रूप है।

जैसे एक भेम रात भर हिंडनैरु उ के भै।

(एक व्यक्ति रात भर चलता रहता है वह क्या है ?—पानी)

सारांश यह है कि कुमाउँनी का लोक-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है साथ ही पाडेय जी द्वारा इस लोक-साहित्य का अत्यन्त सूक्ष्म और सर्वांगीण अध्ययन कुमाउनी लोक-साहित्य में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार का सूक्ष्म अध्ययन अभी तक किसी भी हिन्दी की बोलियों के लोक-साहित्य का नहीं है। आशा की जाती है कि इस ग्रन्थ के आदर्श पर हिन्दी की उपभाषाओं के लोक-साहित्य का सूक्ष्म अध्ययन किया जायेगा।

यात्रा-साहित्य का उद्भव और विकास

श्री कुलभूषण

प्रस्तुत पुस्तक पर लेखक को लखनऊ विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि मिली है, इससे स्पष्ट है कि पुस्तक पर पर्याप्त कार्य किया गया है। लेखक का कहना है कि "हिन्दी यात्रा-साहित्य की ओर आलोचको की उदासीनता ही रही है।" शायद यह सच हो, मगर डॉ० माथुर की यह पुस्तक यदि इस उदासीनता को भग करने के अलावा भी कुछ कर पाती—यानी यात्रा-साहित्य के अच्छे व बुरे पहलुओ पर भी प्रकाश डाल पाती तो यह सन्तोष की बात होती। मगर खेद के साथ कहना पडता है, कि यह पुस्तक केवल सामग्री जुटा पाई है, इससे आगे यह नही बढ पाई।

पुस्तक के दस अध्याय है। यात्रा का स्वरूप और अर्थ, साहित्य मे यात्रा परम्परा, हिन्दी मे यात्रा-साहित्य का आरम्भ और उसका स्वरूप—प्रथम तीन अध्यायो मे इन विषयो पर प्रकाश डाला गया है। चौथे, पाचवे व छठे अध्यायो मे यात्रा-साहित्य के लेखको की जीवनी और उनके यात्रा-ग्रन्थो का उल्लेख है। सातवे, आठवे और नवे अध्यायो मे साहित्यिक मूल्याकन, निबन्ध, शैली व भाषा पर प्रकाश डालने का प्रयास है। उपसहार व सहायक-ग्रन्थो की सूची के साथ पुस्तक समाप्त होती है।

प्रथम अध्याय की सामग्री केवल प्रारम्भिक रूप की है। पाठक को "यात्रा" शब्द के अर्थ का विकास जानने की इच्छा हो अथवा न हो, लेखक ने "यात्रा" को पशु-पक्षियो के खाने की खोज मे घूमने से आरम्भ कर के मनुष्य की ज्ञान-पिपासा की शान्ति तक के अर्थ दिए है। यहा तक कि "यात्रा" शब्द को डारविन के विकास के सिद्धान्त से भी जोड दिया गया है, ऐसे अर्थ देने मे अतिक्रमण नही हुआ, ऐसा कह सकना असम्भव न हो, मगर कठिन जरूर है। उदाहरणार्थ निम्नाकित उद्धरण देखिए —

> "प्रकृति विकास के कार्यों को किस प्रकार धीरे-धीरे कर रही है? किस प्रकार एक जीव दूसरे जीव का आकार ग्रहण कर लेता है? किस प्रकार समुद्र के एक छोटे-से कीडे से मानव की उत्पत्ति हुई? आदि प्रश्नो का उत्तर १९वी शताब्दी के मध्य मे वैज्ञानिक अन्वेषण और अध्ययन के बाद डारविन ही देने मे सफल हो सके थे। उनके कथनानुसार कोई भी एक ही जाति के दो पशु या

लेखक डॉ० सुरेन्द्र माथुर
प्रकाशक साहित्य-प्रकाशन, मालीवाडा दिल्ली
मूल्य १२.५० रुपये।

पौधे एक प्रकार के नही होते , थोडी-सा प्रभेद दो मनुष्यो को भिन्न-भिन्न प्रकार का बना देता है। जीवन-होड मे वही प्राणी जीवित रह सकते हैं, जो सब प्रकार से योग्य हैं। अयोग्यो की अकाल मृत्यु हो जाती है। जो जीवित रहते हैं वे अपने गुण अपनी आगे आने वाली सन्तानो को दे जाते हैं। यही क्रम जारी रहता है। क्रमिक-विकास का प्रत्येक काल हमे यात्रा-वृत्ति से प्रेरित ही दिखाई देता है। इसका मुख्य कारण जीव और वातावरण की परिवर्तनशीलता है।" (पृष्ठ ५)

दूसरे अध्याय मे लेखक ने वैदिक, प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक युगो मे यात्रा-परम्परा को बखाना है। पुराणो के उद्धरण देकर, रामायण की चौपाइया देकर, कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मनुस्मृति के उल्लेख देकर, उसने सिद्ध किया है कि इन सबके लेखक यात्रा-वर्णन मे काफी आगे थे और उनमे "कलात्मकता तथा सौदर्य" पर्याप्त मात्रा मे था। इस अध्याय की व्याख्या मे जो सामग्री एकत्र है, वह यद्यपि सीधी "यात्रा" से सम्बन्धित न भी हो, तो भी बहुत हृदयग्राही और ज्ञानवर्द्धक है। यथा —

"साहित्य की यात्रा-परम्परा के क्रमिक-विकास को देखकर हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते है कि यात्रा-परम्परा भारतीय जीवन मे आरम्भिक युग से चली आई है। वैदिक-युग से प्रारम्भ होकर यह परम्परा पौराणिक-युग, रामायण-युग और महाभारत-युग मे होती हुई ऐतिहासिक-युग तक चलती रही। इससे स्पष्ट होता है कि यात्रा-सम्बन्धी यह परम्परा अनिवार्य-सी थी, जिसके पीछे निहित थी सामाजिक, राजनैतिक, सास्कृतिक, धार्मिक तथा व्यक्तिगत भावनाए। पहले-पहल यात्रा-क्षेत्र सीमित था, जो अन्य युगो मे विभिन्न प्रकार के यात्रा-वाहनो के प्राप्त होने पर क्रमिक-विकास की ओर अग्रसर होता गया।" (पृष्ठ ५८)

जैसा पहले ही कहा जा चुका है, तीसरे अध्याय मे हिन्दी मे यात्रा-साहित्य का आरम्भ तथा उसका स्वरूप दिया गया है। भौगोलिक अवस्था का किसी देश के इतिहास पर क्या प्रभाव पडता है, इसकी विवेचना के बाद लेखक ने इस अध्याय मे इतिहास का यात्रा-साहित्य के साथ जो सम्बन्ध है, उसे स्थापित किया है। पहले युद्ध-यात्राए हुआ करती थी, फिर व्यापार-यात्राए होने लगी। सामाजिक परिस्थितियो का भी योगदान यात्रा के विकास मे हुआ, कोई भी व्यक्ति साधु होकर अपना आध्यात्मिक प्रभुत्व स्थापित कर सकता था और बेरोकटोक यात्रा कर सकता था। लूटपाट भी यात्रा का ध्येय बनी, और मनोरजन भी। यातायात के साधनो मे विकास भी अध्ययन-योग्य है पहले पद-यात्रा हुआ करती थी और यात्रियो को बहुत कष्ट झेलने पडते थे। फिर पशुवाहन का आविर्भाव हुआ और रथ और इक्के प्रभृति वाहनो का प्रयोग होने लगा।

सन् ४०० ई० से लेकर सन् १२०० ई० तक बहुत से यात्रियो का भारत मे आगमन हुआ। सबसे पहले यात्री सुलेमान थे, और फिर फाहियान, सुएनहुई, सुगयुन, इत्यादि बहुत से यात्री भारत मे आए। मुगल यात्रियो मे इब्नबतूता का नाम सर्वविदित है और मार्कोपोलो व बर्नियर के विषय मे कमोबेश सभी सुन चुके है।

हिन्दी मे यात्रा-साहित्य को लेखक ने पाच भागो मे विभक्त किया है हस्त-लिखित ग्रन्थो का युग (१६००–१९६६ वि०), भारतेन्दु युग (१८५०–१९०० ई०), द्विवेदी युग (१९००–१९२०), उत्तर द्विवेदी युग (१९२१–१९५५), वर्तमान यग (१९५५ से अब तक)।

प्रथम काल मे अधिकतर ब्रजभाषा मे ही ग्रन्थ लिखे गए। भारतेन्दु युग मे रेलवे और मुद्रणसाधन दोनो का भारत मे आगमन हुआ और इस विषय पर छपी हुई पुस्तके भी हिन्दी मे मिलने लगी। हर देवी जी की 'लन्दन-यात्रा' और देवी प्रसाद खत्री की 'रामेश्वर यात्रा' दो उन्मुक्त धाराए थी जो हिन्दी यात्रा-साहित्य मे बह चली और तीसरे काल मे उनका पर्याप्त विकास हुआ। इस तीसरे काल मे बाबू देवीप्रसाद खत्री और स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ऐसे नाम है जिन्हे आज का हिन्दी पाठक भी जानता और मानता है।

चौथे युग मे वायुयान का यात्रा-साहित्य पर बहुत प्रभाव पडा। "सरस्वती", "माधुरी", "चित्रमय जगत्", "विशाल भारत" इत्यादि मासिक पत्रिकाओ ने यात्रा-साहित्य को पनपने का पर्याप्त अवसर दिया। हवाई-जहाज द्वारा साहित्यकार का भ्रमण दूसरे महायुद्ध के बाद सरल हो गया और अनेक यात्रा-ग्रन्थ प्रकाश मे आए। इस युग को लेखक ने यात्रा-साहित्य का स्वर्णयुग कहा है, जो शायद अतिशयोक्ति नही है—मगर यह केवल आज तक के ज्ञान के आधार पर ही कहा जा सकता है।

पाचवे युग की केवल ११ पुस्तको का उल्लेख है, और लेखक ने कहा है —

> "इस युग मे रचना-परिमाण एव भावाभिव्यजना की श्रेष्ठता पर बल नही दिया जा रहा है, यद्यपि कुछ पुराने प्रतिष्ठित लेखक भी यात्रा-सम्बन्धी साहित्य रचते जा रहे है तथापि नवीन लेखक उस सहृदयता और भावुकता का सहारा लेकर नही लिखते है जिसका उपयोग आरम्भिक और मध्ययुग के लेखक करते रहे है। भाषा-सौष्ठव की ओर भी अधिक ध्यान नही दिया जा रहा है।" (पृष्ठ १००)

उपर्युक्त पैरे के विषय मे मुझे दो बाते कहनी है। प्रथम यह कि पुस्तक मे कही भी "अब तक" की व्याख्या नजर नही आती। १९५७ के उपरान्त पुस्तक पर कार्यारम्भ हुआ, १९६२ मे पुस्तक प्रकाशित हुई—और पुस्तक मे १९५९ मे छपे कई ग्रन्थो का उल्लेख नही है जो जरा भ्रम मे डालने वाला तथ्य है। लेखक यदि इस "अब तक" की परिभाषा कर देते, तो ठीक रहता। दूसरी बात यह कि यह आलोचना सभी नए लेखको पर लागू नही होती, न सभी पुराने लेखक भाषा-सौष्ठव पर अधिक ध्यान देते थे। खैर—चौथे, पाचवे व छठे अध्यायो मे यद्यपि सामग्री प्रचुर मात्रा मे सकलित की गई है, मगर जैसा पहले कहा जा चुका है, उसमे स्वस्थ, सबल आलोचनात्मक दृष्टिकोण की कमी रह गई है जो बहुत खलती है।

"गहमरी जी ने यह यात्रा रेल और जहाज द्वारा की थी। धनुष्कोटि तीर्थ स्थान का एक उद्धरण देखिए —

"कहते है जब रामचन्द्र लका-विजय करके दल-बल सहित सीता को लिए यहा आए थे तब लौटती बर धनुष से अपना बन्धा हुआ विशाल सेतु यहा तोड दिया था, तभी से इसका नाम धनुषकोटि पडा।" (पृष्ठ १२१)

और एक उद्धरण देखिए —

"जापान के ज्वालामुखी विस्फोटो का वर्णन करते हुए बजाज जी ने लिखा है —

"यद्यपि इसमे से अनेक वर्ष हुए लावा नही निकलता है और यह ज्वालामुखी सुप्त हो गया है, फिर भी इसके पेट मे से बडी मात्रा मे धुआ बराबर निकलता रहता है। इस पहाड के चारो तरफ की बनावट और प्राकृतिक दृश्य विशेष प्रकार के है, जो देखने लायक है।" (पृष्ठ २२८–२२९)

इस प्रकार के कितने ही उद्धरण दिए जा सकते है, जिन पर लेखक ने केवल प्रशसात्मक टीका की है। किसी भी लेखक की विशेषता को आकने का प्रयास नही के बराबर है और यही इस पुस्तक की सब से बडी कमी है।

पुस्तक की रूप-सज्जा आकर्षक है और प्रकाशक का धर्म "साहित्य-प्रकाशन, दिल्ली" ने ठीक ही निबाहा है।

अन्त मे एक बात कहना चाहूगा। इस प्रकार के ग्रन्थ यद्यपि बहुत समय लगाकर मेहनत से लिखे जाते है—तब भी मेरा मत है कि जिन ग्रन्थो मे एक स्पष्ट साहित्यिक समझ की कमी हो और केवल सामग्री का सकलन ही उनकी विशेषता हो, उन पर डॉक्टरेट की उपाधि देकर उपाधि के गौरव को अक्षुण्ण नही रखा जा सकता। विश्वविद्यालयो के हिन्दी विभाग यदि इस ओर और अधिक जागरूक नही होगे, तो हिन्दी का हित शायद वे उतना नही कर सकेगे। हिन्दी का राष्ट्र-भाषा-गौरव बनाए रखने के लिए हिन्दी के प्राध्यापको पर एक बहुत बडा उत्तरदायित्व है। क्या वे इस उत्तरदायित्व को अच्छी तरह निबाह सकेगे ?

हिन्दीतर भारतीय साहित्य

१९६२ का हिन्दीतर भारतीय साहित्य

डॉ० ओमप्रकाश

गतवर्ष कवीन्द्र रवीन्द्र की जन्म-शताब्दी से प्रोत्साहित होकर जो सास्कृतिक वातावरण समस्त राष्ट्र के भीतर उत्पन्न हो गया उससे यह आशा की जा सकती थी कि हमारा साहित्य राष्ट्रोत्थान के निमित्त उल्लासपूर्ण रचनात्मक विचारो के द्वारा जन-जागरण का उत्तरदायित्व स्वीकार करके नित्यप्रति अग्रसर होता रहेगा। यह आशा इसलिए और भी बलवती बन गई थी कि एक वर्ष के उपरान्त सास्कृतिक पुनरुत्थान के नेता स्वामी विवेकानन्द की जन्मशती का पर्व आ रहा था। रवीन्द्र एव विवेकानन्द की सयुक्त प्रेरणा समस्त भारतीय साहित्य का मार्ग-दर्शन करती रही है। परन्तु बीच मे चीनी आक्रमण आ गया मानो प्रथम वर्षा से पूर्व का झझावात हो अथवा अभिषेकोत्सुक व्यक्ति का चरण कर्दम-जाल मे उलझ गया हो। स्वतन्त्र भारत पर प्रतिवेशी शत्रु का प्रथम विश्वासघात जनता के मन मे किसी प्रकार की घबराहट अथवा निराशा न फेक सका, देश ने अपनी परम्परा के अनुरूप दृढ रहकर उस धक्के को सहा और उसका सामयिक उपचार एव स्थायी प्रबन्ध भी किया। साहित्य मे इस अप्रत्याशित दुर्घटना का त्रिविध परिणाम हुआ। प्रथम तो यह कि साहित्यिको ने आत्ममन्थन द्वारा जनता के सम्मुख ऐसा साहित्य रखा जो उज्ज्वल अतीत का स्मरण कराके देश को सन्नद्ध, दृढ एव आत्म-विश्वासी बना सके—निराशा, क्षोभ, अनिश्चय एव आलस्य के स्थान पर आशा, उल्लास, विश्वास एव कर्मण्यता के स्थायी भाव उत्पन्न कर सके। द्वितीय, यह कि योजनाबद्ध रचनात्मक साहित्य की गति मन्द हो गई और उसकी ओर से ध्यान थोडे समय के लिए हट गया। तृतीय, यह कि राष्ट्र की सुरक्षा की ओर सक्रिय होने के कारण साहित्य-सृष्टि का वैविध्य उर्वर न रह सका। सन् १९६२ का साहित्य रवीन्द्र-जयन्ती (सन् १९६१) तथा विवेकानन्द-जयन्ती (सन् १९६३) के मध्य चीनी-विश्वासघात (सन् १९६२) की पृष्ठभूमि एव परिस्थिति का सहज परिणाम है।

साहित्यिक गतिविधि

मलयालम ने इस वर्ष अपने तीन प्रसिद्ध वयोवृद्ध साहित्यिको को सम्मानित किया। श्री वडक्कुकूर राजराज वर्मा की सप्तति (सत्तरवा जन्म दिवस) उनकी आयु

इस लेख की सामग्री के लिए सम्पादक श्री के० वी० राघवाचार (कन्नड), श्री ए० नारायनन (मलयालम), डॉ० करन्दीकर (मराठी), डॉ० चन्द्रकात मेहता (गुजराती), डॉ० इन्द्रनाथ चौधुरी (बगला), डॉ० कालासिह वेदी (उर्दू), डॉ० गुरबख्शसिह (पजाबी) तथा काजी अशरफ महमूद के प्रति कृतज्ञ है।

एव सेवाओं के अनुरूप मनाई गई तथा आलोचक-प्रवर श्री जोसेफ मुण्डशेरी एव कविवर श्री वेण्णिकुलम की षष्ठ्यब्दपूर्त्ति का आयोजन किया गया। श्री आनन्दकन्द (श्री बेटगिरि कृष्ण शर्मा) का आधुनिक कन्नड साहित्य के निर्माण मे विशेष योग रहा है, काव्य, नाटक, उपन्यास सभी क्षेत्रो को उन्होने अपनी प्रतिभा से प्रकाशित किया है। प्राचीन एव नवीन के समन्वय से उन्होने कन्नड मे राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण का मार्ग दिखाया है। अनेक सस्थाओ ने उनका सम्मान किया एव कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए उनको थैली भेट की गई। पजाबी साहित्य के पोषक भाई जोधसिंह (उपकुलपति, पजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला) के अस्सीवे जन्मदिवस पर प्रसिद्ध सिख इतिहासकार डॉ० गडासिंह के सम्पादन मे 'डॉ० जोधसिंह अभिनन्दन-ग्रन्थ' प्रकाशित किया गया, इसके प्रथम भाग मे विगत शती का राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक इतिहास है और द्वितीय भाग मे भाई जोधसिंह का जीवन-चरित है। रवीन्द्र नाथ एव विवेकानन्द से सम्बद्ध साहित्य इस वर्ष बगभाषा मे सब से अधिक लिखा गया। रवीन्द्र-सम्बन्धी रचनाओ मे उल्लेखनीय हैं—श्री सुधीरजनदास कृत 'आमादेर गुरुदेव', श्री प्रमथनाविशी कृत 'रवीन्द्रसरणि', डॉ० सुधीर नन्दी कृत 'रवीन्द्र-दर्शन अन्वीक्षण', तथा श्री धीरानन्द ठाकुर कृत 'रवीन्द्रनाथेर गद्यकविता'। स्वामी विवेकानन्द के योगदान को चित्रित करने वाली पुस्तको में 'युगाचार्य विवेकानन्द' (श्री तामसरजन राय), 'साहित्यसाधक विवेकानन्द' (श्री अधीर दे), 'छेलेबेलार विवेकानन्द' (श्री शशिभूषण दास गुप्त) विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

यह हर्ष का विषय है कि भारतीय भाषाओ के साहित्य का निर्माण, विदेशो मे भी हो रहा है। लका मे तमिल-भाषा-भाषी जनता अपने भावोद्गार तमिल में ही व्यक्त करती है और भारतीय तमिल-साहित्य से अपने को उच्छिन्न नही रखना चाहती। पजाबी साहित्य पश्चिमी पाकिस्तान मे ही नही प्रत्युत् ससार के उन अनेक भागो मे रचा जा रहा है जहां पजाबी जनता पहुच चुकी है। उर्दू का जितना साहित्य विदेश मे लिखा जा रहा है उतना हमारे देश मे शायद नही। बगला एव गुजराती भाषाए विदेशो मे प्राप्त हैं और साहित्य-परम्परा को जीवित रख रही हैं। हिन्दी, ससार के लगभग सभी देशो मे पढी जाती है और कतिपय देशो मे हिन्दी-साहित्य का सर्जन भी हो रहा है। सन् १९६२ को ध्यान मे रखकर इस वर्ग के साहित्य मे सब से उल्लेखनीय है पूर्वी पाकिस्तान मे काजी अशरफ महमूद रचित काव्य 'निमत्रण', इसकी लिपि बगीय है और भाषा हिन्दी। श्री महमूद के इस समय मेरे सम्मुख दो गीत-सग्रह हैं—'कुटज' तथा निमत्रण', दोनो की भाषा हिन्दी है, दोनों देवनागरी मे लिखी गई थी, पीछे उनका लिप्यन्तर बगला मे हुआ। 'कुटज' का सकलन सन् १९४८ मे हुआ था, तीन वर्ष उपरान्त प्रकाशन हुआ, अगले तीन वर्षों मे लिप्यन्तर, तथा १९५९ मे द्वितीय सस्करण। भूमिका मे ढाका विश्वविद्यालय के डॉ० काजी मोताहार हुसेन लिखते हैं कि "आलोच्य गीति-कविता की वाणी हिन्दी होते हुए भी वह पूर्व पाकिस्तानवासियो के लिए सहज-बोध्य है" (अपनी तत्सम शब्दावली के कारण)। 'निमंत्रण' गीत-संग्रह का लिप्यन्तर सन्१९६२ मे हुआ।

ये संग्रह प्रेम-गीत हैं, विरह एव विरहोत्तर मन प्रसाद से उद्भूत। छायावादी युग की स्वच्छता, परन्तु सारल्य इनमे प्राप्त है। एक प्रतिनिधि गीत देखा जा सकता है —

राजन, मेरे तपोद्यान मे, जाते ही तव मन मे।
ब्रह्मभावना जाग उठेगी, सूर्योदय-सी क्षण मे।
चपल चित्त की विषय वृत्तियाँ, पल में होंगी उज्ज्वल।
बिना कष्ट ही प्राप्त करोगे, सर्व तपों का सुख-फल॥ (पृ० ३८)

विदेश मे लोकप्रिय इन गीतो से इतना तो स्पष्ट है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का व्यापक एव उदार रूप वही हो सकता है जो सस्कृत भाषा की तत्सम शब्दावली से सर्वांशत मण्डित हो, सस्कृत शब्दावली राष्ट्रीय भावना के साथ-साथ अन्त राष्ट्रीय सम्बन्धो के गठन मे भी सहायक हो सकती है।

अनुवाद एव तुलनात्मक अध्ययन

रचनात्मक दृष्टि रखने वाले साहित्यिको ने अब यह जान लिया है कि अग्रेजी के भागते ही भारत की भाषाए एव उनके साहित्य मे परस्पर नैकट्य आ जायगा, इसलिए वे भाषा-विशेष अथवा साहित्य-विशेष की दृष्टि से नही सोचते। प्रत्युत् राष्ट्रीय दृष्टि से 'भारतीय-साहित्य' एव 'भारतीय-भाषा-जाति' को एक अविभक्त एव अखड मानते है। १९६२ के साहित्य मे भी इस भावना की छाया मिलती है। इस वर्ष परस्पर आदान-प्रदान के लिए कतिपय महत्त्वपूर्ण अनुवादो पर हमारी दृष्टि जाती है। सुब्रह्मण्यम भारती एव रवीन्द्रनाथ की रचनाओ के अतिरिक्त मलयालम मे शेक्सपीयर, राहुल साकृत्यायन (रचना—'सिंहसेनापति') तथा प्रबोध कुमार सान्याल (रचना—'यात्रिक') के अनुवाद उल्लेखनीय है। गुजराती के विद्वान् डॉ० चन्द्रकान्त मेहता ने रवीन्द्रनाथ के एकाकियो का सुन्दर अनुवाद किया है, भूमिका काका साहब कालेलकर ने लिखी है। डॉ० धर्मवीर भारती की प्रसिद्ध रचना 'त्रिवेणी' का अनुवाद भी गुजराती मे हुआ। बगला मे इस वर्ष श्रीमती महादेवी वर्मा के रेखा-चित्र का अनुवाद श्रीमती मलिनादेवी ने 'छायामय अतीत' के नाम से किया। रामचन्द्र शुक्ल के प्रसिद्ध इतिहास का इस वर्ष पजाबी भाषा मे अनुवाद 'हिन्दी साहित्य दा इतिहास' नाम से हुआ, इसके प्रकाशन का श्रेय पजाब सरकार के भाषा विभाग को है। हिन्दी मे सोदरा भाषाओ से प्रतिवर्ष अनेक अनुवाद किए जाते हैं, विशेषत उपन्यास, निबन्ध तथा नाटको के, परन्तु अभी तक हिन्दी-रचनाओ का अनुवाद कष्टसाध्य ही बना हुआ है जिसकी कमी को तुलनात्मक अध्ययन पूरा करता है। इस क्रम मे डॉ० एम० जार्ज का 'तुलसीदास तथा एषुतश्शन' का तुलनात्मक अध्ययन कथनीय है। भारतीय भाषाओ से विदेशी भाषाओ मे अनुवाद कम ही हो पाते है, क्योकि भारतीय लेखक विदेशी भाषा मे भी उतना ही सिद्धहस्त नही होता। इस नियम के कतिपय सुन्दर अपवाद इस वर्ष भी दिखलाई पडे। मलयाली उपन्यासकार पोट्टक्काल के उपन्यास 'विषकन्यका' का जैक भाषा मे अनुवाद हुआ और डॉ० नारायण मेनन ने भी तकाजी के मलयाली उपन्यास 'चेम्मीन'

का अग्रेजी मे अनुवाद किया जो इगलैण्ड तथा अमरीका मे एक साथ ही प्रकाशित हुआ। जहा तक भारतीय भाषाओ का सम्बन्ध है रवीन्द्रनाथ की रचनाओ के अनुवाद प्रत्येक भाषा मे सब से अधिक हुए है। अनुवाद एव तुलनात्मक अध्ययन साहित्यिक आदान-प्रदान का प्रमुख अग है, परन्तु हमारी भाषाओ मे उसकी अल्पता है, इस क्षेत्र मे जो गति होती है वह साहित्यानुराग एव विद्या प्रेम के कारण कम ही होती है, अधिकतर तो वातावरण, परिस्थिति अथवा राजनीति के कारण ही है। भाषा विभाग पजाब प्रदेश द्वारा प्रकाशित 'पजाब बिच उर्दू' (प्रो० हाफिज महमूद शीरानी की उर्दू पुस्तक 'पजाब मे उर्दू' का अनुवाद) इसका एक उदाहरण है। केवल राजनीतिक कारणो से भी साहित्यिक प्रतिभा एव प्रादेशिक सम्पत्ति का अपव्यय हो सकता है।

सदर्भ ग्रथ, योजनाबद्ध साहित्य आदि

फादर गुण्डर्ट द्वारा निर्मित 'मलयालम-इगलिश डिक्शनरी' एक प्राचीन महत्त्वपूर्ण कोष-ग्रन्थ है। यह लगभग एक शती के उपरान्त इस वर्ष फिर प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार मलयालम विश्वकोष 'विज्ञानम' के तृतीय खड का प्रकाशन भी महत्त्व-पूर्ण है। फादर गुण्डर्ट की प्रसिद्ध पुस्तक 'मलयालम व्याकरण' का पुन प्रकाशन भी महत्त्वपूर्ण है। डॉ० तुलपुले ने सन् १००० से १३५० तक की मराठी भाषा के स्वरूप प्रदर्शित करने के निमित्त 'एन ओल्ड मराठी रीडर' का सम्पादन किया। इसमे व्याकरण एव अर्थ-सम्बन्धी टीका के अतिरिक्त आवश्यक टिप्पणी भी है। उद्धरण काल-क्रम से रखे गए हैं। पाठक के मन मे मराठी भाषा के विकसित रूप के साथ उसमे समाहित भावो का भी प्रतिनिधि चित्र अकित होता जाता है। उर्दू मे मिर्ज़ा जाफर अली खा असर का शब्दकोष 'फरहगे असर' प्रकाशित हुआ, श्री यासीन तिसकीन ने जिगर के पत्रो का सग्रह 'मकातीब जिगर' नाम से प्रकाशित किया। इस क्षेत्र मे डॉ० खलील अनजुम द्वारा सम्पादित 'मिर्ज़ा मज़हर जाने जाना के खतूत' नामक रचना एव सर सैयद अहमद द्वारा लिखित 'तारीखे सरकशीये बिजनौर' (बिजनौर जिले के विद्रोह का आखो देखा वर्णन) का पुन प्रकाशन महत्त्वपूर्ण है। भाषा विभाग द्वारा 'पजाबी कोष' का दूसरा भाग भी प्रकाशित हुआ। 'मलयाली साहित्यिको का परिचय' (व्हु इज व्हु इन मलयालम लिटरेचर) एक सुन्दर प्रयास है।

वगभाषा मे श्री नरेन्द्र चक्रवर्ती की 'नेताजी सग ओ प्रसग' तथा श्री कानाह सामन्त की 'नन्दलाल वसु' सुन्दर जीवनी-रचनाए है। श्री प्रबोध कुमार की 'रशियार डायेरि', श्री सुबोध चक्रवर्ती की 'रम्याणि वीक्ष्य' तथा श्री अमिय वन्द्योपाध्याय की 'रूपमती नगरी' सुन्दर यात्रा-विषयक रचनाए हैं। मराठी मे श्रीपाद जोशी ने 'चिनारच्या छायेंन' पुस्तक मे काश्मीर का वर्णन किया है। यह पुस्तक रम्यता की अपेक्षा सूचना का अधिक ध्यान रखती है। श्री पु० बा० काले ने अपनी धर्मपत्नी एव नागपुर की प्रसिद्ध काग्रेस-कार्यकर्त्री श्रीमती अनुसूयाबाई की जीवनी मराठी मे 'अनुसूयाबाई आणि मी" नाम से लिखी है, पति द्वारा पत्नी की जीवनी का यह प्रयास असाधारण है। मराठी

के प्रसिद्ध गीतकार श्री ग० दि० माडगूलकर ने अपनी आत्मकथा 'मतरलेले दिवस' मे नवीन जीवन-क्रम से ग्रामीण जीवन की स्नेह-श्री के विनाश पर कष्ट प्रकट किया है, वास्तव मे भावुक व्यक्ति यह सहन नही कर सकता कि आधुनिक टीम-टाम मे सहज सारल्य, सौहार्द एव प्रसाद का बलिदान कर दिया जाय। श्री वि० उण्णिकृष्णन् नायर की 'महाकवि वल्लत्तोल', तथा श्री ई० एम० जे० वेण्णीयूर की 'गोथे' मलयालम के सुन्दर जीवन-चरित हैं। श्री राजराज शर्मा का जीवन-चरित उनकी सुपुत्री (भागीरथी अम्मा) तथा सुपुत्र (राघव शर्मा) ने लिखा है। श्री के० पी० केशव मेनन ने अब्राहम लिकन की जीवनगाथा लिखी है। मलयाली भाषा मे शुद्ध इतिहास-ग्रन्थ भी लिखे गए। इनमे उल्लेखनीय हैं श्री के० दामोदरन का 'केरल चरित्रम्' श्री वेलायुधन तथा श्री अब्दुल रशीद मौलवी ने इब्न बतूता के आधार पर केरल का प्राचीन इतिहास लिखा है।

निबन्ध एवं आलोचना

निबन्ध एव आलोचना का क्षेत्र गत वर्षों की भाति इस वर्ष भी उर्वर रहा। लगभग प्रत्येक भाषा मे उच्च स्तरीय ग्रन्थो का प्रकाशन होता रहा। मलयालम मे सब से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ श्री एम० अच्युतन का "पाश्चात्य साहित्य दर्शनम्" है, जिसमे पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तो का विवेचनात्मक अध्ययन किया गया है। आधुनिकतम मलयाली कविता का विवेचन श्री जोजफ मुण्डश्शेरी ने 'नाटकान्तम कवित्वम' मे किया है। डॉ० कुजुण्णि राजा की रचना 'भाषा गवेणम' भी स्तर एव महत्त्व की दृष्टि से सुन्दर है। मराठी मे श्री गगाधर गाडगिल की 'साहित्यचे मानदड', श्री के० ना० वाटपे की 'सस्कृत नाट्यसौन्दर्य', श्री बा० ग० खापर्डे की 'साहित्यचा ससार', श्री वा० ना० देशपाडे की 'विमर्शिनी', तथा श्री पु० शि० रेगे की 'छादसी' साहित्य-समालोचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अन्तिम पुस्तक मे नवसाहित्य के पक्ष का समर्थन एव आक्षेपो का उत्तर है। लेखक का मत है कि कलाकृति की परीक्षा का आधार स्वय कलाकार है, आलोचक की मान्यताए नही। दूसरी ओर खापर्डे जी अध्यात्मवादी है, उनके अनुसार साहित्य हितकर एव उन्नतिकारक होना चाहिए और उसे पुरुषार्थ-चतुष्टय का सवर्धन करना चाहिए। श्री पु० ग० सहस्रबुद्धे ने अपनी पुस्तक 'पराधीना सरस्वती' मे यह मत व्यक्त किया है कि आज का साहित्य पराधीन है, वह शुद्ध न होने के कारण विश्रान्ति-जनक नही है, वादमुक्त एव आग्रहरहित होने पर ही यह वास्तविक साहित्य बन सकेगा।

गुजराती मे भी आलोचना प्रौढतर होती गई है। श्रेष्ठ प्रकाशनो मे शिरोमणि है श्री उमाशकर जोशी का ग्रन्थ 'कविनी साधना'। जोशीजी गुजराती के मूर्धन्य विचारक है, उनका अध्ययन विशाल एव चिन्तन मौलिक है। उन्होने कविधर्म, काव्य-प्रतीक, काव्यस्वरूप आदि विषयो पर पूर्व एव पश्चिम दोनो के मनन के उपरान्त अपनी दृष्टि निश्चित की है। उनका फलक वर्डसवर्थ, हेमिग्वे से अरविन्द तक विस्तृत है। श्री गुलाबराय ब्रोकर कथा एव नाट्य के लिए प्रसिद्ध हैं। परन्तु 'रूपसृष्टिमा' आलो-

चना ग्रन्थ लिखकर उन्होंने अपना अलग स्थान बना लिया है। साहित्य के स्वरूप पर ब्रोकर जी ने, कथा एव नाटक के परिप्रेक्ष्य मे, गम्भीर विचार प्रस्तुत किये है। बगभाषा के आलोचना-ग्रथो मे उल्लेखनीय हैं 'घरे बाहरे साहित्य चिन्ता' (डॉ० शशिभूषण दास गुप्त), 'बग साहित्येर इतिहास' (श्री तारापद भट्टाचार्य), 'साहित्य ओ सस्कृतिर तीर्थ सगम' (डॉ० श्रीकुमार वन्द्योपाध्याय), 'गोविन्ददासेर पदावली ओ ताहार युग' (श्री विमान मजुमदार) तथा 'सगीत ओ साहित्य' (श्री नीहारकण मुखर्जी)। इन ग्रन्थो का स्तर लेखक-महोदयो के नामो से ही जाना जा सकता है। सामान्यत प्राचीन परम्परा को सुरक्षित रखकर नवीनतम ज्ञान का समावेश आज के आलोचक का सकेत है, फलत सस्कृत एव अग्रेजी के समन्वित अध्ययन से ही भारतीय आलोचना स्थिर बन सकती है। पजाबी मे सतसिह सेखो द्वारा रचित 'भाई वीरसिंह ते उना दा युग' तथा प्रो० साहिब सिंह द्वारा लिखित 'श्री गुरु ग्रन्थ दर्पण' का नाम लिया जा सकता है। श्री इन्द्रसिंह चक्रवर्ती की 'मसले शेख फरीद', तथा डॉ० तारनसिह की 'भक्ति और शक्ति' तथा श्री कुलदीप सिंह की 'पत्रकारी' रचनाए पजाबी की आलोचना-पुस्तके है। उर्दू मे प्रो० एहताम हुसैन की 'अक्स और आइने' तथा मौलवी अब्दुलहक की 'मुल्ला नसरती' आलोचनात्मक पुस्तकें हैं। कराची से प्रकाशित 'दास्ताने जबाने उर्दू' डॉ० शौकत सब्जवारी की आलोचनात्मक कृति है, जिसमे उर्दू भाषा के जन्म, स्वरूप तथा वैभव पर प्रकाश डाला गया है।

प्रौढ एव ललित निबन्धो की भी इस वर्ष मे भरमार रही। कतिपय इतिहास-ग्रथ एव समाजशास्त्रीय ग्रन्थ, गम्भीर चिन्तन के फलस्वरूप, भारतीय भाषाओ मे लिखे गए। मराठी मे श्री अ० ज० करदीकर ने प्रौढ चिन्तन की दो पुस्तके लिखी—'अशोक ते कालिदास' तथा 'वैदिक आर्यांचे ज्योतिर्विज्ञान आण वैदिक देवताचे पुनर्दर्शन'। इतिहास की नीरस आवृत्ति के स्थान पर 'अशोक ते कालिदास' पुस्तक मे मौलिक चिन्तन है जिससे पूर्व लिखित इतिहास का प्रत्याख्यान भी होता है। द्वितीय पुस्तक लेखक के वेद-विषयक एव ज्योतिष-विषयक ज्ञान की सूचक है। लेखक की दृष्टि प्रौढ एव अनुसन्धान-परक है। भारतीय भाषाओ मे इसी प्रकार की रचनाए आत्मविश्वास की भावना जगा सकेंगी। इसी वर्ग की अन्य मराठी रचनाए हैं—श्री ना० सी० फडके लिखित 'नाद लुब्धाचा' (सगीत), तथा श्री नाना जोगलेकर की 'रगभूषा, शास्त्र आण कला' (नाटक)। डॉ० पु० ग० सहस्रबुद्धे की 'लोक सत्तेचे दडसत्तेला आव्हान' समाजशास्त्र की प्रौढ रचना है। बगभाषा मे रम्यरचना की कतिपय सुन्दर पुस्तकें लिखी गईं। श्री नीलकण्ठ की 'वार्धक्य वाराणसी' श्री पान्थ की 'विचित्र मानवी', तथा श्री विरूपाक्ष की 'विश्व रूप दर्शन' का उल्लेख किया जा सकता है। गम्भीर एव रम्य चिन्तन की अनेक निबन्ध-सग्रहिकाए लगभग प्रत्येक भाषा मे प्राप्त हैं। कुछ का सम्बन्ध विशेष प्रकार के उपयोग से हैं, परन्तु अधिकतर स्वतन्त्र चिन्ता के रूप मे निर्मित हुई हैं। बालोपयोगी, पर्यटको-पयोगी, परिचयात्मिका एव सकलनप्राणा रचनाए भी गद्य के बहुविध उपयोग की सूचक हैं। आकाशभाषित, व्याख्यान तथा भमिकाए भी पस्तकाकार सग्रहीत हो गई हैं।

कविता

प्रस्तुत वर्ष मे महाकाव्य के योग्य वातावरण नही था, प्राय गीत लिखे गये जिनमे से अधिकतर की प्रेरणा विदेशी विश्वासघात माना जा सकता है। हिन्दी के समान भारत की सभी भाषाओ मे उत्साहपूर्ण प्रबोधक गीत लिखे गये जिनमे भारतीय गौरव एव भारतीय शक्ति का स्मरण है। एक-दो कवि उस वातावरण से हतप्रभ होकर एकात सगीत की भी रचना करते रहे। समग्रत इस वर्ष की कविताए भावपूर्ण स्पष्ट एव उत्साहवर्द्धक है। श्री वेण्णिकुलम की षष्ठ्यब्दपूर्त्ति के अवसर पर उनके श्रेष्ठ गीतो का सग्रह 'कदलीवनम' मलयालम मे प्रकाशित हुआ। श्री ओ० एम० अनुजन तथा श्री जी० शकर कुरुप्प के कविता-सग्रह भी उल्लेखनीय हैं, श्री अनुजन मलयालम के युवक परन्तु लोकप्रिय कवि है, श्री कुरुप्प प्रौढ तथा प्रसिद्ध कवि हैं। गुजराती के श्री हेमन्त देसाई उदीयमान कवि है, उनको नई कविता का कवि कहा जा सकता है। इस वर्ष उनके प्रेम-गीत प्रकाशित हुए जिनमे विप्रलम्भ शृगार का वातावरण मिलता है। दूसरे उल्लेख-योग्य कवि हैं श्री कान्तिलाल, जिनका 'हिंडोल' काव्य स्वतन्त्रताप्राप्ति के अनन्तर की देश-दशा का चित्रण करता है; उनमे आर्द्रता है, माधुर्य है, सगीत तथा शक्ति है। मराठी मे कवि यशवन्त की 'कमण्डलु', श्री कुसुमाग्रज की 'स्वगत', श्री कान्त की 'वेलाटी', तथा श्री मगेश पाडगावकर की 'उत्सव' रचनाए प्रकाशित हुईं। श्री आरती प्रभु को मराठी का अत्याधुनिक कवि कहा जा सकता है। श्री ग० रा० पाठक ने 'शान्तिकेतु', खण्ड-काव्य लिखा है, जिसका आधार पौराणिक है। कुसुमाग्रज की कविता मे सौन्दर्य-प्रेम के साथ विचार-मन्थरता भी है, कवि जीवन के अन्तिम सत्य की खोज कर रहा है। मगेश जी सवेदनशील है, उनके बिम्ब नवीन तथा सुन्दर है, उनको कवि पन्त के वर्ग का कहा जा सकता है। श्री पद्मा ने 'स्वप्नजा' मे जिस स्वप्न की सृष्टि की है उसका आधार किसी-न-किसी प्रकार का प्रणय अथवा प्रेम है, कुत्रचिन् दुःख का आकर्षण है, इनकी तुलना महादेवी से हो सकती है।

इस वर्ष की वगीय कविताओ मे आशा का स्वर एव जीवन के प्रति अनुराग द्योतित होता है। चीन के विश्वासघात का सब से अधिक क्षोभ सीमान्तवर्ती एव सवेदनशील असम तथा बगाल पर पडा। कवि-मानस मे एक प्रकार का उद्वेलन हुआ जिससे अनेक गीतो की सृष्टि हुई। कतिपय व्यक्तिवादी कविताओ के सकलन भी दिखाई पडते है जिनमे उद्वेलन का तिरस्कार नही कहा जा सकता। वगीय काव्य-सग्रहो मे उल्लेखनीय है—श्री मनीन्द्रराय का 'अतिदूर आलोरेखा', श्री विष्णु दे का 'एकालार कविता', तथा श्री चितरजन माहति का 'रोदवृष्टि भालवासा'। विदेशी कविताओ के हिन्दी के समान ही बगभाषा मे भी अनुवाद हुए। ऐसा एक महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि-सग्रह 'सप्तसिन्धु दशदिगन्त' है, जिसके सम्पादक श्री दासगुप्त है। उर्दू मे भी श्री अख्तरुल ईमान का एक कविता-सग्रह 'यादे' है, जो सामान्य कोटि का माना जा सकता है। पजाबी मे लोक-काव्य के स्तर के कतिपय कविता-सग्रह प्राप्त होते है। श्रीमती प्रभजोतकौर का काव्य-सग्रह 'पब्बी' लोकप्रिय रहा, प्रभजोत का पजाबी कवयित्री-वर्ग मे उच्च

स्थान है। उनके काव्य मे प्रवाह एव निर्मलता है। कोमल भावो की छटा के साथ दर्शन के छीटे भी है। डॉ० हरभजनसिह का काव्यसग्रह 'अधरैणी' रोमाटिक वातावरण प्रस्तुत करता है, इसके गीत वेदना, सौन्दर्य एव अनुभूति से अभिषिक्त है, अर्ध-निशा का कोमल, शान्त एव मादक प्रभाव इन गीतो मे व्याप्त है। श्री तारासिह का 'मेघले', श्री शिवकुमार का 'आटे दीया चिडिया', तथा श्री तख्तसिह का 'लिशकोरा' सग्रह भी उल्लेखनीय है। तारासिह मे जीवन की यथार्थता भी है तथा हृदय की कोमलता भी, उनके मेघ श्रमबिन्दु भी है तथा अश्रुबिन्दु भी। शिवकुमार मे निराशा है। पीडा तथा वेदना है। 'लिशकोरा' गजल-सग्रह है, इसमे रूप-सौन्दर्य भी है तथा प्रणय भी, परन्तु आशा का वातावरण बना रहा है। पजाबी के अन्य सग्रह है—'कहरकरम' (गुलवन्त फारग), 'कल्लरीया' (रामसरूप अणखी), 'ताश दे पत्ते' (अजायब कमल), 'नवी किरण' (प्रकाशचन्द्र) तथा 'कचनार' (प्रीतम राही)।

नाटक

श्री पी० केशवदेव ने मलयालम मे 'तरवाडु' नामक नाटक लिखा जिसमे भारतीय दृष्टि एव दार्शनिक सूक्ष्मता है। श्री तोप्पिल मासी का नाटक 'अश्वमेधम' आधुनिकता से पूर्ण है। इसमे कुष्ठ रोगियो की समस्या को उठाया गया है। महाराज शिवाजी के पुत्र सभाजी के जीवन पर आधृत एक नाटक 'रायगढली जेन्हा जाग येने' मे श्री वसन्त जी ने बहुत यश प्राप्त किया है, यह नाटक रगमच की दृष्टि से भी सफल है तथा सभाजी के चरित्र को उत्तमता से चित्रित करने के लिए भी मान्य है। इतिहासकार बेन्द्रे जी के अनुकरण इस नाटक मे सभाजी के चरित्र की उज्ज्वलता ही नाटककार का मुख्य लक्ष्य प्रतीत होता है। मराठी के दो नाटक नारी के वैवाहिक जीवन की समस्या को लेकर लिखे गए है—'हिमालयाची बायको' तथा 'तो मी नव्हे च'। प्रथम मे एक साधारण स्त्री एक प्रतिष्ठित व्यक्ति से विवाह करती है, परन्तु उसमे सफल नही होती। यह एक उत्तेजनापूर्ण सुखान्त नाटक है, इसमे विनोद पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है। परन्तु अत्रेजी के नाटक मे एक जालसाज मुस्लिम हिन्दू ब्राह्मण बनकर तथा मराठी भाषा बोलकर सुशिक्षित लडकियो से विवाह कर लेता है। अन्त मे बम्बई हाईकोर्ट मे अभियोग पहुचता है। यह नाटक अनेक बार अभिनीत हुआ है और बहुत लोकप्रिय है। गुजराती नाटककार श्री चुन्नीलाल मडिया ने एक तीन अक का नाटक 'रामलो रोबिनहुड' लिखा है। यह वर्ष का सर्वश्रेष्ठ नाटक है, गुजरात मे इसको बडी लोकप्रियता प्राप्त हुई है और हास्य रस के नाटको मे इसका प्रमुख स्थान है। रामला नामक कुख्यात डाकू को पकडने के लिए सरकार ने पुरस्कार घोषित किया, मत्री को चुनाव जीतना था इसलिए एक नकली रामला बनाया गया और उसका चित्र एव समाचार छपाया गया, इस प्रकार जनता मे विश्वास उत्पन्न करके मत्री ने सफलता प्राप्त की। सारा नाटक मत्रियो की करतूत पर करारा व्यग्य है। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के प्रसिद्ध उपन्यास 'पृथ्वीवल्लभ' का इस वर्ष नाट्यरूपान्तर प्रकाशित हुआ जो पर्याप्त सफल कहा जा सकता है।

बगभाषा मे इस वर्ष नाटक अधिक तथा अच्छे स्तर के लिखे गए। नाटक का आधार सघर्ष है परन्तु वैषम्य दिखलाने मे भी यह सफल हो सकता है। मनोरजन के उद्देश्य से भी नाटक सफल बन जाता है। उपन्यासो के नाट्य रूपान्तरो की उपयोगिता भारतीय भाषाए स्वीकार करने लगी है। कुछ वर्ष पूर्व 'गोदान' का नाट्य-रूपान्तर हुआ था। 'पृथ्वीवल्लभ' की ऊपर चर्चा हो चुकी है। बगला के प्रसिद्ध उपन्यास 'आनन्द मठ' (बकिमचन्द्र रचित) का इस वर्ष भी शचीन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय ने नाट्य रूपान्तर किया और 'साहेब बीबी गोलाम' का श्री वैद्यनाथ घोष ने। ये दोनो सफल तथा अत्यन्त लोकप्रिय रहे। प्रसिद्ध कथाकार श्री ताराशकर वन्द्योपाध्याय का नाटक 'सघात' इस वर्ष प्रकाशित हुआ। अन्य उल्लेखनीय नाटक है—श्री नारायण गगोपाध्याय का 'आगन्तुक', श्री विधायक भट्टाचार्य का 'गुरुभार', श्री गगापद वसु का 'महगुरु निपात', तथा श्री वनफूल का 'दश माण ओ आरओ कयेकटि'। पजाबी मे इस वर्ष एक ही उल्लेखनीय नाटक प्रकाशित हुआ, प्रो० बलवीर सिह का 'पाप तिस भीतर कबे'। नाटक रोचक एव स्वाभाविक है। स्थापना है कि मनुष्य स्नेह के बिना नही रह सकता, वह अपना कोई न कोई स्नेह-केन्द्र अवश्य बनाए रखता है। एकाकी-सग्रहो मे श्री ननकाणवी का 'टुट्टे चम्पे', प्रो० कुलवीर सिह का 'जीवन-मच' तथा श्री प्यारासिह का 'पतवन्ते' ही उल्लेख योग्य है।

उपन्यास

उपन्यास-साहित्य का सब से अधिक निर्माण स्वतन्त्रतोत्तर काल मे हुआ है। अनुवाद भी उपन्यास के सब से अधिक हुए है और प्रचार भी सब से अधिक। भारतीय साहित्य मे वैविध्य की दृष्टि से भी उपन्यास का नाम प्रथम गणना के योग्य है। कराची से इस वर्ष उर्दू के कतिपय उपन्यास छपे। श्री रतनलाल सरशार का नाम पुराने साहित्यिको मे प्रसिद्ध ही है। वे 'फसाने आजाद' से ही प्रसिद्ध हो गए थे। 'जामे सरशार' ने उनका स्थान उच्च बना दिया। यह उपन्यास बहुत दिनो से अप्राप्य था। विस्तृत भूमिका एव चकबस्त के प्रसिद्ध लेख के साथ इसका प्रकाशन बडा उपयोगी है। पजाबी उपन्यासो मे प्रसिद्ध साहित्यिक श्री करतार सिह दुग्गल के 'एक दिल बिकाऊ है' का प्रथम स्थान है। दुग्गल जी की शैली रोचक एव प्रभावपूर्ण है, जो उपन्यास को लोकप्रियता प्रदान करती है। एक नर्त्तकी की आत्मकथा के माध्यम से लेखक ने पतित स्त्री के मन की सामाजिक अधिकार प्राप्त करने की आकाक्षा को सफलतापूर्वक चित्रित किया है। जो स्त्री पुरुष के मन का उपचार करके सामाजिक सन्तुलन को स्थिर रखने मे सहायक होती है उसको समाज सम्मान क्यो नही प्रदान करता ? श्री सुरजीतसिह सेठी ने अपने 'अलपत्थर' उपन्यास मे आरफ नामक डाकू की कहानी को चित्रित किया है। अन्य उल्लेखनीय उपन्यास है—श्री सुरेन्द्रसिह नरूला का 'सिल अलूणी', श्री हरिसिह दिलवर का 'जोरी मगे दान', तथा श्री सोहनसिह सीतल का 'प्रीति ते पैसा'। अन्तिम उपन्यास का केन्द्रीय विचार है कि पैसा प्रीति की सफलता मे बाधा बनता है। बगाली

उपन्यास सख्या मे भी अधिक है तथा गुण मे भी। लगभग प्रत्येक दृष्टि से जीवन को परखने का इनमें प्रयास है। पुराने उपन्यासकारो के नवीन उपन्यास हैं—श्री विमल मित्र का 'कडिदिये किन लाम' (द्वितीय खण्ड), श्री प्रबोध कुमार सान्याल का 'झडेर सकेत', श्री प्रेमेन्द्र मित्र का 'पा बाडालेइ रास्ता', श्री जरासन्ध का 'मसिरेखा', श्री दीपक चौधुरी का 'मालदा थेके मालाबार', तथा श्री चाणक्य सेन का 'से नहि से नहि'। इन प्रसिद्ध उपन्यासकारो के अतिरिक्त कतिपय नवीन लेखको की विकासोन्मुखी प्रतिभा भी बगला उपन्यासो मे दिखलाई पडती है। प्रमुख है— 'उर्वशीर तालभग' (प्रियदर्शिनी), 'सूर्यशिखा' (माया वसु), 'सघमित्रा' (सकर्षण राय), 'अलख झोटा' (शान्ता देवी)। मलयालम के प्रसिद्ध उपन्यासो मे श्री के० सुरेन्द्रन रचित 'कट्टु कुरगु' तथा श्री परपुरथ रचित 'मकने, निनक्कु वेण्टि' उल्लेखनीय है। सामाजिक उपन्यास के रूप मे 'कट्टु कुरगु' को प्रसिद्धि प्राप्त हुई है।

मराठी उपन्यासो मे 'स्वामी' (रणजीत देसाई) तथा 'निगूडा' (नि० श० पारगावकर) एतिहासिक है। देसाई जी ने अपनी सशक्त लेखनी से पूना के पेशवे बडे माधवराव का चित्रण किया है, यथार्थ एव कल्पना का सुन्दर समन्वय है। 'निगूडा' अश्मयुगीन जीवन पर आधृत है। यह प्रयोगशीलता एव मनोविज्ञान दोनो से समन्वित है। श्री पेरसे जी ने आचलिक उपन्यास 'रथचक्र' मे कोकण प्रदेश का चित्रण किया है, कथा सयुक्त ब्राह्मण परिवार की है, अध्ययनपूर्ण चित्रण मे लेखक सफल रहा है। मराठी के सामाजिक उपन्यास दुर्दैव एव सामाजिक गतिरोध से अनुप्राणित है। 'रोहिणी' (पु० भावे) मे सौन्दर्य से आकृष्ट होने वाली ग्रामीण जीवन से असन्तुष्ट नायिका की कहानी है, तो 'ललाट' (पारगावकर) मे सहिष्णु दु खार्त्ता नायिका की कथा है, जो यह मानती है कि इस जन्म मे दु ख भोगकर आगामी जन्म मे सुख-लाभ होता है। 'सजीवनी' (गजानन कर्वे) आत्मकथात्मक शैली मे लिखा गया है। सिविल मैरेज मे साक्षी बनकर जाने वाला नायक नारी- सौन्दर्य से आकृष्ट हो जाता है। 'देवकी' (कर्णिक) मे विवाहित नायक देवदासी बनने वाली नायिका को लेकर अपने ग्राम चला जाता है। परन्तु एक दिन वह देवकी से वचित भी हो जाता है। श्री रगनाथ देशपाडे ने 'आग्या मोहोल' मे गत ६० वर्ष के सामाजिक जीवन का सुन्दर चित्रण किया है, यह राघव की आत्मकथा है जो मध्यमवर्ग के किसी भी व्यक्ति का प्रतिनिधि माना जा सकता है।

श्री पन्नालाल पटेल ने 'अमे बै बहेनो' उपन्यास मे दो बहिनो की कथा लिखी है। एक परिच्छेद मे एक बहिन अपनी बात कहती है फिर दूसरे परिच्छेद मे दूसरी बहिन। दोनो एक ही पुरुष से प्रेम करती है। प्रेम-त्रिकोण बडा रोचक तथा प्रभावशाली है। श्री पीताम्बर पटेल कृत 'धरती मा अमी' उपन्यास मे ग्रामीण जीवन का चित्रण है। सुखी दाम्पत्य जीवन मे करुणा के प्रवेश से कोई व्यक्ति किस प्रकार डाकू बन जाता है इसका सशक्त चित्रण है। श्री हरीन्द्र दवे का उपन्यास 'अगनपंखी' मनोवैज्ञानिक है। इसमे उस अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण है जो आग के समान मुखमण्डल को झुलसा देता है।

आदर्श एव यथार्थ का सघर्ष रोचक एव आकर्षक है। श्री चन्द्रकान्त बक्षी का 'आकार' उपन्यास शैली मे अत्याधुनिक है, इसमे कथा की अपेक्षा रीति का महत्त्व अधिक है। सामाजिक उपन्यासो मे 'रैनबसेरा' (श्री सारग वारोटे) का विशेष महत्त्व है। इसमे यह दिखलाया गया है कि सयुक्त परिवार किस प्रकार विभक्त होता है और विभक्त होने पर किस प्रकार आपत्तिया उसको घेर लेती है। उपन्यास रोचक, प्रभावपूर्ण एव मर्मस्पर्शी है। श्री चुन्नीलाल मडिया ने अपने उपन्यास 'सघराजे सगनो सालो' मे आधुनिक राजनीतिक वातावरण का व्यग्यपूर्ण चित्रण किया है। निर्वाचन से लेकर मत्री बनने तक मनुष्य कौन-कौन से कपट व्यवहार करता है, यही चित्रण का विषय है।

कहानी

उपन्यास के समान लघुकथा भी लोकप्रिय है, परन्तु सामान्य पाठक आज उपन्यास पढना अधिक पसन्द करता है, अत प्रकाशक की दृष्टि से उपन्यास का क्षेत्र कहानी की अपेक्षा अधिक आकर्षक है। फिर भी इस वर्ष काफी हलचल कहानी के क्षेत्र मे रही और कतिपय महत्त्वपूर्ण सग्रह प्रकाश मे आए।

मराठी मे कहानियो के १५–१६ सग्रह प्रकाशित हुए। खाडेकर, फडके, य० गो० जोशी, चोरघडे, चि० व० जोशी, अनन्त कणेकर, शामराव ओक, द० र० कवठेकर, अरविन्द गोखले आदि की चुनी हुई कहानियो का पुनर्मुद्रण हुआ। विद्याधर पुडलिक, कमल देसाई, प्र० बा० बडेर, शकर वैद्य, वसन्त वैद्य आदि नवीन लेखको के कथासग्रह इस वर्ष प्रकाश मे आये। फडके जी का कथासग्रह 'बावनकशी' प्रतिनिधि है। सभी कहानिया मनोरम है। 'स्पर्श' मिरासदार जी की ग्रामीण कथाओ का सग्रह है। श० ना० नवरेजी के 'इन्द्रायणी', 'सखी' तथा 'बेला' सग्रह प्रसिद्ध हुए है। दि० बा० मोकाशी ने उपहासात्मक कहानियो मे सफलता प्राप्त की है। अरविन्द गोखले के 'व्रती' तथा 'विघ्नहर्त्ती' सग्रहो मे लालित्य है। शान्ताराम की कथाए मनोविश्लेषणात्मक है। कमल देसाई का सग्रह 'रग' लेखिका के व्यक्तित्त्व से आच्छादित, गूढ एव सवेदना-प्रधान है। इस प्रकार नवीन लेखक कहानी को वैचित्र्य प्रदान कर रहे है।

गुजराती कहानी के क्षेत्र चुन्नीलाल मडिया तथा पन्नालाल पटेल तो प्रसिद्ध ही है। 'क्षणार्ध' मे मडिया जी की छोटी कहानिया है, विभिन्न रूपो की प्रतिनिधि। लेखक की दृष्टि छोटे से प्रसग का मन पर प्रभाव चित्रित करने मे सफल रही है। शैली रोचक एव प्रभावपूर्ण है। पन्नालाल जी ने २२ कहानियो का सग्रह 'धरनी आमना छोटा' प्रकाशित कराया। इनका फलक व्यापक है तथा दृष्टि विशद। स्थान-स्थान पर उपहास के छीटे भी मिलते है। गुजराती के नवोदित लेखको मे भी मनसुखलाल झवेरी का नाम प्रतिष्ठित है। 'त्रिवेणीसगम' कहानी सग्रह इनको ख्याति का आधार है। इनमे वातावरण दक्षिण भारत का है। चित्रण मध्यम वर्ग का है। विषय और रीति का प्रचुर वैविध्य इन कहानियो मे पाया जाता है। गुजरात से बाहर रहने वाले गुजराती मध्यम वर्ग का इतना सुन्दर चित्रण किसी अन्य कथा-सग्रह मे नही मिलता।

बगभाषा मे कतिपय सुन्दर गल्प सकलन प्रकाशित हुए जो विषय एव शैली दोनो की दृष्टियो से उच्च स्तर के है। श्री सुबोध घोष का 'अर्किड', श्री उत्पलदत्त का 'एकोर', श्री मनोज वसु का 'गल्पपचशत', श्री रमापद चौधुरी का 'देहलि दिगन्त', तथा श्री अचिन्त्य सेनगुप्त का 'वर वर्णिनी' उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रौढ़ता के साथ स्पष्टता मनोरमता के साथ प्रभावशीलता दिखाई पड़ती है। परन्तु श्री सुमथनाथ घोष के 'यवन पलास फोटे', तथा श्री आशुतोष मुखोपाध्याय के 'प्रतिहारिणी' सग्रहो मे मनोविश्लेषण की अत्यधिकता होने के कारण एक प्रकार की धूमिलता आ गई है।

पजाबी कहानिया भी सन्तोषजनक रही। 'चानण दा हौका' श्रीमती अमृता प्रीतम का कहानी सग्रह है। ये कहानिया स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्बन्धो को चित्रित करती है। लेखिका का चित्रण सपक्षपात है। श्री सुजानसिह ने अपने सग्रह 'सवाल-जवाब' मे कुतूहल को ही प्रधानता दी है। 'आउटपुट' श्री गुरुदयाल सिंह की व्यग्यात्मक कहानियो का सग्रह है। इनमे सामयिक जीवन के द्वन्द्व की अभिव्यक्ति है। इन सग्रहो के अतिरिक्त श्री पाधी ननकाणवी का 'सूला भरी चगेर', श्री जोगेन्द्रसिह का 'आशा निराशा', तथा श्री प्यारासिह का 'हावभाव' भी ध्यान देने योग्य कहानी-सग्रह है। इनमे आकर्षण तो है, परन्तु प्रभावोत्पादकता नही, मनोरमता है परन्तु वैविध्य नहीं।

सन् १९६२ के भारतीय साहित्य को जिन विरोधी परिस्थितियो से अपने मार्ग का निर्धारण करना पडा है उसको ध्यान मे रखकर ही उसका मूल्यांकन होना चाहिए। इसमे योजनाबद्ध सामग्री का अपेक्षाकृत अभाव है। परन्तु समृद्धि एव उदारता की ओर बढते हुए चरण इसके उज्ज्वल भविष्य की कामना दिखा रहे है। स्थानीय परिस्थितियो के अतिरिक्त समस्त देश का वातावरण एक-सा ही रहा है इसलिए वर्ष-विशेष की सामान्य प्रकृति समस्त देश मे समान है। पारस्परिक आदान-प्रदान की ओर सब का प्रयत्न है। विश्व के सुन्दरतम को आत्मसात् करना सब चाह रहे हैं। प्राचीन मे प्रवेश करके उसका मूल्याकन एव पुनराख्यान समस्त साहित्य की इच्छा है। फिर भी यह सत्य है कि भारत की सभी भाषाए एक ही गति से नही बढ रही। उदाहरण के लिए नाटक के प्रति सभी भाषाओ का एकसा ध्यान नही है। इसी प्रकार व्यग्य एव विनोद की सामग्री सर्वत्र एकसी नही मिलती। यह सन्तोष का विषय है कि चीनी विश्वासघात की विद्यमानता मे भी हमारे साहित्यिक आशावान् एव प्रयत्नशील है।

समीक्षकों एवं समीक्षित पुस्तकों के लेखकों के पते

लेखक का नाम	पता
श्री नरेन्द्र शर्मा	आकाशवाणी, नई दिल्ली ।
डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, श्री गुरु तेगबहादुर खालसा कॉलिज, देवनगर, नई दिल्ली—५
श्री भारतभूषण अग्रवाल	सहायक मन्त्री, साहित्य अकादमी, रवीन्द्रभवन, नई दिल्ली-१ ।
श्री मोहनसिंह सेंगर	निर्माता, हिन्दी-कार्यक्रम, आकाशवाणी, नई दिल्ली-१।
डॉ० बच्चनसिंह	प्राध्यापक,हिन्दी विभाग,हिन्दू विश्वविद्यालय,वाराणसी।
डॉ० गोपाल शर्मा	हिन्दी निदेशालय, प्रदर्शनी-क्षेत्र, मथुरा रोड, नई दिल्ली।
श्री भवानीप्रसाद मिश्र	सम्पूर्ण गान्धी वाङ्मय, ५४ सुन्दरनगर, नई दिल्ली ।
श्री भगवतीचरण वर्मा	आकाशवाणी, इलाहाबाद ।
डॉ० हरिवंशराय बच्चन	विशेषाधिकारी, हिन्दी अनुभाग, विदेश-मन्त्रालय, नई दिल्ली-१ ।
डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन'	प्रिन्सिपल, माधव कॉलिज, उज्जैन ।
श्री नरेश मेहता	९९-ए, लूकरगंज, इलाहाबाद ।
डॉ० कैलाश वाजपेयी	प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, गवर्नमेण्ट कॉलिज, मोतीबाग, नई दिल्ली ।
श्री उदयशंकर भट्ट	२४५-ई०, गवर्नमेण्ट क्वार्टर्स, देवनगर, नई दिल्ली-५ ।
डॉ० दशरथ ओझा	हिन्दी विभाग, स्नातकोत्तर (साध्य) शिक्षण सम्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-६ ।
डॉ० सुरेश अवस्थी	उपनिदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, दरियागंज, दिल्ली-७ ।
डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त	प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, स्नातकोत्तर (सान्ध्य) शिक्षण सस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली-६ ।
श्री महेन्द्र चतुर्वेदी	अनुवाद निदेशालय (दिल्ली विश्वविद्यालय), मॉडल-टाउन, दिल्ली-९ ।
प० भगवतीप्रसाद वाजपेयी	मंगलपुर ग्राम, जिला कानपुर ।
डॉ० श्रीनारायण अग्निहोत्री	अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पंजाब कृषि-विश्वविद्यालय, हिसार केन्द्र ।
डॉ० सत्यपाल चुघ	प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, करोड़ीमल कॉलिज, दिल्ली-६ ।
श्री यशपाल	विप्लव कार्यालय, लखनऊ ।

लेखक का नाम	पता
श्री अजित कुमार	प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, करोडीमल कॉलिज, दिल्ली-६।
श्री राजेन्द्र यादव	२९/१७, शक्तिनगर, दिल्ली।
श्री मुद्राराक्षस	नाटक-विभाग, आकाशवाणी, नई दिल्ली।
श्री सुदर्शन	३ सिल्वरटन, स्टेशन रोड, माहिम, बम्बई-१६।
श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार	सम्पादक सारिका, टाइम्स ऑफ इण्डिया बिल्डिंग, बम्बई-१।
डॉ० जगदीश गुप्त	प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
श्री विद्यानिवास मिश्र	संस्कृत विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी	हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
श्री शिवप्रसाद सिंह	हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
श्री विष्णुकान्त शास्त्री	हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता।
श्री रामचन्द्र शुक्ल	चित्रकला विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
डॉ० राय आनन्द कृष्ण	कलाभवन, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
डॉ० राधाकृष्णन्	भारत के राष्ट्रपति।
श्री रमेश वर्मा	जे-३, कृष्णनगर, दिल्ली-३।
डॉ० रामानन्द तिवारी	अध्यक्ष, दर्शन विभाग, राजकीय जया कॉलिज, भरतपुर।
डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी	प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, स्नातकोत्तर (सान्ध्य) शिक्षण-संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-६।
प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा	अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।
डॉ० सत्यदेव चौधरी	प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, स्नातकोत्तर (सान्ध्य) शिक्षण-संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-६।
डॉ० माताप्रसाद गुप्त	निदेशक, के० एम० विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।
डॉ० दशरथ शर्मा	अध्यक्ष, इतिहास-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-६।
डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया	प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ।
श्री अगरचन्द्र नाहटा	नाहटो की गवड, बीकानेर (राजस्थान)।
डॉ० भोलाशंकर व्यास	रीडर, हिन्दी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
श्री प्रभुदयाल मीतल	अग्रवाल प्रेस, डैम्पियर पार्क, मथुरा।
डॉ० शरणविहारी गोस्वामी	प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, दयालसिंह कालिज, लोदी रोड, नई दिल्ली।
डॉ० नगेन्द्र	अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-६।
डॉ० कन्हैयालाल सहल	वाइस प्रिन्सिपल, आर्ट्स कालिज, पिलानी (राजस्थान)।
श्री अमृतराय	हंस प्रकाशन, जीरो रोड, इलाहाबाद।

लेखक का नाम	पता
श्री प्रकाशचन्द गुप्त	अग्रेजी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
डॉ० धीरेन्द्र वर्मा	अध्यक्ष, भाषाविज्ञान विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर ।
डॉ० व्रजेश्वर वर्मा	निर्देशक, केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण सस्थान, गाधीनगर, आगरा।
डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी	हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
श्री चन्द्रकान्त बाली	गली बैल साहब, गन्दा नाला बाजार, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६।
डॉ० ओम्प्रकाश शर्मा	अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, दयालसिह कालिज, लोदी रोड, नई दिल्ली।
डॉ० मोतीचन्द्र	प्रिस आफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई।
डॉ० राजबली पाण्डेय	अध्यक्ष, प्राच्य विद्या विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर।
श्री जैनेन्द्र कुमार	पूर्वोदय प्रकाशन, दरियागज, दिल्ली।
डॉ० विजयेन्द्र स्नातक	रीडर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली-६।
डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त	हिन्दी विभाग, के० एम० मुशी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।
डॉ० तारानाथ बाली	हिन्दी विभाग, करोडीमल कालिज, दिल्ली।
डॉ० भरतसिह उपाध्याय	हिन्दी विभाग, हिन्दू कालिज, दिल्ली।
डॉ० वासुदेव उपाध्याय	प्राच्य विद्याविभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
डॉ० तारकनाथ अग्रवाल	हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता।
श्री पारसनाथ तिवारी	हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
प० कृष्णशकर शुक्ल	प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, हिन्दू कालिज, दिल्ली।
डॉ० प्रभाकर माचवे	यू० पी० एस० सी०, नई दिल्ली।
डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत	भारती भवन, सिविल लाइन्स, मुरादाबाद।
डॉ० निर्मला सक्सेना	हिन्दी विभाग, दौलतराम कालिज, दिल्ली।
डॉ० प्रेमनारायण टडन	हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
डॉ० रूपनारायण	प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, गवर्नमेण्ट कॉलिज, कीर्ति नगर, दिल्ली।
डॉ० सरनामसिह शर्मा	हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।
डॉ० रामदत्त भारद्वाज	प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, देशबन्धु गुप्ता कॉलिज, दिल्ली।
श्री कैलाशचन्द्र मिश्र	हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
डॉ० राजकुमार पाण्डेय	हिन्दी विभाग, बुद्ध डिग्री कॉलिज, कुशीनगर (देवरिया)।

लेखक का नाम	पता
डॉ० रामसागर त्रिपाठी	अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, श्यामलाल कालिज, शाहदरा, दिल्ली ।
डॉ० भाग्यवती सिंह	द्वारा हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।
डॉ० मनमोहन गौतम	प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, दिल्ली कॉलिज, दिल्ली ।
डॉ० मिथिलेश कान्ति	नेतरहाट विद्यालय, नेतरहाट द्वारा राञ्ची (बिहार) ।
डॉ० शिवकुमार मिश्र	हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर ।
डॉ० रामदरश मिश्र	हिन्दी विभाग, पी जी डी ए वी कॉलिज, नई दिल्ली ।
डॉ० जगदीशनारायण त्रिपाठी	हिन्दी विभाग, दुर्गा नारायण डिग्री कालिज, फतेहगढ (फर्रुखाबाद) ।
डॉ० दशरथ सिंह	नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ।
डॉ० देवीप्रसाद सनाढ्य	प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर ।
डॉ० कैलाश प्रकाश	प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग, इन्द्रप्रस्थ कॉलिज, दिल्ली ।
डॉ० रणवीर राग्रा	सहायक शिक्षा अधिकारी, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा मन्त्रालय, नई दिल्ली ।
डॉ० चण्डीप्रसाद जोशी	हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर ।
डॉ० पद्मसिंह शर्मा कमलेश	रीडर, हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।
डॉ० शकरदेव अवतरे	द्वारा, हिन्दी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
डॉ० प्रेमशकर	हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर ।
डॉ० वेंकट शर्मा	प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, गवर्नमेण्ट कालिज, अजमेर ।
डॉ० जयचन्द्र राय	प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, महानन्द मिशन कॉलिज, गाजियाबाद ।
डॉ० रामाधार शर्मा	द्वारा हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर ।
डॉ० बलभद्र तिवारी	हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर ।
डॉ० रमेशकुन्तल मेघ	प्राध्यापक, हिन्दीविभाग, पञ्जाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ ।
डॉ० ब्रह्मानन्द	प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, डूगर कॉलिज, बीकानेर (राजस्थान) ।
डॉ० सत्येन्द्र कुमार तनेजा	हिन्दी विभाग, हसराज कालिज, दिल्ली ।
डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय	प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, डिग्री कालिज, अलमोडा ।
डॉ० गुणानन्द उवाल	अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बरेली कॉलिज, बरेली ।
डॉ० सुरेन्द्र माथुर	हिन्दी विभाग, दयालसिंह कालेज, नई दिल्ली ।
श्री कुलभूषण	हिन्दी निदेशालय, प्रदर्शनी क्षेत्र, मथुरा रोड, नई दिल्ली ।
डॉ० [illegible]प्रकाश	रीडर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

उद्देश्य

१--इस पत्रिका का स्वरूप एकान्त आलोचनात्मक है।

२—हिन्दी वाङ्मय की वार्षिक प्रगति का आलोचनात्मक सर्वेक्षण एव मूल्याकन इसका उद्देश्य है।

३—सर्जनात्मक साहित्य के साथ-साथ शोध-साहित्य की गतिविधि का आकलन इसका विशेष दायित्व है।